* ओ३म् *

आर्यसमाज का इतिहास

[प्रथम भाग]

१८९० ई० तक

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के आदेशानुसार

इन्द्र विद्यावाचस्पति

ने लिखा तथा प्रकाशित किया।

मूल्य १)

इन्द्र विद्यावाचस्पति के प्रबन्ध से
अर्जुन प्रेस नया बाजार देहली में छपा।

प्रस्तावना।

श्रीमद्दयानन्दजन्मशताब्दी के उपलक्ष में यह तुच्छ भेंट ऋषि के चरणों में समर्पित है। पुस्तक का आशय नाम से स्पष्ट है, इसके लिखने का अधिकार किसी ऐसे व्यक्ति को ही था जो आयु विद्या और अनुभव में वृद्ध हो। मैंने जो यत्न किया है, वह दुस्साहसमात्र है, परन्तु आर्यसमाज के एक क्रमबद्ध इतिहास की इतनी अधिक आवश्यकता है, और वृद्ध जनों के हाथ सामाजिक कार्यों से इतने भरे हुए हैं कि बालक की यह अनधिकारचेष्टा आर्यजगत् में क्षन्तव्य समझी जा सकती है।

यह भाग १८६० ई० तक समाप्त हो जाता है। आशा है कि अगला भाग शीघ्र ही तय्यार हो कर पाठकों की सेवा में पहुंच जायगा।

इतना निवेदन करना आवश्यक प्रतीत होता है कि इस पुस्तक की सब भूलों का उत्तरदाता मैं हूं, कोई दूसरा नहीं है। यदि कोई भूल हो तो समालोचक महाशय मुझे ही दोषी ठहराय, अन्य किसी को नहीं।

भाषासम्बन्धी एक सूचना दे देना उचित है। इस पुस्तक में आर्यसमाज शब्द को उभयलिंगी मान कर प्रयुक्त किया गया है। यह शब्द भाषा में दोनों लिंगों में प्रयुक्त होता है। इस प्रसंग में लेखक ने लोकव्यवहार को व्याकरण से ऊंचा माना है।

इन्द्र

'इतिहास' की तैयारी का इतिहास

आर्यसमाज का इतिहास तय्यार कराने का विचार मेरे मन में उस समय से ही उठ रहा था जब मैं अपने जालन्धरवाले मकान में बैठकर आर्यसामाजिक साहित्य की सेवा के स्वप्न लिया करता था। सं० १९७४ वि० के आरम्भ में मैंने सन्यास आश्रम में प्रवेश किया। कुछ रोगों की निवृत्ति का उपाय करने के पीछे कुरुक्षेत्र गुरुकुल के स्थान में मैंने चातुर्मास किया। उसी समय में बैठे हुए मुझे आर्यसमाज का इतिहास लिखने की प्रेरणा की गई जिसे स्वीकार करके १७ भाद्रपद सं० १९७४ के सद्धर्म-प्रचारक में मैंने इस प्रकार घोषणा दी थी—

इतिहास की तैयारी का सङ्कल्प

' बहुत से सज्जनों के अनुरोध से मैंने यह निश्चय कर लिया है कि आर्यसमाज का इतिहास तय्यार कर देना मेरा पहला कर्तव्य है। पूरी आधी शताब्दी बीत गई जब कि सं० १९२४ वि० के कुम्भ पर हरिद्वार में सर्वमेध यज्ञ कर और केवल कौपीन मात्र धारण किए ऋषि ने गंगा के किनारे २ चलते हुए वेदों का पवित्र सन्देश सुनाना आरम्भ किया था। बम्बई में सबसे पहले समाज को स्थापित हुए भी ४२ वर्ष व्यतीत होगए हैं। आर्यसमाज के वृद्ध अनुभवी सेवक प्राय इस संसार को छोड़ रहे हैं, जो शेष हैं उनमें भी चलाचली का चक्र चल रहा है अतएव इतने बड़े गम्भीर काम के योग्य न होते हुए भी मैंने यह साहस किया है, जिसकी कृतकार्यता सर्वसाधारण (विशेषत अनुभवी आर्य पुरुषों) की सहायता पर निर्भर है।

समकालीन इतिहास लिखने का काम बड़ा कठिन तथा दुस्साध्य समझा जाता है, और है भी ऐसा ही। परन्तु मैंने फिर भी इस आशा पर कार्य आरम्भ किया है कि प्रथम तो मैं अपने व्यक्तित्व को जुदा रखकर निष्पक्ष भाव से आर्यसमाज का इतिहास लिखने की अवस्था में आगया हूं और यदि मैंने घटनाओं का ठीक परिणाम निकालने में कहीं ठोकर खाई तो उसे आनेवाले इतिहास लेखक सुधार लेंगे।

मेरे पास पहिले से ही बहुत सा इतिहास का मसाला जमा पड़ा है।"

इतना लिखकर आर्य-समाचार पत्रों की फाइलें और आर्य संस्थाओं की रिपोर्टें भेजने के लिये उनके प्रबन्धकर्त्ताओं को प्रेरणा करके यह घोषणा-पत्र समाप्त किया था।

फिर ७ आश्विन सं० १९७४ के प्रचारक में लिखा है कि इतिहास की सामग्री एकत्र करने के लिए मैं भिन्न भिन्न समाजों में भ्रमण कर रहा हूँ। अपनी गाड़ी का कार्यविभाग, दो मास के लिए, उसी समय मैं दे दिया था और उसमें यह लिखा था—

"प्रथम वैशाख सं० १९७५ से आर्यसमाज के इतिहास के लिखने के लिए मैं कुरुक्षेत्र गुरुकुल के भवन में या अन्य किसी स्थान पर, जहाँ सब सुविधाओं का प्रबन्ध हो सके, बैठ जाऊँगा। इतिहास के साथ २ प्रामाणिक दशोपनिषद् का भाषानुवाद तथा अंग्रेजी में भाष्य भी तय्यार होगा। दोनों की तय्यारी साथ २ चलेगी। यदि मुझे एक योग्य अंग्रेजी तथा आर्यभाषा जानने वाला लेखक मिल जाय और एक गुरुकुल का विद्वान् स्नातक, जो संस्कृत व्याकरण का अच्छा पंडित हो, सहायता के लिए रक्खा जाय तो पहिले तीन वर्षों में इतिहास तय्यार होकर प्रेस में जा सकेगा, और उसके एक वर्ष पीछे उपनिषद् भाष्य छपने के लिए तय्यार हो जायगा।

"यदि यह सहायता न मिल सकी तो मुझ अकेले को तय्यारी में ४ के स्थान में ६ वर्ष लग जायेंगे। मुझे तो दृढ़ संकल्प यह है कि यह दोनों काम अवश्य समाप्त करने हैं यदि परमात्मा आगे के लिए नीरोग जीवन प्रदान करे।

"निवास स्थान के चुनने में एक विचार प्रबल है—वह यह कि मकान के मालिक व्यक्ति या संस्था का मेरे विचार स्वातन्त्र्य पर कोई अधिकार न होगा।

"इतिहास मैं न्यायदृष्टि से, बिना किसी विशेष दल के पक्षपात के, लिखना चाहता हूँ। मेरी इस शर्त को मानकर जो आर्य महाशय या किसी आर्य संस्था के प्रबन्धकर्ता मुझ से पत्रव्यवहार करेंगे, उनमें से जहाँ मेरे काम के लिये पुस्तकालय तथा जल वायु की अनुकूलता द्वारा सुगमता होगी उसी स्थान को चुन लूंगा।"

इस विज्ञापन के छपने के पीछे मैंने पंजाब प्रान्त के मुख्य २ आर्यसमाजों में भ्रमण करना आरम्भ किया। इस कार्य में आर्यसमाजों के अधिकारियों ने मेरी बड़ी सहायता की और चारों ओर से लेखबद्ध इतिहास का मसाला आना प्रारम्भ होगया।

इस बार पत्रों की फाइलें भी पर्याप्त संख्या में आगईं और मैं कुरुक्षेत्र बैठकर कार्य आरम्भ करने ही लगा था कि आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान तथा गुरुकुल के आचार्य की ओर से मुझे प्रेरणा हुई कि कांगड़ी गुरुकुल में ही बैठकर मैं आर्य समाज का इतिहास लिखूं। इस पर १५ पौष सम्वत् १९६४ के प्रचारक में इस प्रकार समाचार छपा था—

"श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने शाखा गुरुकुल कुरुक्षेत्र में बैठकर इतिहास लिखने का निश्चय किया था किन्तु अब आर्यप्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा और गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता जी तथा आचार्य जी के आग्रह पर उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी में रहकर ही इतिहास लिखने का कार्य करने का विचार कर लिया है।"

इसके पश्चात् २१ पौष सम्वत् १९७४ के प्रचारक में मैंने लिखा था—

"अन्त को यही निश्चय हुआ कि गुरुकुल भूमि कांगड़ी में बैठकर ही इतिहास का तय्यारी की जाय। इतिहास की तय्यारी के लिए जो साहित्य सम्बन्धी सामग्री चाहिये वह सब स्थानों से बढ़कर यहां ही मिल सकती है। कुरुक्षेत्र से सब सामग्री यहां पहुंच चुकी है और मुरादाबाद में प० बृजनाथ जी को भी लिख दिया था कि जो सामग्री मैंने उन्हें दी थी, वह शीघ्र मेरे पास भेजदें। वह भी पहुंच गई है। ...

इतिहास का क्रम विस्तृत रूप से तो सारी सामग्री की पड़ताल करने के पीछे ही दिया जायगा परन्तु यहां संक्षेप से इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि आर्यसमाज के इतिहास को मैं ४ भागों में विभक्त करना चाहता हूं। पहिले भाग में, भूमिका रूप से, यह दर्शाने का यत्न होगा कि धर्म का ज्ञान पहिले पहिल कहां से फैला। इस विभाग में ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता जतलाकर और वेद को ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध करके, सृष्टि के आदि से लेकर ऋषि दयानन्द के वास्तविक कार्य आरम्भ करने तक सम्प्रदायों, मतों और दार्शनिक विचारों के इतिहास पर एक समालोचनात्मक दृष्टि डाली जायगी। प्रयत्न होगा कि पाठकों की समझ में आजाय कि ऋषि दयानन्द को अपने उद्देश की पूर्ति में किन २ विरोधी शक्तियों से युद्ध करना पड़ा। दूसरे भाग में ऋषि दयानन्द और उनके काम का वर्णन होगा। इस भाग में दयानन्द जी के चरित्रसंगठन पर विचार करते हुए उसके दार्शनिक विकास का इतिहास होगा, और दिखलाया जायगा कि संसार को उसकी शिक्षा का कितनी आवश्यकता थी। तीसर भाग में आर्यसमाजों के मन्तव्यों पर एक समालोचनात्मक दृष्टि डालकर बतलाया जायगा कि बिना परम प्रमाण (वेद) की शरण लिये मनुष्य समाज कितनी ठोकरें खाता रहा है और भविष्य में भी खायगा। इसी भाग में आर्यसमाज का आन्तरिक इतिहास होगा जिसमें उसकी आध्यात्मिक त्रुटियों को दर्शाकर आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि के उद्देश की पूर्ति का मार्ग निर्दिष्ट होगा। चौथे भाग में आर्यसमाज का बाह्य (प्राकृतिक) इतिहास होगा, जिसमें समाजों की उन्नति और अवनति का वर्णन करते हुए उसकी तुलना संसार के साम्प्रदायिक इतिहासों से की जायगी। इन चार भागों के अतिरिक्त एक परिशिष्ट भाग भी होगा जिसमें आर्यसमाज के विशेष कार्यकर्ताओं की संक्षिप्त जीवनियों के साथ ही अन्य विशेष घटनाओं को स्थान मिलेगा, जो प्रथम चार भागों में विस्तारपूर्वक नहीं दिए जा सकेंगे।

ऊपर का विषय क्रम देखकर आर्य पुरुष समझ जायेंगे कि मुझे किस प्रकार के वृत्तान्तों की आवश्यकता है ।"

इसके पश्चात् गुरुकुल कांगड़ी में बैठकर मैंने आर्यसमाज के समाचार पत्रों के पुराने फाइल, आर्यसमाजों से आये वृत्तान्त और मत मतान्तरों तथा दार्शनिक विचारों के इतिहास पढ़ने आरम्भ कर दिये । गुरुकुल कांगड़ी के वार्षिकोत्सव तक, जो १६ चैत्र सम्वत् १९७४ से आरम्भ हुआ, मैंने बड़े छोटे लगभग ३२ हजार पृष्ठ पढ़ लिये थे और इसीलिये मैंने २१ माघ सं० १९७४ के सद्धर्म-प्रचारक में लिखा था —

"मैंने 'ब्रह्मचर्य तथा विद्यार्थी जीवन' पर सब से पहिले पुस्तक छपवाने की प्रतिज्ञा की थी परन्तु इतिहास के लिये पुस्तकें तथा समाचार पत्र पढ़ते हुए विदित हुआ कि साथ के साथ लिखते जाने से उन्हीं पृष्ठों को दोबारा देखने में समय नष्ट न करना पड़ेगा और काम भी सन्तोषजनक होगा । इस लिए अब सारा समय आर्यसमाज के इतिहास की तय्यारी में ही व्यय करता हूं, जब इतिहास पूरा लिखा जाकर तय्यार हो जायगा तब किसी अन्य पुस्तक को हाथ लगाऊंगा ।

"बहुत से सज्जन इतिहास की लेखन शैली के विषय में अपनी २ सम्मतियां लिख कर भेजते हैं और साथ ही आशा रखते हैं कि मैं उक्त विषय में उनके साथ लेख-बद्ध वादानुवाद करूं । ऐसे सज्जनों को एक बार ही सूचना देता हूं कि उन सबके उपदेशों को, इतिहास लिखते समय, पढ़ लूंगा, परन्तु वादानुवाद के लिये मेरे पास समय नहीं है । जैसी मेरी बुद्धि, जितनी मेरी मानसिक योग्यता और जितना अन्य बल है वह सभी इस ग्रन्थ की तय्यारी में लगाऊंगा, परन्तु अपनी मानसिक स्वतन्त्रता को बेचने के लिये तय्यार नहीं हूं । आगे के लिये भी जो सम्मतियां आवेंगी उनका मान करूंगा, परन्तु लिखूंगा स्वतन्त्रता पूर्वक आत्मा की ध्वनि के अनुकूल ही ।"

लिखना आरम्भ करने को तय्यार ही था कि मुझे बिजनौर जाना पड़ा । वहां गढ़वाल के भीषण दुर्भिक्ष का हाल मालूम हुआ । उस समय बिजनौर में एक पहाड़ी कुमारी कन्या को धोखा देकर भगा लाने का मुकद्दमा, एक मुसलमान रईस और उसके साथियों पर, चल रहा था । मुझे बतलाया गया कि इस अवसर पर जहां विधर्मी मुसलमान आर्य देवियों के सतीत्व पर आक्रमण करने का यत्न करेंगे वहां ईसाई भी अपनी खेप भरने की चिन्ता में लगे हुए हैं । गुरुकुल भूमि में लौटते ही मैंने समाचार पत्रों में अपील भेजी और स्वयं सेवकों के एक दल को धन और अनाज सहित गढ़वाल के मुख्य स्थान की ओर रवाना कर दिया और ३ मई सन् १९१८ को स्वयं भी उसी ओर चल दिया । इतिहास की तय्यारी धरी धराई रह गई ।

अगस्त १९१८ के अन्त में मैं गुरुकुल लौट आया। अपनी नोट बुक सामने रख कर भूमिका बांधने की सोच में था कि धौलपुर के आर्यसमाज-मन्दिर के मामले को सुलझाने के लिये मुझे उधर बुला लिया गया। लगभग एक महीना उधर लगा, जिसके पीछे अक्तूबर १९१८ ई० के आरम्भ में गुरुकुल भूमि के अन्दर भी इन्फ्लुएन्ज़ा रोग का प्रकोप फूट निकला। मुख्याधिष्ठाताजी वहां थे नहीं, आचार्य जी के यहां बीमारी ने हमला किया इसलिये वह ब्रह्मचारियों में घूम नहीं सकते थे। १॥ महीने तक मैं इसी काम में लगा रहा। यथाशक्ति उस आपत्ति के समय में सेवा करता रहा और गुरुकुल निवासियों की कुछ उलझनों को भी सुलझाया। कुछ समय पीछे मैं दिल्ली चला आया, दिल्ली में अपना नया बनाया मकान सेठ रघुमलजी मुझे निवास के लिये दे चुके थे, जिसमें अबतक रहता हूं। सब सामान दिल्ली को भेज दिया और नवम्बर १९१८ के अन्त में आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने के पीछे मैं स्वयं दिल्ली पहुंच गया।

दिल्ली में फिर वही विघ्न।

मैंने अभी सब सामान दुरुस्त किया ही था कि इण्डियन नैशनल कांग्रेस की बैठक के दिन आगये। उस अवसर पर बहुत से ऐसे सज्जन आये जिनकी आवभगत में कोई अन्य कार्य न होसका। जनवरी सन् १९१९ में फिर नियम पूर्वक कार्य प्रारम्भ किया। इतिहास सम्बन्धी कुछ स्फुट लेख लिखे और अन्य पुस्तकों की भी तय्यारी आरम्भ कर दी थी कि महात्मा गांधी के सत्याग्रह-आन्दोलन ने मुझे उधर खींच लिया। जनवरी सन् १९२० के अन्त तक दिल्ली और पञ्जाब के मार्शल ला के पीड़ितों की सहायता करते बीता। उसके बाद गुरुकुल कांगड़ी के हितैषियों ने फिर से गुरुकुल का चार्ज लेने को बाधित किया। मुझे बतलाया यह गया था कि यदि मैंने गुरुकुल का चार्ज न लिया तो गुरुकुल के सामयिक आचार्य उसे छोड़ जायगे और गुरुकुल की इतिश्री होजायगी। फिर सब सामान बांधकर गुरुकुल में जा पहुंचा और इतिहास का मसाला मेजों पर फैला दिया। वहां अवस्था ऐसी थी कि नित्य १४ घण्टे निरन्तर लगे रहने पर भी कठिनाई से गुरुकुल का काम समाप्त कर पाता था। कारण यह कि मुख्याधिष्ठाता और आचार्य का काम करते हुए मुझे कभी कभी ४ वा ५ अन्तर नित्य पढ़ाना पड़ता और सहायक मुख्याधिष्ठाता न होने के कारण बाहर की भी सब देखरेख मुझे ही करनी पड़ती।

अपने स्थानापन्न का चुनाव।

इस समय तक दो तानवार मुझे निश्चय होगया था कि मैं अब आर्यसमाज का

इतिहास अपने हाथ से नहीं लिख सकूगा। जब कभी इस प्रकार निराश होता तो मेरी दृष्टि केवल दो आर्य पुरुषों पर पड़ती। एक पण्डित घासीराम एम०ए० वकील मेरठ और दूसरे पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति। मैंने देख लिया था कि इन दोनों ने जहां आर्य सिद्धान्तों को भली प्रकार समझा हुआ है वहां ऋषि दयानन्द के जीवन का भी गहरा स्वाध्याय किया है। अन्य प्रकार से भी मैं इन्हीं को इतिहास लिखने के सर्वथा उपयुक्त समझता रहा और समझता हूं। जब सन् १९२१ ई० के आरम्भ में मैं बीमार होकर ३॥ महीने चारपाई पर पड़ा रहा, तब एक दिन बहुत गरम जल से स्नान करते हुए ऐसी मूर्च्छा आगई थी कि जीवन की आशा नहीं रही थी। उस समय मैंने एक वसीयत लिखी थी जिसके द्वारा आर्यसमाज के इतिहास लिखने का भार इन्हीं दोनों विद्वानों पर डाला था।

रोगग्रस्त होने के समय ही मैंने गुरुकुल के कार्य से त्याग पत्र दे छोड़ा था परन्तु उस बन्धन से मुक्ति शायद अक्टूबर १९२१ में मिली, तब फिर इतिहास की सारी सामिग्री सन्दूकों में भरकर दिल्ली लाई गई। परन्तु कुछ काम ऐसे पीछे लग गये थे जिनको बिना सुलझाये निश्चिन्त होकर लेख के काम के लिये बैठ नहीं सकता था। पर्यंगी सन् १९२२ के अन्त में उन सबसे छुटकारा मिला और मैंने फिर से पुराना मसाला देखना प्रारम्भ किया। उस समय पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति भी गुरुकुल से अलग होकर दिल्ली आगये थे। मैंने उनको सब कुछ समझाना आरम्भ कर दिया और उन्होंने पुरानी फाइलें देखनी भी शुरू कर दीं। १० सितम्बर सन् १९२२ ई० के दिन अकाली दल के शान्तमय असहयोग की प्रशंसा करने पर मुझे अमृतसर जेल में भेज दिया गया, जहां से १ वर्ष की सादी सजा देकर मेरा चालान मियांवाली जेल को होगया। दिसम्बर मास के तीसरे सप्ताह में पञ्जाब गवर्नमेंट ने यह निश्चय किया कि अकाली सत्याग्रह में ५० वर्ष की आयु से ऊपर के सब बंदी छोड़ दिये जाय। उसीके अनुसार मुझे २६ दिसम्बर सन् १९२२ को छोड़ दिया गया और २९ दिसम्बर को मैं दिल्ली पहुंच गया।

शुद्धि और हिन्दू सगठन।

हिन्दू संगठन की आवश्यकता मुझे जून सन् १९२२ ई० में ही अनुभव होगई थी, इसलिये उसके एक अंश, अर्थात् दलित जातियों के उद्धार, के लिये मैंने अपील कर दी। यह विचार अभी बीच में ही था कि शुद्धि-कार्य ने मुझे खींच लिया। १५ फर्वरी सन् १९२३ से उसी काम में लगा रहा, फिर अप्रैल सन् १९२३ के मध्य भाग से अगस्त मास तक हिन्दू सभायें बनाने और हिन्दू महासभा के लिये प्रतिनिधि चुनवाने

के काम में लगा रहा। तब प० इन्द्र ने मुझे फिर कहा कि मैं ही आर्यसमाज का इतिहास लिखूं। परन्तु साथ ही मेरे नियत किये हुए पहले दो भागों को अपनी योग्यता और समझ के अनुसार लिखकर मेरे सामने रख दिया। उस समय दैनिक "अर्जुन" को चलते कुछ महीने होचुके थे और इसलिए प० इन्द्र इतिहास के कार्य से बचना चाहते थे।

मैंने फिर निश्चय किया कि तीसरे भाग से मैं ही लिखना आरम्भ कर दूं, परन्तु उस समय कोकोनाडा कांग्रेस में अपना भाषण पढ़ते हुए मौलाना मुहम्मद अली ने अपने किसी मुसलमान मित्र की प्रेरणा से छः करोड़ अछूतों को हिन्दू मुसलमानों में आधोआध बांटने का प्रस्ताव पेश कर दिया। इसपर आर्यसमाज के विद्वानों ने मुझे प्रेरणा की कि इस षड्यन्त्र को तोड़ने का काम मैं अपने ऊपर लूं। तब मैंने प० घासीराम को इतिहास लिखने का काम अपने जिम्मे लेने को कहा परन्तु मुझ से दूर मेरठ में रहते हुए उनके लिए काम करना सुगम न था और साथ ही जब मैंने देखा कि इस काम में उनको फंसाने से अन्य पुस्तकों की तय्यारी में भी बाधा पड़ेगी जो वह लिखकर छपवा रहे थे तब मैंने उनसे अधिक आग्रह नहीं किया और यह काम फिर पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति के सुपुर्द कर दिया।

प्रथम भाग तय्यार होगया।

आर्यसमाज के इतिहास का प्रथम भाग जिसमें प्रारम्भिक दो विषयों के अतिरिक्त आर्यसमाज के बाह्य इतिहास के भी थोड़े अंश का समावेश होगया है, सर्व साधारण के सामने प्रस्तुत है। जब किसी समाज का इतिहास पहिले पहिल लिखा जाता है तब उसमें बड़ा कठिनाई यह पड़ती है कि यदि संकोच से काम लिया जाय तो मुख्य और गौण घटनाओं में भेद करना पड़ेगा और यदि किसी घटना को भी न छोड़ा जाय और भाषा को खुली छुट्टी दे दीजाय, तो पुस्तक का आकार बहुत बढ़ जायगा। इस पुस्तक की लेखशैली में एक विशेष गुण यह मालूम होता है कि लम्बी घटनाओं को थोड़े शब्दों में वर्णन करते हुए उसके प्रधान भाव को लुप्त नहीं होने दिया। भाषा ओजस्विनी और साथ ही सर्वप्रिय होने के कारण जहां सर्वसाधारण के लिये यह पुस्तक रुचिकर होगी वहां आर्य समाज के कार्यकर्ताओं को भी सेवा का सीधा मार्ग दिखायगी।

पुस्तक का क्रम, मेरे प्रस्तावित क्रम से, कुछ बदला हुआ है, परन्तु यह परिवर्तन मेरी अनुमति से ही हुआ है। दूसरे भाग में बाह्य इतिहास को वर्तमान समय

तक पहुंचाकर तब ऋषि दयानन्द की निर्देश की हुई सिद्धान्तमाला का तत्त्वान्वेषण किया जाय जिससे आर्यसमाज को अपनी त्रुटियों का पूरा ज्ञान होगा और तब भविष्यत का मार्ग अपेक्षया अधिक सुगम हो जायगा।

कहा जायगा कि यदि मैं आर्यसमाज का इतिहास स्वयं लिख सकता तो अपने अनुभव से उसे अधिक पूर्ण बना सकता। परन्तु प्रथम तो इस समय मेरे शरीर और इन्द्रियों की ऐसी अवस्था नहीं कि पुराने पत्रों और लेखों की पड़ताल कर सकूं, और दूसरे जिस ऐतिहासिक नाट्यशाला में किसी व्यक्ति ने स्वयम् एक नट का स्थान लिया हो, उसके लिये वैय्यक्तिक पक्षपात से बचना कठिन हो जाता है। यद्यपि जब पहले पहल मैंने आर्यसमाज का इतिहास तय्यार करने का सङ्कल्प किया था उस समय अपनी निष्पक्षता पर मुझे भरोसा था, परन्तु बीच में ऐसी घटनायें आ चुकी हैं जिनके कारण इन के प्रभाव से मुक्त युवा के हाथ में ही यह काम देना उचित प्रतीत हुआ। मेरे जो विशेष अन्तराय अनुभव हैं उन के प्रकाशन के लिये कोई और साधन निकल आवेगा।

इस बार छपाई के साधनों में त्रुटि के कारण बहुत कुछ उन्नति के लिये स्थान शेष रह गया है जो आशा है कि दूसरे संस्करण में पूरा हो जावेगा।

श्रद्धानन्द सन्यासी

पहला परिच्छेद।

धर्म का मूल स्रोत।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रे ऽ प्रकेत सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपस स्तन्महिना जायतैकम्॥

ऋग्वेद।

यह सब जगत् सृष्टि से पहले अन्धकार से आवृत, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य, आकाशरूप सब जगत् तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमेश्वर के सन्मुख एक देशी आच्छादित था। पश्चात परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारणरूप से कार्यरूपकर दिया। दयानन्द।

'And the earth was without form and void and darkness was upon the face of the deep' बाइबिल।

'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्' मनु०।

यह सब की मानी हुई बात है कि सृष्टि के आरम्भ में अँधेरा था। केवल आखों के लिये ही अँधेरा नहीं था, सभी तरह से अँधेरा था। आख नहीं थी, न सूर्य था, और न ही वह चीजे थीं जो देखी जाती हैं। न बुद्धि थी, न बुद्धि को रास्ता दिखाने का साधन था, और न बुद्धि से जानने योग्य पदार्थ थे। न तीर, न कमान, न लक्ष्य। तब चले क्या? और लगे किस पर? बस, इसी दशा का नाम अँधेरा है। सृष्टि रचना से पूर्व ससार की यही दशा थी।

धीरे धीरे सृष्टि की रचना हुई। सभी आस्तिक मानते हैं कि सृष्टि की रचना मे जो इच्छा शक्ति काम करती थी, वह ईश्वर की थी। इस इच्छाशक्ति का नाम तत्त्वदर्शियों ने "ईक्षण" रक्खा है क्योंकि मनुष्य की तरह यह इच्छा सीमित नहीं है। नास्तिक लोग, जिनकी सख्या कम, परन्तु आवाज बड़ी है, कहते हैं कि सृष्टि स्वय ही बन गई। उसके बनाने के लिये किसी इच्छाशक्ति रखने वाले की आवश्यकता नहीं थी। इस स्थान पर हम उनसे बात चीत नहीं करना चाहते, क्योंकि बात चीत करने की पहली शर्त अभी

तक पूरी नहीं हुई। पहली बात यह है कि वह रचना बिना कारीगर या इच्छाशक्ति के बना हुआ महल, या बिना जुलाहे की इच्छाशक्ति के तय्यार किया हुआ कपड़ा दिखा दें। जब तक नास्तिक ऐसे दो भी दृष्टान्त नहीं दिखा सकते तब तक वादानुवाद प्रारम्भ करना व्यर्थ है।

ईश्वर की इच्छाशक्ति से सृष्टि की रचना हुई। उस इच्छाशक्तिवाले की ज्ञानशक्ति भी अद्भुत होगी। यह अनन्त विस्तार वाला ब्रह्माण्ड और अद्भुत संसार उसमें साक्षी है। देखिए उसका चमत्कार, कि यदि उसने मनुष्य की आंख पैदा की तो साथ ही उसका सहायक सूर्य भी बनाया। आंख देख सकती है, परन्तु सूर्य के बिना नहीं। सूर्य या सूर्य का कोई प्रतिनिधि, आंख, और देखने योग्य वस्तु, ये तीनों मिलकर अपनी अपनी क्रिया करते हैं, तब देखा जाता है। तीनों में से कोई भी सार्थक नहीं हो सकता जब तक शेष दो उपस्थित न हों। यही बस जगत् के बनानेवाले की प्रतिभा का अद्भुत चमत्कार है कि आंख दी, तो रोशनी के सामान साथ उपस्थित किये, बच्चे को स्वयं चलने फिरने में अशक्त बनाया, तो माता के स्तनों में दूध दे दिया, और वह मातृस्नेह दिया जो बच्चे की सब निर्बलताओं को पूरा कर देता है।

जिस अद्भुत इच्छा और प्रतिभा के भण्डार ने संसार बनाई, उसी ने मनुष्य को बुद्धि प्रदान की, जिसका दूसरा नाम 'अन्दर की आंख' है। यह नाम यों ही कल्पना नहीं कर लिया गया, इसका बहुत गहरा कारण है। हम व्यवहार में दोनों को बहुत समान देखते हैं। आंख, मनुष्य का, बाह्य वस्तुओं के परखने का मुख्य साधन है, शेष इन्द्रियां उतना महत्त्व नहीं रखतीं। आंख रोशनी की सहायता के बिना कुछ नहीं कर सकती, निरुद्देश्य निकम्मी रहती है। इसी प्रकार मनुष्य की बुद्धि का विस्तार करने के लिए पुस्तक, पुस्तकालय, अध्यापक, विद्यालय, कालिज, यूनिवर्सिटी, और अन्वेषणशालाओं की आवश्यकता होती है। बुद्धि सहायता के बिना निकम्मी हो रहती है। किसी समय और किसी जाति को देखिये, आप कहीं भी यह न पायेंगे कि मनुष्य ने बिना सिखाये शस्त्रविद्या या शास्त्रविद्या सीख ली हो। ऐसे दृष्टान्त पाये जाते हैं, जहां सिखाये बिना बालक समझना और बोलना तक नहीं सीखे। मनुष्य की बुद्धि उन्नति कर सकती है परन्तु बिना आधार के नहीं। बीज रूप से शिक्षा मिल जाने पर बुद्धि द्वारा उसका महावृक्ष बनाया जा सकता है, परन्तु बीज अवश्य चाहिए। यदि यह न होता तो वर्तमान सन्तति शिक्षा पर इतना बल न देती। मनुष्य की बुद्धि बहुत कुछ कर सकती है, वह पहाड़ों को चीर सकती है, वायु और आग को वश में कर सकती है, परन्तु असम्भव को सम्भव नहीं बना सकती, नाक का काम उत्पन्न नहीं कर सकती, और बिना सहायता के देख नहीं सकती। नित्य का व्यवहार इसमें साक्षी है।

यही कारण है कि जिस जगत्पिता ने सृष्टि के आदि में मनुष्यों को सोचने की शक्ति दी, उसी ने सोचने का सहायक वाक्सम्बन्धी ज्ञान भी दे दिया। आज बालकों के गुरु अध्यापक लोग बनते हैं, उस समय बाल सृष्टि का गुरु वह आदिगुरु बना, जिस के बारे में महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में कहा है कि वह पूर्वों का भी गुरु है, उसपर समय का बन्धन नहीं है *। वेद में उसे 'कवि' कहा है, और साथ ही कवियों का बनाने वाला 'कविक्रतु' कहा है। वह ज्ञान परोक्ष के देखनेवालों का गुरु है ‡। आदि गुरु होने से ही बायबल में उसे 'शब्द' या word कहा है। ×

हम इस परिणाम पर तो पहुंच गये हैं कि सृष्टि के आरम्भ में पहले मनुष्य या मनुष्यों की बुद्धि के लिये ऐसे सहायक की आवश्यकता थी, जो बीज रूप से ज्ञान दे सके, हम यह भी देख चुके कि उन सब प्रारम्भिक मनुष्यों के सिवा किसी की ज्ञान-शक्ति और इच्छाशक्ति थी तो परमात्मा की थी, इसलिये परमात्मा को ही मनुष्य जाति का आदिगुरु मानना चाहिये, परन्तु इतने पर भी यह न सोच लेना चाहिये कि हम सरते छूट गये। मनुष्य की विशाल बुद्धि यदि ईश्वर की सिद्धि में "कुसुमाञ्जलि" लिख सकती है तो वह जगत् के खण्डन में खण्डनखण्डखाद्य भी लिख सकती है। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध लेखक जेम्स स्टुअर्ट मिल इलहाम की असत्यता प्रकट करते हुए कई प्रश्न उठाते हैं। उनमें से सब से बड़ा प्रश्न यह है कि क्या सृष्टि के आदि में परमात्मा ने मनुष्यों को मुख द्वारा उपदेश दिया? कहना पड़ेगा कि नहीं, क्योंकि परमात्मा के भौतिक मुख नहीं है। तब दूसरा प्रश्न यह होता है कि उपदेश कैसे दिया? या इस प्रश्न को इस प्रकार रख सकते हैं कि मनुष्य को ईश्वरीय ज्ञान का इलहाम किस प्रकार हुआ? क्या जिस प्रकार व्यवहार में गुरु शिष्यों को उपदेश देता है? ऐसे तो परमात्मा उपदेश दे नहीं सकता। तब यह मानना पड़ेगा कि परमात्मा ने मोजजा किया, चमत्कार किया, आश्चर्यकर्म से मनुष्य को ज्ञान प्राप्त हो गया। इस पर तीसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि "क्या संसार में मोजजे होना सम्भव है?"

जिस समय यह प्रश्न उठाया गया था, उसमें कुछ बल था, क्योंकि उस समय अध्यात्म विद्या ने परीक्षण द्वारा अपनी सत्यता सिद्ध नहीं की थी, परन्तु अब दशा बहुत बदली हुई है। अब योरप में अध्यात्म शास्त्र के बहुत से परीक्षण हुए हैं, और परिणाम में मेस्मरिज्म और हिप्नाटिज्म आदि वैज्ञानिक सचाइयों का आविर्भाव हुआ है।

* स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। योग

‡ अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। ऋग्वेद।

× In the beginning was the Word, and the Word was with God, and the word was God (St John-New Testament ch 1 Verese 1)

यह सिद्ध हो चुका है कि एक मनुष्य अपनी प्रबल इच्छाशक्ति के प्रभाव से दूसरे मनुष्य को यथेष्ट ज्ञान दे सकता है और यथेष्ट कार्य करवा सकता है। किन्तु महर्षि के समय में यह मोजजा था, आज यह वैज्ञानिक सचाई है। जब एक साधारण मनुष्य अपनी इच्छा शक्ति के बल से यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करवा सकता है तो क्या अनन्त शक्ति वाला परमात्मा अपनी प्रबल इच्छाशक्ति के बल से ज्ञान नहीं दे सकता? इसमें आज कुछ भी मोजजापन दिखाई नहीं देता।

यहां एक और विचार उपस्थित कर देना अनुचित न होगा। संसार में हम कार्य-कारण की अटूट शृंखला देखते हैं। जो आदमी पत्थर सिर पर मारता है, उसका माथा फट जाता है। जो आग में हाथ देता है, वह हाथ जला बैठता है। क्या जड़ और क्या चेतन, सभी में कार्य कारण भाव दिखाई देता है। मनुष्य की भली बुरी चेष्टाओं के प्रसंग में इस कार्य-कारण शृंखला का नाम 'पाप पुण्य' व्यवस्था है। जो निरन्तर झूठ बोलता है, उसका विश्वास उठ जाता है, जो इन्द्रिय भोग में अधिक फंसा रहता है और संयम से नहीं रहता वह शारीरिक तथा दिमागी शक्तियों को खो बैठता है, जो आवश्यकता से अधिक खा लेता है, उसके पेट में दर्द हो जाता है, इत्यादि सब दृष्टान्त सिद्ध करते हैं कि संसार में कुछ व्यापी नियम हैं, जो अटल हैं। यदि कोई दो एक अपवाद मिलते हैं तो वह नियम की पुष्टि ही करते हैं। कुछ नियम हैं जिनके अनुसार मनुष्यों को सुख दुःख प्राप्त होते हैं, अटकल से नहीं। जो संसार का अधिष्ठाता है, वह नियम बनाता और नियमों के अनुकूल संसार को चलाता है। वह बुरों को बुरा और भलों को भला फल देता है। यह उसका नियम है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या कोई अच्छा राजा अपने राज्य के नियमों को गुप्त भी रख सकता है? यदि कोई राजा प्रजा को यह तो न बतावे कि चोरी करनेवाले को कैद का दण्ड मिलेगा पर चोर को कैद में भेज दे तो क्या चोर उसे अन्यायी राजा न कहेगा? हरएक राजनियम, जिसके अनुकूल प्रजा को सुख दुःख मिलते हैं, प्रकाशित होना चाहिये। यदि कोई आदमी थोड़ा सा भी यत्न करे तो उसकी पहुंच में होना चाहिये। सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों की सृष्टि हुई—तब भी उन्हें अच्छे बुरे कर्मों के अच्छे बुरे फल मिलते थे। क्या उस समय संसाररूपी राज्य के राजनियम प्रकाशित नहीं हुए थे? यदि हुए थे तो प्रश्न यह उठता है कि वह किस रूप में प्रकाशित हुए थे? दूसरा पक्ष माना जाय तो परमात्मा को अन्यायी और अत्याचारी राजा मानना पड़ेगा, क्योंकि जो राजा यह नहीं बताता कि

कौन २ से कर्म बुरे हैं, जिनका दण्ड मिलता है और दण्ड देने को तय्यार है। जाता है, उसे सिवाय अन्यायी और अत्याचारी के कुछ नहीं कह सकते।

इस सारे तर्क का परिणाम यह निकलता है कि सृष्टि के आरम्भ में एक नियम समूह का होना आवश्यक है। मनुष्य की बुद्धि बिना सहायक के स्वयं ही सब कुछ उद्भावित नहीं कर सकती। यह ज्ञान, जो सृष्टि के आदि में मनुष्यों को ईश्वर की ओर से प्राप्त हुआ, धर्म का मूल स्रोत है। वह मूल स्रोत कौन सा है?

हमारा उत्तर है कि ऋगादि वेदों की संहितायें ही धर्म के मूलस्रोत हैं। वह क्यों?

(१) धर्म का मूल स्रोत वही हो सकता है जो सृष्टि के आरम्भ में हुआ हो। अन्य कोई भी धर्म पुस्तक सृष्टि के आरम्भ में होने का दावा नहीं करती। पारसियों की धर्म पुस्तक "जिन्दावस्था" को बने लगभग ३८०० साल हुए हैं। डा० होग उसके समय को पीछे ले जाते हैं तो ४१०० सालों से अधिक पीछे नहीं ले जा सकते। पंटाट्यूक (Pontatuech) को बने ३२६० साल हुए हैं। 'बाइबिल' का समय अधिक से अधिक १९२४ समझा जा सकता है, यद्यपि इसमें सन्देह है कि बाइबिल का कोई भी भाग क्राइस्ट के समय में बन गया था। 'कुरान' को बने १४५० साल से अधिक नहीं हुए, कम ही हुए हैं। यह ईश्वरीय ज्ञान होने के अन्य उम्मेदवारों की दशा है पर वेदों की दशा दूसरी ही है। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि वेद इन सबसे पुराने हैं। मैक्समूलर ने बहुत समय पूर्व कहा था कि 'वेद हमारे लिए मनुष्य बुद्धि के सब से पुराने परिच्छेद को दिखाने वाला है।"

जिस समय यह शब्द लिखे गये थे तब से आज तक किसी नाम लेने योग्य विद्वान् ने इस उक्ति का खण्डन नहीं किया है। यह सर्वसम्मत बात है कि संसार के पुस्तकालय में वेद सब से प्राचीन पुस्तकें हैं। सृष्टि के आदि में होने के और सब उम्मेदवार वेदों के सामने ढीले पड जाते हैं।

(२) ज्यों २ खोज गहराई में जा रही है, त्यों २ वेद का समय पीछे ही पीछे चला जाता है। हम नीचे एक तालिका देते हैं जिससे पता लगेगा कि वेद का समय किस प्रकार पीछे ही पीछे चलता जा रहा है।

[illegible]

नाम	[illegible]		[illegible]	
मुसलमान	८०० वर्ष ई० पू०		१५०० वर्ष ई० पू०	
[illegible]	१३००	"	२०००	"
बौद्ध	१६००	"	३०००	"
[illegible]	२५००	"	४०००	"
[illegible]	"	"	"	"
[illegible]	"	"	"	"
[illegible]	"	"	६०००	"
[illegible]	"	"	८०००	"
पारसी	२४०,०००	"	६,०००,०००,०००	

इस प्रकार हम देखते हैं कि [illegible] पहले ही [illegible] नहीं हैं, [illegible] हैं, [illegible] भी पुराने हैं।

(२) और कोई भी धर्मपुस्तक सृष्टि के आदि में होने का दावा नहीं करता। केवल वेद ही इसका दावा करते हैं। वह अपनी उत्पत्ति सृष्टि के आदि में ईश्वर से बताते हैं,—देखिये —

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

ऋक्० १०।९०।९
यजु० ३१।७।

उस सर्वपूज्य परमात्मा से ऋक, साम, अथर्व और यजु उत्पन्न हुए।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्॥
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।

अथर्व १०।२३।४।२०

जिस जगदाधार परमात्मा से ऋक्, यजु, साम और अथर्व उत्पन्न हुए हैं, उसके यथार्थ स्वरूप को कहो।

ऊपर तीन वेदों के दो मन्त्र दिये गये हैं। पहला मन्त्र दो वेदों में समानरूप से आया है। यह सृष्टि प्रकरण में है। सृष्टि के आरम्भ की शेष रचना के साथ वेदों के

आविर्भाव का भी कथन है। ऐसी स्पष्टता और सीधे तौर पर किसी भी दूसरी धर्म पुस्तक ने (१) सृष्टि के आदि में होने और (२) परमात्मा से उत्पन्न होने का दावा नहीं किया। धर्म का मूल स्रोत वह हो सकता है जो सृष्टि के आदि में हुआ हो या कम से कम और सब से पुराना हो, इस स्थान का एक ही उम्मेदवार है और वह 'वेद' है।

इस स्थान पर वेद, इञ्जील, कुरान आदि की तुलना या सापेक्षक आलोचना करना व्यर्थ और अप्रासंगिक है। हमें केवल उस इतिहास शृंखला की पहली कड़ी देखनी है, जिसकी अन्तिम कड़ी आर्यसमाज है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि उस शृंखला की पहली कड़ी 'वेद' है। संसार के इतिहास में कोई भी ऐसी धर्म पुस्तक नहीं जो प्राचीनता में वेद का सामना कर सके। ऊपर जो सबूत दिये गये हैं उन से यही प्रतीत होता है कि वेदों का आविर्भाव उसी समय प्रारम्भ हुआ जब आर्यजाति का प्रारम्भ हुआ परन्तु यदि इस स्थापना को कोई अस्वीकार करे तो भी उसे इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वेद संसार के धर्मरूपी भवन की पहली ईंट है। आगे हम दिखलायेंगे कि वही उस भवन की आधार भूत ईंट भी है।

दूसरा परिच्छेद

स्रोत का फैलाव।

चिरकाल तक वेदसंहिताओं का जाप, और उनके अनुसार शासन ही प्रधान रहा। हिमालय की ऊंची चोटियों और गहरी कन्दराओं में वेदमन्त्रों का अनुशीलन और मनन होता रहा। वह समय धन्य था, क्योंकि उस समय धर्म अपने सादे और सात्त्विक रूप में विद्यमान था। लम्बे २ व्यर्थ क्रियाकलापों और पेचदार सिद्धान्तों की उस समय न सत्ता थी और न आवश्यकता थी। वह धर्म का स्रोत, जिस से उस समय की प्रजा जलपान करती थी शुद्ध और निर्मल था।

परन्तु सदा वह दशा न रही। वह स्रोत फैलता हुआ आर्य जाति के साथ चारों ओर फैलने लगा। वह भिन्न जातियों में और भिन्न भूमियों में से होकर निकला, जहां उनकी प्यास बुझाता गया, वहां साथ ही साथ उनकी विशेषताओं से प्रभावित भी होता गया। उसके जो दूरवर्ती परिणाम हुए उनकी चर्चा अगले परिच्छेदों में करेंगे, इस परिच्छेद में हमें उन धाराओं का वर्णन करना है जो वैदिक स्रोत से सीधी तौर पर निकलीं और वैदिक विचार मात्र का परिणाम थीं। वह धाराएं तीन थीं—जिनमें से दो भारतवर्ष में बह निकलीं और एक कुछ दूरी पर—इरान अथवा आर्य देश में जाकर पारसी धर्म के रूप में प्रकट हुई। आर्यावर्त में जो धाराएं थीं, वह ब्राह्मणों के कर्मवाद, और उपनिषदों के ज्ञानवाद के रूप में प्रकट हुईं। इन दोनों में और ईरान वाली धारा में इतना ही भेद था कि जहां पहली अपना मूल वेदों को कहती रहीं वहां दूसरी, समय और स्थान का अधिक अन्तर हो जाने से, मूल को भूल सी गई। अब हम उन तीनों धाराओं का संक्षिप्त वर्णन पाठकों की भेंट करते हैं।

ब्राह्मणों का कर्मवाद।

हमने ऊपर कहा है कि वेदसंहिताओं के धर्म में सरलता और पवित्रता यह दो गुण थे। पीछे से वेद को तीन भागों में विभक्त करके उसके तीन

काण्ड बतलाए गए हैं, यह तीनों ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड कहलाते हैं । वेद में तीनों का विस्तार है—परन्तु बहुत सादगी और सरलता के साथ । सीधे रागे में जान बूझकर गाठ नहीं दी गई, और सुखप्रद अटारी में भूलभुलय्या नहीं बनाई गई । वेदों मे प्राय सभी जड चेतन पदार्थों का ज्ञान है, आवश्यक वर्णन है, परन्तु कहीं भी शब्दों की उलझन या विचार के टेढेपन म उसे छिपाने का यत्न नहीं किया गया । एक ही दृष्टान्त पर्याप्त होगा—

"ईशावास्यमिदं ७ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्"

ब्रह्माण्ड में जितने पदार्थ हैं, सब में परमात्मा व्याप्त है । कैसा सरल और स्पष्ट भाव है । कहीं २ वेद के सम्बन्ध मे जो कठिनता अनुभव होती है उसका यह कारण नहीं कि वेद मे कोई कठिनाई रखी गई है, उसका कारण यह है कि वेद की भाषा पुरानी होगई है । उसके शब्दों के असली मूलार्थ सदियों की काई ने छिपा दिये हैं दूसरा कारण, और बडा भारी कारण यह भी है कि स्वार्थ या मोह के वश म आकर वेद म से ऐसे अर्थ निकालने के यत्न हो रहे हैं, जो मूल संहिता के अभिप्राय से बिल्कुल उल्टे पडते हैं। वेदों की कठिनाई के ऐसे ही कारण हैं—जहा यह कारण काम नहीं करते वहा वेदमन्त्रों की सरलता अचम्भे में डालने वाली है ।

इसी प्रकार कर्म-विधान की व्यवस्था है। वेदों मे कर्मों का विधान है—मनुष्य के कर्तव्या कर्तव्य के सम्बन्ध म आज्ञायें हैं । यथा

'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'

हे मनुष्यो ! तुम्हारी गति और वाणी परस्पर अनुकूल हो । तुम्हारे मन परस्पर समान विचार करने वाले हों । इसी प्रकार से परमात्मा के उपासना के सूक्त हैं—परन्तु वह भी सरलता लिए हुए हैं ।

यह मनुष्यस्वभाव है कि वह सादगी और सरलता से सन्तुष्ट नहीं होता । सरल ज्ञान उसके लिये जल्दी ही पुरानी हो जाती है, वह नयापन ढूंढने लगता है, इसलिये सरल सुन्दर मुखडे पर जेवरों की भरमार शुरू होती है । पुरानी सीधी सादी सचाई से थककर वह नई पेचीदा व्याख्यायें करने लगता है—अन्यथा उसके चित्त म असन्तोष बना रहता है । मनुष्य बुद्धि स्वभाव से सरल बात को पेचीदा बनाने में ही व्यग्र होती दिखाई देती है । वेदों के साथ भी यही हुआ । वेदों के सरल और सीधे उपदेशों की सुन्दरता बढ़ाने के लिए समय के साथ धीरे २ ज्ञान और कर्मादि का विस्तार होने लगा । यह विस्तार जिन २ शाखाओं म हुआ, उनमें से प्रथम ब्राह्मणों का कर्मवाद था।

यह कहना तो कठिन है कि ब्राह्मणों की रचना काल से कितना समय पूर्व प्रारम्भ हुई—परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष में वेदों के पीछे जिन विषयों का सर्व प्रथम संगठन हुआ, वह ब्राह्मण ग्रन्थों में पाये जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय दो हिस्सों में बांटा जा सकता है। एक व्याख्यान और दूसरा विधान। ब्राह्मण वेदमन्त्रों और सूक्तों की व्याख्या करते हैं। यह व्याख्या कहीं मनोरम भी है कहीं घोर की विचित्र कल्पना से है। यह व्याख्या पढ़ने वालों के हृदय में खूब अंकित कर देता है कि मनुष्य की बुद्धि सरलता में टेढ़ापन देखे हुए रहती है। दो एक उदाहरण पर्याप्त होंगे—

एक वेदमन्त्र का टुकड़ा है—'युक्ष्वा हि देवहूतमां अश्वाँ अग्ने रथीरिव' इस मन्त्र में उपमा रूप से कहा है कि 'जैसे रथी लोग घोड़ों को जोड़ते हैं वैसे ही हे परमात्मन् आप तू सब देवताओं को—भौतिक शक्तियों को—अपने २ कार्य में लगा।' यहां देवताओं की घोड़ों से उपमा दी गई है। उपमानोपमेयभाव साफ है—समझना बिल्कुल निर्विवाद है, परन्तु इस से ब्राह्मण ग्रन्थों का संकेत कहां होने लगा था। ऐतरेय में पंचम पञ्चिका में उसकी इस प्रकार व्याख्या है—

'तान् ह स्मा येषामग्रं यन्ति समेयसुन्त्यन्ते तानश्वा भूत्वा
पद्भिरपाघ्नन् यदश्वा भूत्वा पद्भिरपाघ्नन् तदश्वानाम्
अश्वत्वं अश्नुते यद्यत्कामयते य एवं वेद। तस्मादश्वः
पशूनां जविष्ठः। तस्मादश्वः प्रत्यङ् पद्भ्या हिनस्ति। अप
पाप्मानं हते य एवं वेद। तस्मादेतदश्ववदान्यं भवति।'

देवता लोग आगे का चले, और असुर लोग उनके पीछे ही पीछे चले आये। देवताओं ने जब और उपाय न देखा तो घोड़ों का रूप धारण कर के पिछले पैरों से मारना शुरू किया। घोड़े होकर पिछले पाद से मारा—यह अश्वों का अश्वत्व है। जो आदमी इस बात को जानता है वह जो कुछ चाहता है प्राप्त कर लेता है। इसी लिये घोड़ा सब पशुओं से तेज है। इसी लिये वह पिछली दुलत्तियों से मारता है। जो आदमी इस बात को जानता है, वह जो फल चाहता है प्राप्त करता है। इसी लिये अश्व के समान देवताओं का आश्व विधान है।

एक और नमूना लीजिए—आदित्य शब्द की व्याख्या करते हुए गोपथ ब्राह्मण लिखता है—

'अदितिर्वै प्रजाकामौदनमपचत्। तत उच्छिष्टमश्नात्। स गर्भमधत्त तत आदित्या अजायन्त।'

अदिति ने पुत्र की इच्छा से भात तय्यार किया। उस भात का शेष भाग खाया। उससे गर्भ होकर आदित्य उत्पन्न हुए।

इस प्रकार की व्याख्यायें ब्राह्मणों में बहुत है। ब्राह्मणकारों ने सरल बात का महत्व पूर्ण कारण बताने के लिये प्राय इसी प्रकार की कल्पनाओं तथा अर्थवादों से काम लिया है। मनुष्य बुद्धि इसी प्रकार बहुत सीधे अर्थ में उलझन डाल लिया करती है। यहा पर यह हृदय में अङ्कित कर छोडना चाहिये कि ब्राह्मणों के इन्हीं अर्थवादों के विस्तार का नाम पुराण हुआ। पुराणों में ब्राह्मणों की इन अद्भुत कल्पनाओं की नींव पर और भी अधिक शानदार कल्पनाओं के महल खडे किये गये है।

ब्राह्मणों की इन कल्पनाओं को दिखाने से हमारा यह तात्पर्य नहीं कि उनमें सिवा झमेले के कुछ है ही नहीं। आज भी बहुत से वैदिक शब्दों के मूल अर्थ जानने में ब्राह्मण ही एकमात्र सहायक हो सकते हैं। मन्त्रों और मन्त्र खण्डों की व्याख्याद्वारा ब्राह्मणों ने वैदिक जनता का उपकार भी बहुत किया है—इसमें सन्देह नहीं।

दूसरा विध्यश है। ब्राह्मणों का मुख्य अश यही है। ब्राह्मण नित्य नैमित्तिक यज्ञों की विस्तृत व्याख्या के लिये लिखे गये थे। यह कार्य वेदमन्त्रों की व्याख्या और चर्चा के बिना असम्भव था—इसलिये ब्राह्मणों में यज्ञों की विधि और यज्ञसम्बन्धी वेदमन्त्रों की व्याख्या—यह दोनों ही कार्य साथ साथ पाये जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों म यज्ञों की विधि की विस्तृत व्याख्या है—और उसके एक २ अश का कारण समझाने का भी यत्न किया गया है। मुख्य ब्राह्मण यज्ञ को ही प्रधान मानकर उनकी व्याख्या करते हैं।

यह कहना तो ठीक नहीं कि ब्राह्मण केवल कर्मयज्ञ को धर्म मानते है—ज्ञान या उपासना को तुच्छ समझते है, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों में एक स्थान पर भी ज्ञान कर्म आदि की तुलना नहीं की गई। तुलनायें पीछे हुई और ब्राह्मण ग्रन्थों को ही धर्म-ग्रन्थ माननेवालों ने

"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् इत्यादि

मीमासा सूत्रों की यह व्याख्या की कि वेद का उद्देश्य केवल यज्ञ की विधि बतलाना है—जिसका तात्पर्य यज्ञ में नहीं, वह अनर्थक है। ब्राह्मणों में केवल कर्मांश की व्याख्या है।

ब्राह्मण ग्रन्थो का प्रतिपाद्य विषय दो भागों में बाटा जाय तो वह दो भाग व्याख्यान और विधान कहलायगे। उनमें से पहला भाग आगे चलकर पुराणों और अन्य देशों की Mythlogy की कल्पनाओं का कारण हुआ और दूसरा भाग कर्मवाद और Ritualism का मूल सिद्ध हुआ।

२. उपनिषदों का ज्ञानवाद

कर्मकाण्ड बहुत बढ़ गया—उसकी प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप होकर तथा वेदों की व्याख्या के लिये आरण्यकों और उपनिषदों की रचना हुई। पहला उपनिषद् ईशोपनिषद् है—यह यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय है। शेष उपनिषदों ने उन्हीं की शृंखला का अनुसरण करते हुए गहरे ज्ञानतत्त्व की व्याख्या की है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उपनिषदें साफ तौर से उस कर्मकाण्ड का प्रतिषेध करती हैं, जो ब्राह्मण ग्रन्थों से झलकता है, और ब्राह्मण ग्रन्थों के मुकाबले में कहीं ज्ञानकाण्ड की चर्चा नहीं, इसलिये स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थों से पीछे उपनिषदों की रचना हुई।

उपनिषदों में ब्रह्म की व्याख्या है, और उसके ज्ञान को सब से मुख्य माना गया है। 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा' इत्यादि वाक्यों द्वारा उपनिषत्कारों ने स्थान २ पर कर्मकाण्ड की निर्बलता बताई है और 'निचाय्यतन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' (कठ) 'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतन्नेतरेषाम्' (कठ) 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्' (मुण्डक) इत्यादि वाक्यों में ज्ञान का गौरव दिखाया है। उपनिषदों से ज्ञान की यह दार्शनिक लहर उत्पन्न हुई, जो वैशेषिक से प्रारम्भ होकर वेदान्त में, और फिर वहां से विकृत होकर "शंकर मायावाद" में और "पञ्चदशी" में समाप्त हुई। जिस ज्ञान की गम्भीरता के लिए भारतवर्ष ने इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, उसका प्रारम्भ यहीं से हुआ।

उपनिषदों की प्रारम्भ की हुई ज्ञान-लहर का कहां २ तक प्रभाव फैला, इस विषय की विस्तारपूर्वक विवेचना यहां आवश्यक नहीं है। हम देख चुके हैं कि भारत के दार्शनिक विचारों का पहला विस्तारसहित आविर्भाव उपनिषदों में हुआ और जितनी दार्शनिक शाखायें आविर्भूत हुईं, उनका बीज यदि वेद में था, तो उनका स्रोत उपनिषदें थीं। भारतवर्ष से बाहिर भारत के दार्शनिक विचारों का कहां तक प्रभाव हुआ, इस विषय की विस्तृत विवेचना के लिये यह स्थान बहुत छोटा है, परन्तु संक्षेप से इतना बता देना अनुचित न होगा कि पुराने ग्रीस आदि देशों के दार्शनिकों ने उनसे बहुत सा लाभ उठाया था। मि० रिचर्ड गार्बे अपनी 'Philosophy of Ancient India' नाम की पुस्तक में लिखते हैं—

'फारस द्वारा ग्रीक विचारों के भारत से प्रभावित होने की ऐतिहासिक सम्भवता को बिना सन्देह के मानना पड़ेगा, और इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि उनपर

लिखे हुए विचार भारत से ग्रीस को प्राप्त हुए।' * थेल्स, एम्पिडाक्लीज, अनक्सागोरस, डिमोक्रिटस, और सबसे बढ़कर पाइथागोरस ने भारत के दार्शनिक विचारों को खूब ही अपनाया था। यह सर्वसम्मत बात है कि योरप के सब दार्शनिक विचार ग्रीस के दार्शनिक विचारों से प्रारम्भ होते हैं। इस प्रकार यह कह देना अयथार्थ न होगा कि योरप अपने दार्शनिक विचारों के लिये भारत का आभारी है।

यहां यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि धार्मिक विचारों के इतिहास में दार्शनिक विचारों की चर्चा क्यों की गई? इसका उत्तर यह है कि इन दोनों प्रकार के विचारों का आपस में बड़ा गहरा सम्बन्ध है। ईश्वर की सत्ता एक धार्मिक सिद्धान्त है, परन्तु वह प्रत्येक दार्शनिक के विचार का पहला विषय है। जीवात्मा है या नहीं? मनुष्य करने में स्वतन्त्र है या परतन्त्र? कर्मों का फल मिलता है या नहीं? परलोक है या नहीं? यह सब प्रश्न एक धर्माचार्य के लिये उतने ही आवश्यक हैं, जितने आवश्यक कि एक तत्ववेत्ता के लिये हैं। धर्म के भिन्न २ रूपों पर दार्शनिकों के विचारों की छाप साफ नजर आती है। इस कारण यह मानना पड़ेगा कि भारत ने योरप को यदि दार्शनिक उपहार दिया है, तो योरप के धार्मिक विचार यह नहीं कह सकते कि हमने कुछ नहीं लिया, ईश्वर जीव परलोक आदि विषयों में ग्रीक तत्ववेत्ताओं द्वारा योरप को भारत ने बहुत कुछ दिया है, और यह धर्म की आधारशिलायें हैं।

ब्राह्मणों और उपनिषदों द्वारा वेदों ने किस प्रकार संसार के धार्मिक विचारों को प्रभावित किया है, यह नीचे के चित्र से स्पष्टतया प्रतीत हो जायगा—

वेद
- ब्राह्मण
  कर्मशास्त्र
  - व्याख्यानांश
    - देवमाला
      Mythology
  - विधानांश
    - क्रियाकलाप
      Ritualism
- उपनिषद
  ज्ञानशास्त्र
  - वैशेषिक न्याय सांख्य वेदान्त बौद्ध नास्तिक
    - फारस द्वारा ग्रीस के दार्शनिक विचारों पर प्रभाव
      - दार्शनिक विचारों द्वारा धर्म पर प्रभाव

1 The Historical possibility of the grecian world of throught being influenced by India through the medium of Persia must unquestionably be granted, and with it the possibility of the above mentioned ideas being transferred from India to Greece
(Philosophy of Ancient India- Page 38)

३. पारसी धर्म

आर्यपुरुषों की एक धारा मध्य एशिया से होती हुई ईरान में जा बसी। उस धारा के लोग पारसी कहाये। उन लोगों का धर्म पारसी धर्म कहाता है। वह अपने भाइयों के पुराने वैदिक धर्म के साथ लेगये थे—परन्तु समय और स्थान के व्यवच्छेद से वह बहुत विकृत होगया। उस समय पारसियों में एक धर्म का सुधारक उत्पन्न हुआ जिसने फिर से पुराने धर्म के उद्धार का यत्न किया। उस सुधारक का नाम स्पितामा जरदुस्त या पितामह जरदुस्त था। वह ध्यानावस्थित होने के लिये फारस से पूर्व की ओर गया और अपनी जाति के धार्मिक विचारों का सुधार करने का सङ्कल्प करके वापिस हुआ। इस समय हम जरदुस्त से पूर्व के विकृत पारसी धर्म के चिन्ह नहीं मिलते क्योंकि सुधरा हुआ पारसी धर्म विस्तारपूर्वक मिलता है। उसके देखने से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि जरदुस्त जिस धर्म का प्रचार करता था, वह वैदिक-धर्म की एक शाखा थी।

यहां इस विषय पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। सर विलियम जोन्स, प्रो० मैक्समूलर, और डा० हाग आदि विद्वानों ने इस की बहुत विस्तार पूर्वक और मार्मिक व्याख्या की है—जिसके होते हुए सिद्ध करने को शेष कुछ नहीं रह जाता। उन लोगों ने बहुत अच्छी प्रकार से बतला दिया है कि पारसियों की धर्मपुस्तक जिन्द अवस्था की भाषा संस्कृत का रूपान्तर है, जिन्द अवस्था के उपदेश वैदिक उपदेशों से ८० फीसदी मिलते हैं, पारसियों के कर्तव्य धर्म और यज्ञ वैदिक क्रियाओं की छाया मात्र हैं। हम यहां थोड़े से प्रमाण देकर ही सन्तोष करेंगे, क्योंकि यद्यपि विषय बहुत ही लम्बा और मनोरञ्जक है, तथापि हमारे पास स्थान परिमित है।

(१) पहले भाषा को लीजिए। सर विलियम जोन्स जन्द भाषा के विषय में लिखते हैं—"जब मैंने जन्दभाषा के कोष को पढ़ा, तब मुझे वर्णनातीत आश्चर्य हुआ कि उसके दश शब्दों में से छ या सात विशुद्ध संस्कृत के हैं और कई तो व्याकरण से बने हुए रूप में भी समान ही हैं—जैसे युष्मद् का बहु वचन युष्माकम्।" (एशियाटिक रिसर्च) डा० हाग इस भाषा के बारे में लिखते हैं—

'ब्राह्मणों के और पारसियों के पवित्र सूक्तों की भाषाएं एक ही जाति के दो भागों की भाषाएं हैं' Essays

दूसरे स्थान पर आप लिखते हैं—

"बिल्कुल बराबर न होती हुई भी, वह भाषाएं इतनी समान हैं कि एक संस्कृत का थोड़ा सा ज्ञान रखने वाला भी झटपट उन्हें पहिचान सकता है।"

प्रो० मैक्समूलर लिखते हैं—

"उसकी (यूगन यनेफ़ की) किताबों से और बौप्की की तुलनात्मक व्याकरण की कीमती टिप्पणियों से स्पष्ट है कि व्याकरण और कोष की दृष्टि से जन्द भाषा अन्य इण्डो-योरपियन भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत के बहुत समीप है' Clips Vol 1

(२) अब सिद्धान्तों की समानता लीजिये। वैदिक-धर्म के मूल सिद्धान्तों में से एक मुख्य सिद्धान्त वर्णव्यवस्था का है। मनुष्य समाज को ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र-इन चार भागों में बांटा गया है। पारसी धर्म में भी यह चार भाग रखे गये हैं।

प्रो० डार्मस्टाट अपनी जन्द अवस्था की भूमिका में लिखते हैं—

"हम इस (डिकर्ट) में चार श्रेणियों का वर्णन पढ़ते हैं, जो ब्राह्मणों के जातियों के उत्पत्ति सम्बन्धी लेखों का बल पूर्वक स्मरण दिलाते हैं, और जो अवश्य भारत से लिया गया है"।

जन्द में जाति के पुरोहित, रथी, खेती करने वाला और हाथ से काम करने वाला-यह चार भाग किये गये हैं।

(३) पारसियों के उपास्य देवता वैदिक देवताओं से मिलते हैं-यद्यपि पारसी उन्हें देवता नहीं कहते। पारसियों का मुख्य ईश्वर अहुरमजद या असुर महान् कहता है। अर्यमन् के स्थान में आयर्मन्, मित्र के स्थान में मिथ्र, नाराशंस के स्थान में नर्योसन्हा वृत्रघ्न के स्थान में वृत्रघ्न, और भग के स्थान में बघ-यह उनके उपास्य हैं। वेदों में जैसा वरुण देवता का वर्णन है, उसी प्रकार का जन्दावस्ता में महान् असुर का वर्णन है। वैदिक साहित्य में ३३ देवताओं का कथन है—(त्रयास्त्रिंशद्वै देवा — ब्राह्मण) जन्दावस्ता में उनके स्थान पर ३३ रतु कहे गये हैं।

दोनों मे एक भेद है। वैदिक परिभाषा में देव शब्द का प्रयोग उत्कृष्ट अर्थों में होता है, जन्द की परिभाषा में वह बुरे अर्थ देता है। वहा परमात्मा को असुर कहा गया है। वेद में देव और असुर दोनों ही शब्द ईश्वर के लिये आते हैं-और उत्तम अर्थ देते हैं। ब्राह्मणों में असुर शब्द बुरे ही अर्थों में आता है, उसका अच्छा अर्थ बिल्कुल लुप्त होगया है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने असुरों को देवताओं के सामने सदा नीचा दिखाया है। इस भिन्नता से दो बातें प्रतीत होती हैं। प्रथम तो यह कि पारसी धर्म के विचार वेदों से लिये गये हैं-ब्राह्मणों से नहीं। दूसरी बात यह कि ब्राह्मणों और जन्द के लेखकों के दिलों में एक दूसरे के लिये एक विशेष विरोध भाव था-यही कारण था कि वह दोनों एक दूसरे के उपास्यों को नीचा दिखाने का यत्न करते थे। यह विषय मनोरंजक है और इसकी विस्तृत विवेचना बहुत से ऐतिहासिक रहस्य उद्घाटित कर सकती है परन्तु उसके लिए यह ज.

(४) दोनों के यज्ञों में बहुत समानता है। यज्ञ और यज्ञ की विधियों में बहुत भी नाम मिलता है। यज्ञ के लिये पारसियों के पास यस्न शब्द है। होता को वह जोता कहते हैं, अध्वर्यु के स्थान में उनके पास अथवा शब्द है। इष्टि और आहुति पारसियों का इष्टि और आजुति है। यज्ञ की विधियां तक एक सी है। ज्योतिष्टोम दर्श पौर्णमास आदि नामान्तर से जन्द में पाये जाते हैं। सोमवल्ली का नाम पारसियों में होम है।

(५) पारसी लोगों के लिये यज्ञोपवीत का विधान है। गौ मारने तथा मांस खाने का निषेध है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त जन्दावस्ता में पाया जाता है। सृष्टि की उत्पत्ति का जन्दावस्ता में जो वर्णन है वह वेदों और उपनिषदों के सृष्टि प्रकरण का स्मरण कराता है।

ऊपर के लेख से सिद्ध है कि पारसियों का वह धर्म जिसका उपदेश जन्दावस्ता द्वारा जरदस्त ने किया था, वैदिक मत का रूपान्तर है। यह हम पहले दिखा आये हैं कि वेदों का समय जन्दावस्ता के समय से बहुत पहले का है। इससे स्पष्ट है कि जैसे भारत में वेदों से ब्राह्मण ग्रन्थों का धर्म उत्पन्न हुआ, उसी प्रकार फारस में असुर धर्म विस्तृत हुआ। दोनों में भेद इतना ही है कि एक ने अपने मूल को याद रखा और स्वीकार किया, दूसरे ने उसे भुलाने का यत्न किया और भुला दिया। *

* पारसीधर्म के बारे में
हैं। हाग के निबन्ध और डार्मे
महत्वपूर्ण हैं। वैदिकधर्म और
... का 'धर्मों का मूल स्रोत'
वैदिकधर्म' यह ट्रैक्ट देखने

तीसरा परिच्छेद।

प्राचीन विश्वासों पर वेदों का प्रभाव

चीन और मिसर,

हम यह सिद्ध नहीं किया चाहते कि संसार में जितने मत सम्प्रदाय या धर्म उत्पन्न हुए हैं उन सब की प्रत्येक बात वेद से ली गई है। यह न केवल उपहास्य है—असम्भव भी है। न हम यही बताना चाहते हैं कि मनुष्यबुद्धि ने अभी तक धर्म के क्षेत्र में कोई नया काम नहीं किया। मनुष्य के दिमाग ने पहले दिव्यमार मसाले के आधार पर बहुत सी धार्मिक और आत्मिक सचाइयां गढ़ी दी हैं। यहां यह दिखाना अभिप्राय है कि कई मार्गों से होते हुए धर्म के विचार प्रायः मनुष्य जाति के हरेक भाग में पहुंच चुके हैं और अपना प्रभाव उत्पन्न कर चुके हैं। मूल स्रोत के नाले और नालियों का जल बड़े २ मत मतान्तरों की नदियों में मिलकर उन पर प्रभाव उत्पन्न करने का यत्न कर चुका है। जो धर्म सीधे वेदों से उत्पन्न हुए उनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं—एक बौद्ध धर्म रहा है—जिसकी चर्चा आगे की जायगी। यहां उन मतों और विश्वासों के बारे में कुछ कहना है जो वैदिक-धर्म से उत्पन्न नहीं—केवल प्रभावित हुए हैं। प्राचीन धर्मों में कई बातें इतनी समान पायी जाती हैं कि उनकी सत्ता आकस्मिक नहीं हो सकता। प्रतीत होता है कि अवश्य ही किसी समय इन सब जातियों के परस्पर सामीप्य तथा मेल जोल रहे होंगे, और जो प्राचीन धर्म था उससे शेष सब प्रभावित हुए होंगे। एक २ धर्म की वैदिक धर्म के साथ जो समानतायें हैं, उन्हें दिखाने के लिये यह स्थान उचित नहीं है। यहां तो हमें केवल धार्मिक विचारों का विकास और विस्तार देखना है। उसके लिये समानताओं का दिग्दर्शन मात्र पर्याप्त है।

चीन का प्राचीन धर्म

जब हम चीन के प्राचीन सिद्धान्तों पर दृष्टि डालते हैं तो हमें भारत के प्राचीन धार्मिक विचारों के साथ अपूर्व समानता दिखाई देती है। चीन की ईसा से २५१४ वर्ष पूर्व की धार्मिक अवस्था पर दृष्टि डालते हैं तो हमें दिखाई देता है कि वहां के लोग परमात्मा को पिता और पृथिवी को माता मान कर पूजते थे। परमात्मा धर्म और अधर्म का अच्छा और बुरा फल देने वाला था। सब से बड़ी बात यह है कि उस समय के चीन के धार्मिक विचारों में शैतान या नरक के लिये कोई स्थान नहीं था।

चीन के प्राचीन धर्म का वृत्तान्त देते हुए प्रो० हर्बर्ट ए० गाइल्स अपने Religions of Ancient China नाम की पुस्तक में लिखते हैं।

"In this primitive monotheism, of which only scanty, but no doubt genuine records remain, no place was found for any being such as the Budhist mara or the Devil of the old and new Testaments."

"इस प्राचीन एकेश्वरवाद में, जिसके बहुत कम परन्तु असली सबूत मिलते हैं, बौद्धों के मार या पुराने या नए अहदनामे शैतान के लिये कोई स्थान नहीं है।"

प्राचीन वैदिक विचारों में हम यह एक बडी विशेषता देखते हैं कि बुराई के पैदा होने के लिए किसी जुदा शैतान की आवश्यकता नहीं समझी गई। परमात्मा ही भलाई और बुराई का फलदाता है। कर्म करने वाला जीव है। वेद एक ही शक्ति को स्वीकार करते हैं। ऋग्वेद कहता है "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" चीन के विश्वासों के विषय में प्रो० हर्बर्ट अपने Ancien History of China नामक ग्रन्थ में लिखते हैं— From records of SU KING we are bound to admit that "the ancient Chinese were decided monotheists प्राचीन शुकिंग के लेखों से मानना पडता है कि चीन के प्राचीन निवासी निश्चित एकेश्वरवादी थे।

विश्वासों को छोडकर अब हम यज्ञों की ओर आते हैं। यज्ञों के सम्बन्ध में हमें चीन और भारत में बहुत समानता दिखाई देती है। चीन के यज्ञ पर डा० लेग (Dr Legge) ने निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है—

The "ceremonies and the sacrifices" were preceded by fasting and various purifications on the part of the king and the parties who were to assist in the performances of them.

Libations of fragrant spirit were made to attract the spirits, and their presence was invoked by a functionary who took his place inside the principal gate.

यज्ञ से पूर्व व्रत और अनेक प्रकार की शुद्धियों का करना राजा और उसके पुरोहितों के लिये आवश्यक होता था। सुगन्धित रसों की आहुति दी जाती थी ताकि देवता बुलाये जा सकें, और उनका आह्वान करने का काम एक कार्यकर्त्ता करता था, जो मुख्यद्वार के अन्दर की ओर खड़ा होता था।

हम दोनों यज्ञों के विस्तृत वर्णनों से पढ़कर इस परिणाम पर पहुचते हैं कि दोनों परस्पर बिल्कुल असम्बद्ध नहीं हैं।

भारतवर्ष के अत्यन्त प्राचीन ही नहीं, मध्यकाल के बहुत से विश्वासों का भी चीन के उस समय के विचारों से बहुत सा सम्बन्ध प्रतीत होता है। चीन में मध्यकाल में हम यज्ञों के साथ वृषभ के बलिदान का वर्णन पढ़ते हैं। मेरे हुए बुजुर्गों के जीवित रहने का विचार बहुत पुराना था। उसके साथ धार २ हम मनुष्यों के श्राद्ध की प्रथा को भी चलता हुआ पाते हैं। डा० लैग 'शाकिंग' के अनुवाद में लिखते हैं—

" A belief in the continued existence of the dead in a spirit state and in the duty of their descendants to mantain by religious worship a connection with them, have been chracteristics of the chinese people from their first appearance in history "

इतिहास के प्रारम्भ से ही हम देखते हैं कि चीनी लोग अपने मृतों के सूक्ष्म रूप में रहने, और सन्तानों के धार्मिक पूजा द्वारा उनके साथ सम्बन्ध स्थिर रखने में विश्वास रखते थे।"

यही विशेषता हमारे मध्यकाल के विचारों में पाई जाती है। यदि विचारों की पद्धति पर ध्यान दें तब भी हम कुछ समानता दिखाई नहीं देती। प्रो० विनय कुमार सरकार ने इस विषय को अपनी "Chinesl Religion through Hindu Eyes" नाम की पुस्तक में बड़ी योग्यता से प्रतिपादन करते हुए बताया है कि चीन का धार्मिक विचार प्रवाह प्राय उसी प्रकार चला है, जैसे भारतीय धार्मिक विचारप्रवाह। यह समानता किसी सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकती। यह अनुमान करना कुछ अनुचित नहीं प्रतीत होता है कि इतना सादृश्य और स्थान मे इतनी समीपता रहते भी भारत ने चीन पर कोई प्रभाव नहीं डाला। भारत पर चीन का प्रभाव जानने के लिये हम कोई भी प्रमाण नहीं देखते। चीन के धार्मिक विचार समय की दृष्टि से भारत से अर्वाचीन हैं। चीन के प्राचीन लेखकों के कथनानुसार वहा का धार्मिक विकास ईसा- से २६५३ वर्ष से पूर्व के लगभग प्रारम्भ होता है। उस समय फू-सी (Fu Hsi) नामक राजा ने यज्ञ और पूजा का संगठन किया था। ऋग्वेद का प्रारम्भ समय आज कल के योरपियन विद्वानों के मत में भी इससे बहुत पुराना है। इस कारण यह कल्पना निर्मूल नहीं है कि चीन के प्राचीनतम विचारों पर भी वेदों के विचारों का प्रभाव विद्यमान था।

मिश्र

जब चीन से चलकर हम मिश्र में पहुचते है, और वहा के धार्मिक विचारों का अनुशीलन करते हैं तो हमें भारतीय विचारों से कुछ कम समानता नहीं मिलती। उस समानता को देखकर इस परिणाम पर पहुचना कठिन नहीं है कि भारत तथा मिश्र के

विचारों का परस्पर सम्बन्ध अवश्य रहा है। भारत और मिश्र में धार्मिक विचारों का भिन्न २ रूप से विकास अवश्य दिखाई देता है—परन्तु प्रारम्भ एक सा ही है। हम दोनों देशों के विचारों के प्रवाहों के साथ २ ऊपर को जाय तो इसमें सन्देह नहीं रहता कि उनका मूल स्रोत कोई एक ही होगा। बहुत विस्तृत विवेचन के लिये हमारे पास स्थान नहीं है। हम कुछेक मुख्य २ सिद्धान्तों की तुलना पर ही सन्तोष करेंगे।

पहले हम मिश्र के ईश्वर सम्बन्धी विश्वासों को लेते हैं। अत्यन्त प्राचीन काल में, मिश्र के निवासी एक ईश्वर में विश्वास रखते थे। उनके ईश्वरसम्बन्धी विश्वास का "ईजिप्ट का धर्म" (Egyption Religion) नामक पुस्तक में डा० बजने निम्न लिखित शब्दों में वर्णन किया है—

"A study of ancient Egyption religious texts will convince the readers that the Egyptions believed in one God who was self existent, immortel, invisible, eternal, omniscient, almighty and inscrutable, the maker of the heavens, earth, and underworld, the creator of the sky and sea, men and women, animals and and birds, fish and creeping things, trees and plants, and the incorporeal beings who were the messengers, that fulfilled his wish and word."

पुराने मिश्र के धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन से पाठक को निश्चय हो जायगा कि मिश्र निवासी ऐसे एक ईश्वर में विश्वास करते थे, जो स्वयम्भू, अमर, अदृश्य, नित्य, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, और अज्ञेय है, जो द्युलोक पृथिवी और पाताल का निर्माता है, जो आकाश और समुद्र, पुरुष और स्त्री, पशु और पक्षी, मछली और सर्पण शील जन्तु, वृक्ष और वनस्पति का निर्माता है और उन सूक्ष्म प्राणियों का भी उत्पन्न करने वाला है जो उसकी इच्छा और आज्ञा का पालन करने वाले दूत हैं।

पुराने मिश्र के ग्रन्थों में देवता रूप से, हापी (Hapi) नाम से, ईश्वर की निम्नलिखित शब्दों में, स्तुति की गई है—

"He can not be figured in stone, he is not to be seen in the sculptured images upon which men place the united crowns of the South and the North furnished with uraei, and he can not be made to come forth from his secret place The place where he liveth is unknown, he is not to be found in inscribed shrines, there existeth no habitation which can contain him, and thou canst not concieve his forms in thy heart

वह पत्थरों में नहीं चित्रित किया जा सकता, दक्षिण और उत्तर के विशेष आभूषणों (uraeu) से सुसज्जित मुकुट जिन मूर्तियों पर रखे जाते हैं, उनमें भी वह दिखाई नहीं दे सकता, उस तक न काय और न भेंटे पहुंचाई जा सकती है; और उसे उसके गुप्त स्थान से बाहिर नहीं निकाला जा सकता। उसके निवास का स्थान अविदित है, वह अंकित समाधों में नहीं ढूंढा जा सकता, ऐसा कोई स्थान नहीं है, जिसमे वह समा सके, तुम उसकी आकृति का अपने हृदय में ध्यान नहीं कर सकते"।

इन दो उद्धरणों में ईश्वर सम्बन्धी विश्वास का साराश आजाता है। इन वाक्यों की निम्नलिखित वेद मन्त्रों से तुलना कीजिए, तो आपको अद्भुत समानता दिखाई देगी—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
यजु० । ४० । ८

वह परमात्मा व्यापक है, शरीर रहित है, उसके शरीर पर घाव नहीं होता, वह नाड़ी नस के बन्धन से रहित है। वह शुद्ध है। पाप का उसमें लेश नहीं है। सत्य ज्ञान का कहने वाला, ज्ञानी, साक्षी, स्वयं ही विद्यमान, और सब पदार्थों का सदा से निर्माण करने वाला वही है।

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः।

जिसका अत्यन्त महान् यश है, उसकी मूर्ति नहीं हो सकती।

पुरुष एवेदꣳसर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। यजु० । ३१ । २

जो कुछ है या होगी, वह सब कुछ ईश्वर ही में है।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। ऋ० । १० । १९० । ३

परमात्मा ने सदा की भांती सूर्य चन्द्र आदि का निर्माण किया।

इस समानता के अतिरिक्त दो और बातें विशेषतया ध्यान देने योग्य हैं। पुराने मिश्र निवासी जहां एक ओर एक देवता वादी थे, वहां दूसरी ओर वह अनेक देवतावादी भी थे। उनके देवता भी गिन्ती में सैकड़ों तक पहुंचते थे। अनेक देवताओं के होने हुए भी वह एक ही देवता को मुख्य मानते थे। सब देवताओं के नाम एक मुख्य देवता के नामवाची माने जाते थे। तेमू (Temu) आत्मू (atmu) आदि जो एक ओर सूर्य के नाम हैं, देवों के पिता और ईश्वर के लिए भी प्रयुक्त होते हैं। ओसिरिस आइसिस आदि नाम भिन्न २ देवताओं के होते हुए भी प्राय ईश्वर के विशेष नामान्तर नतर (neter) के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होते हैं। बिल्कुल यही दशा वैदिक देवतावाची शब्दों की है।

ईश्वर का मुख्य नाम ननर (neter) है जिसका अर्थ ऐश्वर्य और बल है। ननर शब्द बिल्कुल इन्द्र का पर्याय वाची प्रतीत होती है।

दूसरा बड़ी भारी समानता जीव उसकी नित्यता और पुनर्जन्म में विश्वास है। यह विचार भारत और मिश्र का खास अपना हैं। अन्य देशों में इस स्पष्टता से यह नहीं मिलता, जिस स्पष्टता से इन देशों में मिलता है। मिश्र के प्राचीन धर्म में मरे हुए प्राणी का पुनर्जन्म और न्याय माना जाता था। उसमें जीवात्मा "अनी" (Ani) कहाता था, जिसकी अन् धातु से उत्पत्ति प्रतीत होती है। प्र + अनी इन दोनों के मिलाप से प्राणी बनता है। हृदय का नाम 'क' था। 'क' नाम सुखरूप आत्मा का है। मिश्र में भी 'क' शब्द चेतनता का पर्यायवाची प्रतीत होता है। हमारे साहित्य के स्वर्ग नरक यम तथा देवमालासम्बन्धी मध्यकालिक विचारों का प्रतिबिम्ब भी मिश्र के तत्कालीन धार्मिक साहित्य में पाया जाता है।

मिश्र में इन विचारों की चर्चा को देख कर डा० बज ने लिखा है कि यह कहना कठिन है कि मिश्र के धर्म के यह विशेषतायें कहां से आईं। उन्हें सन्देह है, परन्तु संदेह रखने की कोई बात नहीं। मिश्र में यह सिद्धान्त आगन्तुक थे, और जहां से वह गये वह स्थान भारत था। मिश्र के धार्मिक विचारों का मूलस्रोत भारत के वेदों में मिलता है।

चतुर्थ परिच्छेद

बौद्ध धर्म।

ईसा से लगभग ४०० साल पूर्व बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्धधर्म के जन्म दाता गौतमबुद्ध का जन्म एक हिन्दू राजवश में हुआ था। स्वभाव से ही वह विवेक शील और दयालु स्वभाव के थे। छोटी से छोटा बात उन पर असर डालती थी, और दूसरे का क्षुद्र से क्षुद्र दुःख उनके हृदय पर आघात पहुचता था। उन्होंने ससार पर दृष्टि उठाई तो उसे दुःख का घर पाया। किसी को शारीरिक और किसी को मानसिक दुःखों का शिकार देखकर वह चिन्तित हुए और अपने तथा ससार के दुःख दूर करने के उपायों पर विचार करने लगे। उसी विचार की गम्भीरता में आकर गौतमबुद्ध ने राजपाट छोड़ा, पुत्र कलत्र का त्याग किया और इस दुःखमय ससार की गहरी वेदनाओं पर विचार करना प्रारम्भ किया। महात्मा ने जब मनुष्यजाति के दुःख के कारणों पर विचार किया तो उन्हें भान हुआ कि उसके कुछ ऐसे कारण हैं जो मनुष्यों के अपने व्यक्तिगत सामाजिक आचरणों से सम्बन्ध रखते हैं। जो २ कारण महात्मा बुद्ध को दिखाई दिये उनमें से मुख्य तीन थे। पहला यह कि मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करने के लिये पशुओं की हिंसा करते थे, और क्रूरता को बढाते थे। दूसरा कारण यह था कि लोगों में झूठे जात पात के अभिमान और भेद बढ गये थे, जो मनुष्यों की उन्नति को रोक रहे थे। तीसरा कारण यह था कि लोग भिन्न २ प्रकार के विश्वासों और विचार की बारीकियों पर बहुत अधिक ध्यान देते थे, और व्यक्तिगत आचरणों की उपेक्षा करते थे। पुराने वैदिक धर्म के आदर्श बिगड गए थे। समाज में कुरीतियों का जाल फैल गया था।

महात्मा बुद्ध ने इस बात को अनुभव किया कि मनुष्यों की दशा बिगड गई है। उनके जीवन में अनेक स्थान पर ऐसी चर्चा आती है कि जहा उन्होंने शिष्यों को पुराने धर्मात्माओं के उपदेश मानने की शिक्षा दी। महात्मा बुद्ध ने जिस धर्म का प्रचार किया वह कोई नया नहीं था, बौद्धधर्म के विद्वान् टी डब्लू रिस डेविड्स ने 'बुद्धिज्म' नामक पुस्तक के दूसरे परिच्छेद में बुद्ध के चरित की घटनायें देकर अन्त में लिखा है—

"मुझे मालूम है कि ऊपर दिया हुआ वर्णन इस प्रचलित मिथ्या विचार को निर्मूल कर देगा जिसे लोग मानते थे, कि गौतम बुद्ध हिन्दू धर्म का शत्रु था, और यह सिद्ध करने के लिए भी पर्याप्त होगा कि उसने ब्राह्मणों का अत्याचार और धर्म का नाश करने के कारण इस जाति का पतन कराया था। गौतम उत्पत्ति वृद्धि जीवन और मृत्यु में एक हिन्दू था। हिन्दू धर्म उस समय तक पैदा ही नहीं हुआ था। अपने समय में प्रचलित धर्म के नाश पर उसने कोई आघात नहीं किया। उसका उद्देश्य उसे (प्रचलित धर्म को) बनाना और शुद्ध करने का था, नाश करने का नहीं"।

मि० आर० सी० दत्त बुद्धदेव और बौद्धधर्म के बारे में लिखते हैं—

'उन्होंने कोई नया आविष्कार नहीं किया, उन्होंने कोई नया आज्ञापत्र नहीं दिया' एन्शण्ट इण्डिया। २।

दूसरे स्थान पर इसी पुस्तक में दत्त महाशय फिर लिखते हैं —

"यह कहना ऐतिहासिक दृष्टि से अशुद्ध होगा कि गौतमबुद्ध ने जान बूझकर कोई नया धर्म खड़ा करने का बीड़ा उठाया था। इसके उलटा, उसे अन्त तक विश्वास था कि वह धर्म के उस पुराने और शुद्ध स्वरूप की घोषणा दे रहा है जो पुराने हिन्दू ब्राह्मण, श्रमण और अन्यों में प्रचलित था, और पीछे से बिगड़ गया था"।

ऊपर दो विद्वानों की सम्मतियाँ दी गई हैं। बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन उन सम्मतियों की सर्वथा पुष्टि करता है। गौतम बुद्ध ने कर्तव्य धर्म पर बल दिया है, दार्शनिक विचारों को औरों के लिए छोड़ दिया है। जिन कर्तव्य धर्मों का बुद्धदेव ने उपदेश दिया है, वह कोई नये नहीं। यम नियम और धर्म के मनूक्त लक्षणों की अधिक गहरी और क्रियात्मक व्याख्या द्वारा गौतमबुद्ध ने मनुष्य जाति को अधिक प्रिय और अधिक शुद्ध बनाने का यत्न किया था।

बौद्ध धर्म के कुछ सिद्धान्तों पर दृष्टि डालिये। बौद्ध लोग संसार को परिवर्तनशील मानते हैं, पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। बौद्ध लोगों की वस्तुयें वही हैं—केवल उनकी श्रेणि में भेद है। भूत इन्द्रिय गुण लिंग संस्कार कर्म आदि का श्रेणिभेद भी समान है। वेदना स्कन्ध आदि का श्रेणिभेद नया है। बहुत गहरे दार्शनिक सिद्धान्तों पर महात्मा बुद्ध चुप ही रहे। ईश्वर या सृष्टि रचना आदि के सम्बन्ध में उनका जो व्यवहार था, वह नीचे लिखी दो घटनाओं से स्पष्ट हो जायगा।

"जब मालुङ्क ने बुद्ध से पूछा कि संसार की रचना नित्य है या अनित्य तो उन्होंने कोई उत्तर न दिया क्योंकि आचार्य ने इस प्रश्न को कुछ उपयोगी नहीं समझा" मज्झिम। १।

इसी प्रकार जब एक बार किसी शिष्य ने परमात्मा के बारे में पूछा तो आचार्य का उल्टा प्रश्न यह था कि 'क्या तू अपने आपको जान गया है ?' गौतम बुद्ध के समय प्रतीत होता है कि वेदों के बिल्कुल उल्टे अर्थ लिए जाते थे, इसलिये उन्होंने वेद का नाम नहीं लिया। कहीं २ वेद का उपेक्षा से नाम लिया है परन्तु वह गीता के इस वाक्य के सदृश ही है—

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्योभवार्जुन'

हे अर्जुन ! वेद त्रिगुण विषय हैं, तू त्रिगुणत्व से भी ऊपर उठ जा।

"यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके

"तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः"

चारों ओर पानी भरा हुआ हो—उसमें एक चुल्लू भर का पीना जो महत्त्व रखता है, ज्ञानी पुरुष के लिये वेदों में उससे अधिक कुछ नहीं।

गीता को कोई नास्तिक या वेद निन्दक नहीं कहता। गीता का तात्पर्य वेद की निन्दा में है भी नहीं—उसका तात्पर्य एक पूर्ण ज्ञानी के लिये शब्दमात्र की तुच्छता दिखाने में है। इसी प्रकार बुद्धदेव ने भी ईश्वर, सृष्टि रचना आदि गम्भीर विषयों का और ईश्वरीय ज्ञान के मसले को यह समझकर निरुत्साहित किया है कि लोग इनके झमेलों में पड़कर अपने जीवन का सुधार करना भूल जाते हैं। गौतम बुद्ध ने एक स्थान पर भी यह नहीं कहा कि ईश्वर नहीं है, या वेद अप्रामाणिक हैं। इनके लिए बुद्ध का भाव विरोध का नहीं, उपेक्षा का था।

इस समय बुद्ध को नास्तिक मानने का दोष बौद्ध विद्वानों के सिर पर ही पड़ता है। सम्प्रदाय की पुष्टि के लिये आचार्य के पीछे बौद्ध गुरुओं ने यह आवश्यक समझा कि बौद्ध धर्म को सर्वांग सम्पूर्ण बनाया जाय। उसके लिए कटी छटी हुई एक फिलासफी बन गई, जिसमें ईश्वर का खण्डन, वेद का खण्डन आदि रखकर छोटे २ भेदों पर बहुत अधिक बल दिया गया और समानताओं को बिल्कुल भुला दिया गया।

बुद्ध ने जीवन सम्बन्धी जिन सुनहरे धर्मों का उपदेश दिया है वह श्रौत उपदेशों से कुछ अधिक भिन्न नहीं है। भेद इतना ही है कि उनके केवल नाम्न दिये गये हैं, श्रेणि-विभाग में कुछ भेद आगया है, शेष कुछ नहीं। हम नीचे कुछ सिद्धान्तों का तुलना करके दिखाते हैं। बुद्ध के बौद्ध उपदेशकों के लिये आठ मुख्य उपदेश यह हैं —

'दूसरे का जीवन नष्ट न करना चाहिये' = अहिंसा

'बिना दिये न लेना चाहिये' = अस्तेय

'झूठ न बोलना चाहिये' = सत्य

'मद्य न पीना चाहिये'
'आदमी को मन्त्र जपना है'
'रात्रि को ऐसा भोजन न करना चाहिये जो विकार उत्पन्न करे'
'माला या सुगन्ध का व्यवहार न करना'
} = ब्रह्मचर्य

'भूमि पर चटाई बिछाकर सोना चाहिए' = अपरिग्रह

इस प्रकार बुद्ध ने निम्नलिखित १० पाप गिनाये हैं —

(१) हिंसा (२) चोरी (३) व्यभिचार (४) झूठ (५) चुगली (६) कठोर (७) व्यर्थवाद (८) मन का पाप (९) ईर्ष्या (१०) अविश्वास।

इसी प्रकार १० भूलें हैं, जिन्हें निवृत्त करना चाहिये —

१ सत्काय-दृष्टि (अपने आपको पृथक जानना)
२ विचिकित्सा (सन्देह)
३ काम
४ प्रतिघ (घृणा)
५ रूप राग (पार्थिव वासना)
६ अरूप राग (स्वर्गीय कामना)
७ सिलब्बत परामास (क्रिया पर आसरा)
८ माना (अभिमान)
९ उद्धच्च (औद्धत्य)
१० अविज्जा (अविद्या)

इस प्रकार के सदुपदेश हैं, जो मनुष्य जीवन के सुधार के लिये दिये गए हैं। इनमें कोई नवीनता नहीं सूझती है। भेद है तो केवल शैली विन्यास में।

महात्मा बुद्ध का धर्म क्रियात्मक धर्म है। उसने अनुभव किया कि भारत की जनता बहुत गिर गई है, पुराने सदुपदेशों को भूल गई है। नया शैली विभाग, उसके महात्मा ने लोगों को जीवन सुधार का उपाय बतलाया। यही पुरानी वैदिक सचाइयाँ नये ढंग पर उसने सुनाई—और इस बात को छिपाया भी नहीं।

— o o —

पांचवां परिच्छेद

यहूदी, ईसाई और मुहम्मदी धर्म्म

अब हम तीन ऐसे धर्मों की ओर आते हैं, जो समय में बहुत कुछ अर्वाचीन हैं। यहूदी धर्म के अनुयायी तो अपने धर्म्म का प्रारम्भ बहुत पुराना मानते हैं—परन्तु हम उसे ईसा से ४५० वर्ष से अधिक पूर्व का नहीं मान सकते। ईसाई धर्म को स्थापित हुए १९१९ के लगभग साल हुए हैं—और मुहम्मदी धर्म का संस्थापक ५७० ईस्वी में उत्पन्न हुआ था। जब हम इन तीनों धर्मों पर दृष्टि डालते हैं तो उनमें दो अंश पाते हैं। यह तीनों ही मानुषिक धर्म हैं—विशेष मनुष्य इनके संस्थापक हैं—इसलिये उनके व्यक्तित्व के साथ वह धर्म बंधे हुए हैं। इस कारण उन धर्मों का पहला भाग संस्थापक के साथ निज सम्बन्ध रखता है। उनका दूसरा अंश सिद्धान्तांश है। उस हिस्से में हम देखते हैं कि इनमें से प्रत्येक अपने से पहले के किसी एक या किन्हीं दो तीन धर्मों पर ही आश्रित है। हरेक धर्म में हम उस पुराने धर्म की चादर को ढूंढ सकते हैं जिस पर नया चित्र खैंचा गया। हर स्थान पर चादर पुरानी है और चित्र व्यक्ति का बनाया गया है। चित्र बनाने के लिए जो रंग काम में लाये गये हैं वह भी पुराने धर्मों के हैं। हम इन तीनों में से क्रमशः एक २ को लेकर अपने इस कथन को प्रमाणित करते हैं।

यहूदी धर्म

पारसी धर्म का संस्थापक जरदुस्त का जन्म 'आर्यनमं वीगा' नाम के स्थान में हुआ था। यह निश्चित बात है कि जरदुस्त ने वेदों के धार्मिक सिद्धान्तों का रूपान्तर करके फारस में प्रचार किया। उसे वेदों के धार्मिक सिद्धान्त यदि कहीं सुनने को मिले होंगे, तो आयनम् वीगा में ही मिले होंगे। आयनम वीगा में सम्भवतः वेदों के जानने वाले कुछ विद्वान् होंगे जिनसे जरदुस्त ने वैदिक धर्म के सिद्धान्त सुने और समझे, और फिर उन्हें अपने ढंग पर, जाति की आवश्यकताओं के अनुकूल रूप देकर ईरान में प्रचार किया।

यहूदी धर्म के संस्थापक ने जिस नगर में रहकर धार्मिक निर्वचनायें कीं, उसका नाम हरन है। जर्मनी के डा० स्पीगल की सम्मति है कि यह हरन नाम का शहर वही

है, जिसका दूसरा नाम 'आर्यना वीजो' है। डा० स्पीगल ने कई प्रमाणों से सिद्ध किया था कि पारसी धर्म के संस्थापक जरदुश्त और यहूदी धर्म के संस्थापक अब्राहम का समय एक ही है—और वह ईसा से लगभग १९७० वर्ष पूर्व है। दोनों का निवास भी एक ही प्रदेश में था। यहां तक तो बात बहुत सम्मत है—परन्तु आर्यनम् और हरन का एक होना बहुत लोग स्वीकार नहीं करते थे। प्रो० मैक्समूलर ने डा० स्पीगल के सिद्धान्त पर बहुत सी आशंकाएं उठाई थीं। परन्तु उसके पीछे के विद्वानों ने स्थान और समय की तुलना करके इस सम्भावना को बहुत जबरदस्त कहा है कि आर्यनम् और हरन एक ही स्थान है—और यहां दोनों आचार्य एक ही समय में रहे हों। पारसी और यहूदी धर्म में परस्पर समानता होने का पहला कारण यही सम्भव है कि उनके संस्थापक एक ही समय एक ही स्थान में रहे—और कोई आश्चर्य नहीं कि एक ही गुरु से पढ़े हों।

इन दोनों धर्मों का परस्पर सम्बन्ध यहीं समाप्त नहीं होता। ईसा से पूर्व पांचवीं सदी में ईरान के राजा साइरस ने बैबीलोनिया के साम्राज्य का नाश किया, और यहूदी लोगों को कैदखाने से छुड़ा कर जेरूसलम में फिर से स्थान दिया ताकि वह लोग हिब्रू साहित्य को पुनर्जीवित कर सकें। वहां, ईरान के राजा की रक्षा में रहकर इजरा और नहेमिया ने पुरानी बाइबिल का संस्करण किया और इसी समय 'पन्टाट्यूक' की रचना हुई। क्या यह अधिक सम्भव नहीं कि ऐसी दशा में यहूदियों के धार्मिक सिद्धान्तों पर जिन्दावस्ता के प्रबल संस्कार हों?

इतना ही नहीं—इन दोनों धर्मों का परस्पर सम्बन्ध और भी आगे चलता है। ईसा से तीन सदियां पूर्व सिकन्दरिया में अवस्ता और पुरानी इञ्जील दोनों का ग्रीक भाषा में अनुवाद हुआ। उस समय उस इतिहास प्रसिद्ध नगर में दोनों ही धर्मों के मानने वाले लोग एकत्र थे और यह कुछ असम्भव नहीं कि उस समय पारसी धर्म के सिद्धान्तों का प्रभाव यहूदी धर्म पर पड़ा हो।

दोनों के सिद्धान्तों को मिलाएं तो यह सम्भावना निश्चित ज्ञान के रूप में परिणत हो जाती है। फिर—

१ पारसी धर्म का आधार शास्त्र इस कल्पना के साथ शुरू होता है कि संसार में दो शक्तियां हैं—एक अच्छी है जिसका नाम अहुरमज़्दा [महान् असुर] है। दूसरी बुरी है, जिसका नाम अंगिरा मन्यु [अंगारमन्यु—तीव्र क्रोध] है।

यहूदी धर्म का धर्म शास्त्र भी 'गौड' और 'डेविल' खुदा और शैतान से प्रारम्भ होता है। पारसी धर्म में आंगिरा मन्यु को 'जलता हुआ सांप' कहा है, यहूदी धर्म में भी वह मनुष्य को सांप के रूप में ही दर्शन देता है।

क्या पारसी, क्या यहूदी और क्या महम्मदी धर्म में, दो शक्तियों की कल्पना वेदों की वृत्रासुर युद्ध की कल्पना से ही प्रादुर्भूत होती है।

२ ईश्वर—पहली शक्ति अच्छी है, जिसका नाम अहुरमजद या खुदा है। पारसी और यहूदी धर्मों में ईश्वर विषयक विचारों की जो समानता है वह नीचे दिये हुए डा० हाग के शब्दों में भली प्रकार दिखाई देगी। आप अपने Essays के ३० वें पृष्ठ पर लिखते हैं—

'स्पिताम जरदुश्त का परमात्मा सम्बन्धी विचार पुराने टेस्टामेण्ट के इलोहियम या जहोवा सम्बन्धी विचारों के बिल्कुल समान है'।

डा० स्पीगल की तो यहां तक राय है कि अहुर और जहोवा शब्द भी समान ही है। आपका निम्नलिखित वाक्य प्रो० मैक्समूलर ने अपनी 'Chips from a German Workshop' नाम की पुस्तक में उद्धृत किया है—

'अहुर' और अहु इन दोनों शब्दों का अर्थ 'स्वामी' है, उनका धातु 'अह' (संस्कृत 'अस') होना चाहिये, जिसका तात्पर्य है—होना। जहूवा का अर्थ भी यही है कि 'जो है'"।

३ दोनों धर्मों के देवता भी समान हैं—और इसमें सन्देह नहीं कि वह यहूदी धर्म में पारसी धर्म से लिये गये हैं। इस सम्बन्ध में हम श्रीयुत् गंगाप्रसाद एम ए की 'Th Fountain Head of Religions' से डा० सेल का एक वाक्य उद्धृत करते हैं। आप लिखते हैं—

"यहूदियों ने उन प्रतिनिधि (देवताओं) के नाम और काम पारसियों से सीखे थे—जैसा कि वह स्वयं स्वीकार करते हैं (रोस्थाहान म टालमड हीरोज), पुराने पारसी देवताओं की सार्थकता और अधिप्रातृत्व में पूरा विश्वास रखते थे, जैसा मगरियन लोग अब तक मानते हैं, इस लिये उन्हें जुदा २ काम और जुदा २ प्रान्त दे देते थे, उनके नामों पर ही महीनों और महीनों के दिनों के नाम रखते थे। गैब्रील को वह मास्श पुकारते थे, और जिसे वह मरीद या मौत के देने वाले कहते थे, उससे बिल्कुल उल्टा वह रवनबख्श या प्राण देने वाला कहते थे।

माइकेल को वह अस्तर पुकारते थे, जो उनकी सम्मति में मनुष्य जाति के जीवन निर्वाह का सामान इकट्ठा करता है।' इत्यादि।

इस पर टिप्पणी व्यर्थ है।

४ दानों हा धर्मों में माना गया है कि सृष्टि रचना छः दिनों में हुई। स्वर्ग नरक के विचार भी दोनों के प्रायः समान हैं। जरदुश्त और मोजज दोनों हो को परमात्मा ने पहाड़ पर धर्म का आदेश दिया था।

इस प्रकार बहुत सी समानताये हैं जो डा० हाग और डा० ए कोहट आदि विद्वानों के ग्रन्थों में बहुत विस्तार से पायी जाती हैं और जिनका भावपूर्ण सग्रह श्री गंगा-प्रसाद एम ए की योग्यता पूर्ण पुस्तक The Fountain Head of Religions में किया गया है। इस पुस्तक से इस विवेचना में खुली सहायता ली गई है।

इस विवेचना से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि पारसी धर्म और यहूदी धर्म एक ही तने की दो शाखायें हैं। यह न केवल समकालिक है—समानेतिहास भी हैं। दोनों में समानता अन्यथा सम्भव नहीं। यह हम देख आये हैं कि पारसी धर्म वैदिकधर्म का एक रूपान्तर मात्र है। इस युक्ति शृंखला से यहूदी धर्म का वैदिक धर्म का रूपान्तर होना स्पष्ट सिद्ध है।

ईसाई धर्म

ईसा यहूदी धर्म में पैदा हुआ—और उसी में पला। वह पुरानी बाइबिल को मानता था—और ईसाई आज तक उसे पूज्य मानते हैं। ईसा ने यहूदियोंके उस समय विद्यमान सिद्धान्तों को अपने नये विचारों का आधार बनाया। जो कुछ उसने कहा वह एक सुधारक की दृष्टि से था—निर्माता की दृष्टि से नहीं। यहूदी धर्म पर पोलिश कर देने से ही ईसाई धर्म बन गया—इसमें सन्देह नहीं।

यहूदी धर्म और ईसाई धर्म का परस्पर कारण कार्य भाव ऐसा सर्व सम्मत है कि उसके सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। असली वृक्ष यहूदी धर्म का ही था—जिस पर पैवन्द लगने से ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है। यह विषय निर्विवाद है। विवाद है तो इस पर कि वह पैवन्द कौनसा था जिसने यहूदी धर्म को ईसाई धर्म बना दिया? हमें वह प्रभाव ढूंढना चाहिये जिसने इस नये विश्वव्यापी धर्म का जन्म दिया।

एक और भी जरूरी प्रश्न है। समझा जाता है, और बहुत से विद्वान इस विचार की पुष्टि करते हैं कि बाइबिल से ईसा का जो जीवन चरित प्रतीत है वह ठीक नहीं है। कई विद्वान कहते हैं कि क्राइस्ट कोई था ही नहीं—क्राइस्ट की कल्पना पीछे से की गई। इसी मत को मानने वाले कई विचारक-पुरुषों ने तो क्राइस्ट को कृष्ण का रूपान्तर माना है जो विविध प्रकार के मत इस सम्बन्ध में पाये जाते हैं, वह हम Early Christianity के लेखक M S B Slack के शब्दों में उद्धृत करते हैं। आप लिखते हैं—

The outher would, however not be justified in ignoring the fact that there is another group of critics who reject the Gospels as altogether unhistoricel The first scientific historion who took up this position was Bruno Bauer, who hah the misfortue to live before his time Among other more or less pronounced opponets of the 'historical' school are Frazer (The Golden Bough) Robrtson (Pagan christs) Mead (Did jesus live 100 B C ?) kalthoff, Jensen (who regards the Nem Testament narrative as a variation of the Babylonian myth of Gilgames and Tiamat) Balland & W B smith (Der vorcltristliche jesus) Gurkel, who speaks with great moderation, says that christology of Paul and John can not have been derived frem the Jesus of the Gospels, nor can it have been the product of their own reflections, on the contrary it existed before their time, and in all its essential elements parallels can be found in othere religions Some critics go so for as to suppose that there never was any historical Jesus at all, others think that though the Jesus on whom the synoptical Gospels speak once lived, never the less the life of jesus as there described, has only a remote resemblance to that of the real jesus

" किन्तु ग्रन्थकर्त्ता को यह लिखने की भी उपेक्षा न करनी चाहिये कि एक ऐसे समालोचकों का भी समूह है जो गौस्पल को ऐतिहासिक नहा मानता। पहला वैज्ञानिक इतिहास वेत्ता जिसने यह स्थिति ली थी 'बूनी' बायर था जो दुर्भाग्यवश अपने समय से पूर्व आगया था। इस ऐतिहासिक पक्ष के न्यूनाधिक अन्य स्पष्ट विरोधियों में से कुछ यह हैं। फ्रेजर (दि गोल्डन बौ) राबर्टसन (पैगन क्राइस्ट) मीड (क्या जीसस ईसा से १०० वर्ष पहिले उत्पन्न हुआ था ?) कल्थोफ जसन (जो न्यूटस्टामेन्ट की कहानी को बैबीलोनिया के गिलोमस और तियामत की कहानी का रूपान्तर कहता है) बौलैंयट और वी वी स्मिथ (Der vorchristliche jesus) गन्कल, जो बहुत नर्मी के साथ लिखता है, कहता है कि पाल और जान की ईसाइत ईसा और गौस्पल से नहीं पैदा हुई, और न ही वह उनके दिमाग का नतीजा थी। पुल्टाइस के, वह उस से पूर्व विद्यमान थी, और सभी आवश्यक विषयों में अन्य धर्मों में समानतायें मिल सकती हैं। कई लेखक तो यहां तक कहते हैं कि ईसा कोई था ही नहीं, दूसरे समझते हैं कि यह ईसा या तो सही जिसका हाल साइनिक बताती है, किन्तु वहां ईसा की जैसी जीवनी लिखी है, वह असली जीवनी से थोड़ा ही साम्य रखता है'।

पढ़ने से [illegible] चकित हो जायेंगे। उनको पढ़ कर देखिए कि [illegible] किस रूप पर बनाया गया है। यदि ईसा के [illegible] में कोई भी [illegible] चरित्र का [illegible] है तो वह बौद्धानुरूप है। दोनों के चरित्रों में जो समानताएं हैं उनमें से कुछ एक यहां उद्धृत करते हैं—

दोनों की उत्पत्ति आश्चर्यजनक कही गई है। दोनों की उत्पत्ति के समय दिव्य लक्षण दिखाई देते हैं।

गौतमबुद्ध की उत्पत्ति के समय असित ऋषि उनका भविष्य बतलाने के लिये राजगृह में आते हैं, और क्राइस्ट के उत्पन्न होने पर जेरूसलम के पूर्व से एक बुद्धिमान पुरुष आता है और पूछता है कि वह कहां है जो यहूदियों का राजा बनकर पैदा हुआ है।

बुद्धदेव को मार काम के आक्रमणों का सामना करना पड़ा तो ईसा पर शैतान ने धावे किये, और पराजय हुआ। दोनों ही महापुरुषों के बारह शिष्य थे। दोनों का दया भाव समान था—दोनों के दया के कार्य सदृश थे।

दोनों के जीवनों में इतनी समानता है कि स्वतन्त्र विचारक कौंसट कैमिली डिंगिनी अपनी जीसस क्राइस्ट नाम की पुस्तक में निम्नलिखित शब्द लिखने पर बाधित हुआ है

'हिन्दू त्रिमूर्ति का एक देव कृष्ण कुछ सदियां पूर्व उत्पन्न हुआ था, उसी प्रकार ईसा से कुछ सदियां पूर्व भारत के गार में, एक कुमारी के पेट से एक देवता उत्पन्न हुआ, और उसी प्रकार ईसा भी बेतलहम में उत्पन्न हुआ। यह देवता—गौतम शाक्य मुनि जानता था कि मनुष्य जाति की स्थिति के भार दुःख जगा हुआ है, इन सब दुःखों का कारण हमारी बनी हुई इच्छाएं और दुर्वासनायें हैं इत्यादि'।

"जीसस क्राइस्ट चालीस दिनों तक जंगल में रहा था, शाक्य मुनि ईसा से छ सदियां पूर्व, ४६ दिनों तक जंगल में बोधि वृक्ष के नीचे व्रत और ध्यान में लगा रहा था और मार के आक्रमणों और प्रलोभनों को सफलता पूर्वक रोकता रहा था। वहां से वह बनारस को गया—जैसे पीछे से ईसा गेलिली को गया और अपने सिद्धांतों का शिष्यों को उपदेश दिया, वही शिष्य बौद्ध धर्म नाम के नये धर्म के संस्थापक हुए।"

इस उद्धरण में कई ऐतिहासिक भूलें हैं। गौतमबुद्ध उस प्रकार ईश्वर के अवतार नहीं माने जाते, जैसे ईसा माना जाता है। कृष्ण और बुद्ध कुमारी के पुत्र नहीं थे, परन्तु इनके अतिरिक्त बुद्ध और ईसा के जीवनों में इतना साम्य है कि जिस पर विश्वास करना भी कठिन है। हम कुछ समानतायें यहां पर दिखाते हैं—

(१) दोनों की उत्पत्ति अद्भुत है। दोनों की उत्पत्ति के समय विलक्षण शकुन दिखाई दिए और दोनों का ही एक २ नक्षत्र स्वामी था।

(२) गौतमबुद्ध की उत्पत्ति पर असित ऋषि मंगल सूचना देने के लिये आया था और ईसा के उत्पन्न होने पर भी पूर्व से एक बुद्धिमान् का आना लिखा है।

(३) दोनों पर ही तपस्या के समय मार या शैतान के आक्रमण हुए जिनमें आक्रमणकारी नाकामयाब रहा।

(४) गौतम और ईसा दोनों ही के १२ शिष्य थे।

सिद्धान्तों की समानता

यह तो है संस्थापकों के चरितों में समानता। अब दोनों के धर्मों के मुख्य सिद्धांतों की आलोचना करें तो समानता और भी गहरा दिखाई देती है। हम कुछ समानतायें यहां उद्धृत करते हैं—

(१) बौद्ध और ईसाई धर्म में धार्मिक सिद्धान्तों के वर्णन की एक ही रीति का अवलम्बन किया गया है।

(२) दोनों धर्मों ने ही प्रेम धर्म का प्रचार किया है।

(३) दोनों ही धर्म शब्दमय जीवन की अपेक्षा क्रियात्मक जीवन पर अधिक बल देते थे।

(४) दूसरों की भलाई का सिद्धान्त दोनों ही धर्मों को माननीय था।

(५) पुराने बौद्ध मन्दिरों की बनावट के साथ, रोमन कैथोलिक गिर्जों की बनावट, कई समानतायें रखती है।

(६) बौद्धों और रोमन कैथोलिक ईसाइयों के पूजा के रीति रिवाज आपस में बहुत मिलते हैं।

(७) प्रतिमा पूजा की रीति ईसा से पूर्व बौद्ध लोगों में विद्यमान थी।

यहां हमने थोड़ा सा उल्लेख किया है, मि० आर्थर लिली आदि विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में बहुत ही विस्तार से इस विषय की विवेचना करके दिखाया है कि ईसाई धर्म बौद्ध धर्म का पुत्र था। दोनों धर्मों की समानता आकस्मिक नहीं हो सकती। यदि यह आकस्मिक योजना हो तो मि० गिसडेरिट्स के कथनानुसार यह एक भारी योजना, जो दस हजार योजनों के बराबर है। रिन्स डाइल्स और आर दत्त आदि विद्वानों ने इस बात को कई प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि ईसाई मत बौद्ध मत से बहुत अधिक वाक्य लिये हुए हैं।

यहूदी धर्म और इस्लाम

इस्लाम कोई नया धर्म नहीं है। हजरत मुहम्मद ने किसी बिल्कुल नवीन धार्मिक सचाई का आविष्कार नहीं किया। यह कोई नई बात नहीं है, स्वयं मुसल्मान विद्वान इसे स्वीकार करते आये हैं। मुहम्मद ने यहूदी धर्म की सचाइयों को नये रूप में प्रकाशित किया था। वह जब व्यापार के प्रसंग से दूर देशों में जाता था तब यहूदी लोगों से प्रायः मिलता था। उन्हीं के सिद्धान्तों को समय और देश की आवश्यकताओं के अनुसार हजरत मुहम्मद ने प्रकाशित किया। स्थान और देश को मुहम्मद ने ऐसा समझा, और अपने प्रचार में इतना जोर डाला कि जो एक पुरानी चीज थी, वह नई होकर संसार में फैल गई, और इस जोर से फैली कि संसार को आश्चर्यित कर दिया।

कुरान के सभी मुख्य २ सिद्धान्त यहूदियों के सिद्धान्तों पर आश्रित हैं। कुरान के अनुवादकर्ता डा० सेल ने बड़ी सुन्दरता से दिखाया है कि कुरान के गौण और मुख्य सिद्धान्त नए नहीं हैं। जिस समय हजरत मुहम्मद ने अरब में इस्लाम का प्रचार किया, उस समय अरब में यहूदी और ईसाई धर्म का खासा प्रचार था, 'मुहम्मडनिज्म' नाम की पुस्तक में मि० मार्गोलियोथ ने उस समय के अरब का वर्णन करते हुए लिखा है—

"अरब में और निकटस्थ कई सूबों में ईसाई धर्म और यहूदी धर्म—दोनों के ही प्रतिनिधि विद्यमान थे। एक तीसरा एकेश्वरवादी सम्प्रदाय भी, जो सैबियन या मण्डेन कहलाता था, विद्यमान था। यहूदी लोग अपने पलस्तीन या पार्थिया के भाइयों से जुदा रहते थे। यदि इस्लाम का इतिहास न होता तो किसी को उनके होने का भी पता नहीं लगता। बाइजण्टाइन साम्राज्य ने ईसाई धर्म को राजधर्म बना लिया था—

स्लाम के आने से कुछ समय पूर्व ही तिरोहित हुआ था, बहुत सी ईसाई जातियां रब में विद्यमान थीं"

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस्लाम की उत्पत्ति के समय अरब में यहूदी और साई धर्मों का प्रभाव काफी था। इनके आगे हम संक्षेप से देखेंगे कि इस्लाम के सिद्धान्त का इन दोनों धर्मों के सिद्धान्तों से क्या सम्बन्ध है ?

(१) खुदा और शैतान—इस्लाम का ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त यहूदियों से ही लिया गया है। ईश्वर के गुण दोनों में एक से ही माने जाते हैं। दोनों में ही ईश्वर के साथ एक दूसरी शक्ति भी मानी जाती है, जो ईश्वर की शक्ति को निकम्मा बनाती रहती है। यह शक्ति शैतान की शक्ति है। खुदा और शैतान का जोडा इस्लाम से पूर्व यहूदियों के यहां माना जाता था। यहूदियों ने यह सिद्धान्त जरदुस्त के सिद्धान्तों से लिया था।

(२) सृष्टि की उत्पत्ति—यहूदी धर्म सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में कुछ विलक्षण विश्वास रखता है। उनमें से कुछ यह हैं। सृष्टि कुछ नहीं से उत्पन्न हुई है, यह एक ही सृष्टि है जो उत्पन्न होकर समाप्त हो जायगी। आदम और हव्वा अदन के बाग में रहते थे, पीछे वह स्वर्ग से गिर कर भूमि पर आये। फरिश्ते आस्मान में रहते हैं। यह सब यहूदी धर्म के विश्वास हैं। इनको जैसे का तैसा इस्लाम में ले लिया गया है।

(३) सृष्टि का अन्त—यहूदी धर्म सृष्टि के अन्त के बारे मे यह विश्वास रखता है कि मनुष्य का आत्मा अमर है, वह मरने के पीछे बैठा रहता है, सृष्टि के अन्त में सब आत्मा अपने २ कर्मों का हिसाब देने के लिए ईश्वर के सामने आते हैं। जब वह दिन पास आयगा तब सूर्य पश्चिम से उदित होगा, एक विशेष जन्तु उत्पन्न होगा जो सचाई का प्रचार करेगा, एक ढोल तीन बार बजेगा—तब खुदा अपने सिंहासन पर बैठकर न्याय करेगा। यह सब विचार यहूदी धर्म के हैं जिन्हें थोड़े से उलट फेर के साथ इस्लाम में ले लिया गया है।

(४) यहूदियों और मुसल्मानों के स्वर्ग और नरक भी प्राय एक से ही हैं।

(५) मुसल्मानों के चार मुख्य धार्मिक कर्तव्य हैं। इबादत, रोजा, दान और हज या तीर्थ यात्रा। डा० सेल ने कुरान के अनुवाद की भूमिका में बड़े विस्तार से दिखाया है कि यह चारों बातें मुसल्मानों ने यहूदियों से सीखी है।

(६) बहु विवाह और तलाक़ बहु विवाह और तलाक़ के सिद्धान्त मुसल्मानों ने यहूदियों से लिये हैं। मुहम्मद से पूर्व ही यहूदी लोग इन दोनों रीतियों को मानते और व्यवहार में लाते थे।

छठा परिच्छेद।

मध्यकालिक हिन्दू धर्म

हमने बताया था कि वेद की विचारपरम्परा तीन हिस्सों में बांटी गई है १ ज्ञान २ कर्म और ३ उपासना। 'ज्ञान' और 'उपासना' का विस्तार उपनिषदों और 'कर्म' का विस्तार ब्राह्मण ग्रन्थों में किया गया, और आगे चलकर 'कर्मकाण्ड' की पुष्टि के लिये गृह्य तथा श्रौत सूत्रों की रचना हुई। विचार धारा दो हिस्सों में निकली। समय पाकर दोनों ही धारायें कलुषित हो गईं। 'ज्ञान धारा' विकृत हुई ऐसे मुमुक्षु पैदा हो गये, जो शुभ कर्मों के बिना ही परमात्मा के दर्शन करना चाहते थे, और कर्मधारा' विकृत हुई तो ऐसे याज्ञिकों का पन्थ चल पड़ा जो जन्म भर की खटपट में ही लगे रहते थे, शेष सब सत्कर्म उनके लिये मानो रहे ही नहीं। इन दोनों बुराइयों के विरुद्ध महात्मा बुद्ध खड़े हुए, और कर्म प्रधान बौद्ध धर्म को उत्पन्न किया।

महात्मा बुद्ध ने भारत के मध्यभाग में घूम कर खूब प्रचार किया। उस समय में उनका केन्द्र वर्तमान बिहार प्रान्त था। वह महात्मा के जीते जी उनके धर्मोपदेशों से प्रभावित होगया, परन्तु देशव्यापी प्रभाव बिगड़े हुए रूप में प्राचीन आर्य धर्म का ही था। पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य का आधिपत्य हो जाने पर सारा देश एक ही छत्रच्छाया में आगया। उसके पौत्र अशोक वर्धन ने बौद्ध धर्म को भारत भर में फैलाने के अतिरिक्त देश देशान्तरों में भी उसका प्रचार किया। उस समय से बौद्ध धर्म भारत का मुख्य धर्म होगया। ईसा से लगभग २४० वर्ष पूर्व भारत के प्राचीन धर्म का बौद्धसंस्कार पूरा हो चुका था।

यह कहना बहुत कठिन है कि बौद्ध धर्म के उत्पत्तिकाल में हिन्दू धर्म ठीक किस अवस्था में था। बौद्ध ग्रन्थों से थोड़ा बहुत अनुमान ही लगाया जा सकता है। इस क्षेत्र में ब्रह्म और जीव के ज्ञान पर अधिक बल दिया जाता था। कर्महीन वैरागियों का पन्थ चल चुका था। शरीर को तपाने या क्लेश देने का नाम तपस्या रखा गया था। जन्म से ही जाति का महत्व माना जाता था। बहुत विस्तृत केवल क्रिया से युक्त यज्ञों को स्वर्ग का साधन बनाने वाले लोग कुछ कम नहीं थे। यज्ञों में हिंसा होती थी। इतने संक्षिप्त वर्णन से ही प्रतीत हो सकता है कि उस समय का धर्म कैसा था? और उसमें कैसे परिवर्तन पैदा हो चुके थे?

देवमाला के विकास का प्रश्न हरेक साहित्य और धर्म के इतिहास में एक विशेष स्थान रखता है । देवमाला के विकास की जाच करने से जाति के धर्म की जांच स्वय ही हो जाती है । हम भारतवर्ष में धार्मिक विकास के इतिहास को देखना चाहें तो देव माला के निर्माण की कथा हमारे लिए बहुत सहायक हो सकती है । वही अर्वाचीन स अर्वाचीन हिन्दू धर्म को प्राचीन से प्राचीन आर्य धर्म से जोड सकती है । मध्य कालीन हिन्दू धर्म की उत्पत्ति पर विचार करते हुए यदि हम देवमाला को केन्द्र बनालें तो कोई हानि नहीं हो सकती, उल्टा लाभ ही होगा ।

पौराणिक देवमाला का बीज वेदों में ही मिल जाता है । बहुत विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है । इतना ही निर्देश कर देना पर्याप्त है कि पौराणिक देवमाला के मुख्य २ सभी नाम वेदों में मिलते हैं । विष्णु, रुद्र, इन्द्र, अग्नि, वायु, वरुण, यम, मरुत् आदि पुराण प्रसिद्ध देवता वेदों के मन्त्रों में गाये गये है, भेद केवल इतना ही है कि वेद में यह जहा आध्यात्मिक अर्थों में प्रयुक्त होते है वहा एक ही ईश्वर के भिन्न २ गुणों के कारण भिन्न २ नाम है । वेद का निम्नलिखित मन्त्र हमारे अभिप्राय को स्पष्ट कर देता है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।

ऋ० । १ । १६४ । ४५

यह एक है, परन्तु उसे विद्वान् लोग भिन्न भिन्न नामों से स्मरण करते हैं । इन्द्र, मित्र वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा—यह सब उसी तेजस्वरूप परब्रह्म के नाम है । वेदों के समझने के लिए यह मन्त्र चाबी का काम दे सकता है । इसे ध्यान में रखिये, सब कठिनाइयां हल हो जायगी, इसे भुला दीजिए, वेद एक अजायबघर सा प्रतीत होने लगेगा । कहीं एकेश्वरवाद, कहीं अनेकेश्वरवाद, कहीं अनन्तेश्वरवाद—सभी परस्पर विरुद्ध बातें वेद में दिखाई देने लगेंगी ।

वेद में एकेश्वरवाद है । भिन्न २ शक्तियों के कारण एक ही ईश्वर की भिन्न २ नामों से स्तुति और प्रार्थना पाई जाती है । यह एक आवश्यक प्रश्न है कि स्वयं वेद में एकेश्वरवाद का स्पष्ट प्रतिपादन रहते हुए धीरे २ अनेकेश्वरवाद और देवमाला की कल्पना कैसे होगई ? ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें वेद के देवता शब्दों की व्युत्पत्तियां मिलती हैं, और उनकी व्याख्या भी मिलती है । साथ ही ब्राह्मण ग्रन्थों में अर्थवाद और इतिहास भी मिलते हैं । हम पहले कह आये हैं कि इन अर्थवादों और इतिहासों से ही देवमाला की

बुनियाद पड़ी। छोटी २ बातों को—धर्म की प्रत्येक विधि को समझाने या भक्ति सिद्ध करने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में छोटे २ दृष्टान्त दिये गये, जिनमें स्वभावतः परन्तु दुर्भाग्यवश वैदिक परिभाषाओं का ही प्रयोग किया गया। देव असुर अग्नि वरुण इत्यादि के नाम देकर ही दृष्टान्त घड़े गए, यही अनर्थ का मूल हुआ। छोटे २ दृष्टान्तों पर कल्पनाशील कवियों की कल्पना का पैबन्द लगा, और जो केवल कल्पित दृष्टान्त थे, वह धार्मिक सिद्धान्तों के रूप में आने लगे। बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के समय देवता सम्बन्धी कल्पना की क्या दशा थी, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, क्योंकि उस समय का कोई ऐतिहासिक या केवल धार्मिक ग्रन्थ भी अपने विशुद्ध रूप में प्राप्त नहीं होते। व्याकरण तथा दर्शनों के ग्रन्थ मिलते हैं, परन्तु वह केवल इशारा दे सकते हैं, पूरा समाचार नहीं सुना सकते। महाभारत और रामायण अवश्य ही कुछ सहायता दे सकते यदि पौराणिक काल में उनका पूरा २ नया संस्कार न हो गया होता। हम जानते हैं कि ईसा से चार चार सौ वर्ष पीछे उन दोनों महाकाव्यों का पुनः संस्कार हुआ। ऐसी दशा में उन्हें बौद्ध धर्म से पहले के धार्मिक विचारों का चित्र नहीं समझ सकते। जहां तक बौद्ध ग्रन्थों के देखने से विदित होता है, उस समय वेदों के देवताओं की जुदा २ सत्ता अवश्य मानी जाने लगी थी। महात्मा बुद्ध के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले जातक ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं। उनमें इन्द्र आदि देवताओं की चर्चा चलती है, परन्तु वह देवता बिलकुल मनुष्य देहधारी प्रतीत नहीं होते। अभी तक अवतारों की कल्पना का कहीं पता नहीं है। प्रतीत होता है कि देवताओं के मनुष्यलोक की छोटी छोटी बातों में दखल देने की कल्पना भी अभी नहीं घड़ी गई थी। मनुष्यसदृश देव कल्पना एक सन्दिग्ध या विवादग्रस्त सिद्धान्त के रूप में पैदा हो चुकी थी, यह नहीं कह सकते।

बौद्ध धर्म देश भर में फैल गया। उसने कर्मवाद पर बल दिया और आध्यात्मिक कल्पना को शिथिल करने का यत्न किया। गौतमबुद्ध ने ईश्वर जीव और प्रकृति के सूक्ष्म विचारों की उपेक्षा करके शुद्ध जीवन की आवश्यकता पर बल दिया। थोड़ी देर के लिये बहुत गहरी कल्पनायें धर्म के क्षेत्र से निर्वासित कर दी गईं परन्तु असम्भव को बुद्धदेव भी सम्भव न बना सके। अध्यात्म और अतीत कल्पना के बिना मनुष्य का पेट पूरा नहीं होता। उसके हृदय और दिमाग में परोक्ष के लिये एक खाली जगह विद्यमान है। वह किसी न किसी तरह अवश्य पूरी होगी। जो बौद्ध धर्म परोक्ष कल्पनाओं की उपेक्षा करके जीवन सुधार के लिये पैदा हुआ था, उसमें भी बेहद अतीत कल्पना की गई। उस समय की प्रचलित देवमाला को गौतमबुद्ध के चरित में शामिल कर दिया गया। विष्णु और रुद्र के स्थान पर बुद्ध को रख दिया गया। अनेक देवताओं का स्थान गौतम बुद्ध के अनेक जन्मों और अनेक रूपों ने ले लिया। और २

ईश्वर का स्थान बुद्ध ने ले लिया, और शेष देवताओं के स्थान पर बुद्ध के अनेक रूप स्थापित किये गये। एक प्रकार से बिगड़े हुए आर्य धर्म का बौद्ध-भाषा में अनुवाद कर दिया गया। धर्म को और भी अधिक मानव रूप में लाकर जनता के सामने रखा गया।

बौद्ध धर्म के प्रचार ने एक और परिवर्तन पैदा कर दिया। संस्कृत के स्थान पर मगध की प्रचलित लोकभाषा का प्रयोग होने लगा। भारत में बौद्ध धर्म का युग संस्कृत की अवनति का युग है।

मौर्य साम्राज्य के क्षय के साथ भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास आरम्भ हुआ। पाटलिपुत्र के अन्तिम मौर्य राजा को मार कर शुंग वंश का राजा पुष्यमित्र राजगद्दी पर बैठा। वह प्रतिक्रिया का अग्रदूत था। प्रतीत होता है कि उसे नए साम्राज्य के जमाने में धार्मिक विद्रोह ने भी काफी सहायता दी। राजा पुष्यमित्र के सम्बन्ध में पुराणों तथा अन्य ग्रन्थों में जो इतिवृत्त मिलते हैं, उनसे प्रतीत होता है कि उसने राजसूय यज्ञ किया, और बौद्ध धर्म के विरोध में संस्कृत भाषा और बुद्धदेव से पहले का जो धर्म था उसे जगाने का यत्न किया। इस समय (१८४ ई० पू०) से लेकर गुप्त साम्राज्य के अन्त (५५० ई०) तक हमें उसी धर्म का प्राधान्य मिलता है।

पुष्यमित्र के समय बौद्ध धर्म के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया आरम्भ हुई, उसने पुराने बिगड़े हुए वैदिक धर्म पर अपना स्थिर सिक्का छोड़ दिया है। बौद्ध धर्म धीरे २ भारत से विलुप्त होगया, परन्तु अपने प्रभाव से आर्यों के धर्म को आच्छादित कर गया। बुद्ध से पहले का वैदिक धर्म बिगड़े हुए रूप में भी कुछ और था, पुष्यमित्र के काल से वैदिक धर्म जिस रूप में आने लगा वह बिल्कुल दूसरा था। बौद्ध धर्म ने उस पर जो २ स्थायी प्रभाव छोड़े, उनमें से कुछेक का यहां परिगणन किया जाता है।

(१) बौद्ध धर्म ने ईश्वर के स्थान पर मनुष्य की पूजा चलाई। बौद्धों में गौतम बुद्ध की मूर्ति की पूजा होने लगी थी, इस पूजा ने अशिक्षित लोगों के हृदयों पर असर किया। जब प्रतिक्रिया आरम्भ हुई तब बौद्धधर्म के विरोधियों को आवश्यक प्रतीत हुआ कि वह एक चिन्ह के स्थान पर दूसरा चिन्ह रखें ताकि अशिक्षित जनता को खींच सकें। इस प्रकार मनुष्यदेहधारी देवताओं की कल्पना हुई, और मूर्ति पूजा का बीज बोया गया।

(२) बौद्ध जातकों में गौतमबुद्ध के महत्व को बढ़ाने के लिए अन्य जन्मान्तरों की कल्पना की गई थी। यह कल्पना लोगों के दिलों में घर कर गई। अवतारवाद का स्पष्ट रूप में जन्म इसी समय से हुआ है।

(३) [illegible] के स्थान में मनोरञ्जक पुराण लिखे गये। यहां

अधिक ऐतिहासिक प्रमाण देने अनावश्यक हैं। पुराणों के अन्दर ऐसी गवाहियां पड़ी हुई हैं जिनसे सिद्ध होता है कि पुराण ग्रन्थों की रचना मुख्यतया इसी काल में हुई।

(४) संस्कृत भाषा का भाग्य इस काल में खूब ही चमका। साधुगण का दमत पातञ्जल महाभाष्य बहुत से विद्वानों की राय में इसी समय लिखा गया। भास, कालिदास आदि साहित्यगुरु इसी युग में हुए। अलङ्कृत संस्कृत ने इस समय जन्म लेकर यौवन प्राप्त किया। प्रतीत होता है कि इसी काल में बदली हुई दशाओं के अनुसार रामायण और महाभारत के भी पुनः संस्कार हुए। इस प्रकार बौद्ध धर्म के उत्तर में, उसके प्रभावों से प्रभावित होकर पुराना वैदिक धर्म विकृत होकर पौराणिक धर्म के रूप में परिणत होगया।

भारतीय धर्मों में 'उदारता' का अंश सभी जगह पाया जाता है। बौद्ध धर्म उत्पन्न हुआ परन्तु पुराणों ने विष्णु के दस अवतारों में बुद्ध की भी गिन्ती कर डाली। उधर राजा कनिष्क के समय में (७८ ईस्वी) बौद्ध धर्म ने भारत के, तथा बाहिर के भी, कई धर्मों को मिश्रण द्वारा अपनाने का सूत्रपात कर लिया था। महायान बौद्ध धर्म मिश्रण का नमूना है।

यही उदारता थी जिसने धर्मों का परस्पर संघर्ष होते हुए भी धर्म के कारण अत्याचार नहीं होने दिये, परन्तु साथ ही यह भी कहना पड़ेगा कि इसी उदारता ने भारतवर्ष के धर्म को खिचड़ी और अशुद्ध बनाने में मदद दी। जो कुछ आया, बीच में शामिल हो गया। उदारता का गुण भारतवर्ष के लिये दोष साबित हुआ। विशुद्ध वैदिक धर्म इधर उधर के मिश्रणों के कारण एक खासा अजायबघर बन गया। राजा हर्ष (६०६ ईस्वी) के राज्य काल में धर्म का खूब ही नाटक दिखाई देता है। श्रद्धालु राजा एक रोज शिव की पूजा करता है, दूसरे दिन सूर्य को अर्घ देता है और तीसरे दिन बुद्ध की मूर्ति के सामने सिर झुकाता है।

इस खिचड़ी धर्म को विशुद्ध करने का श्री शङ्कराचार्य ने यत्न किया। उनके दार्शनिक धर्म ने बौद्धों को नास्तिक के रूप में चित्रित करके आर्यकोटि से जुदा कर दिया। उस समय (८०० ईस्वी) में बौद्ध धर्म का प्रभाव बहुत कम होगया। इसमें सन्देह नहीं कि श्री शङ्कराचार्य ने नास्तिकवाद के सामने एकेश्वरवाद को खड़ा करके धर्म की शुद्धता की रक्षा करने का यत्न किया, परन्तु इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि आचार्य ने व्यावहारिक दुनिया को अस्पृष्ट ही छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि उनका विशुद्ध धर्म कुछेक पण्डितों के लिए रह गया, और लौकिक पुरुषों के आचरणों पर उसका कोई असर न हुआ। अद्वैतवाद की कल्पना तार्किक लोगों के लिये बहुत मनोरञ्जक था, परन्तु एक देशी होने के कारण व्यवहार से दूर थी, और जातीय जीवन पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकती थी।

रामानुजाचार्य ने (१०७० ई०—११२८ ई०) अद्वैत या वेदान्त धर्म की एकदेशिता को दूर करके उसे कुछ अधिक व्यावहारिक रूप देने का यत्न किया। भिन्न २ जातियों को मिलाने में भी उन्हें कुछ सफलता हुई परन्तु शीघ्र ही भारतवर्ष को उत्तर से आते हुए इस्लाम के तूफान ने घेर लिया जिससे आर्य धर्म की प्रगति बिल्कुल रुक गई। जैसे बाज को देखकर चिड़िया अपने आपको सभाल कर बैठ जाती हैं, और सिवाय आत्मरक्षा के और कुछ नहीं सोचती, इस्लाम के बवंडर ने भारतवासियों की वही दशा करदी। धर्म की स्वतन्त्र उन्नति (कुछेक दक्षिण के हिस्सों को छोड़कर) रुक गई। आर्य धर्म, जिसे अब हम हिन्दू धर्म कह सकते हैं (क्योंकि मुसल्मानों ने ही हिन्दू शब्द को प्रारम्भ किया) आत्म रक्षा के साधन सोचने में लग गया।

१००० ईस्वी से आज तक आर्य धर्म को लड़ाई करनी पड़ी है। उसे इस्लाम और ईसाइयत के मुकाबिले में आकर अपनी रक्षा के अनेक उपाय करने पड़े हैं। इस युग में बड़ी २ किताबें लिखी गई। व्याकरण और न्याय के धुरंधर पण्डित हुए परन्तु बिना किसी आशंका के कहा जा सकता है कि उनका जाति के धर्म पर या विचारों पर कोई भी व्यापी और स्थायी असर नहीं हुआ। वेदों के मानने वाली जाति एक ऐसी आफ़त में पड़ गई, जिसमें उसे फक्किकाओं की सुध रखना असम्भव प्रतीत होने लगा।

दूसरा खण्ड

ऋषि दयानन्द

अवतरणिका

वैदिक धर्म किस दशा तक पहुंच चुका था, यह हम पहले भाग में लिख आये हैं। उसका विशुद्ध जल प्रवाह किन २ नदी नालों में से होकर वह निकला था, उसका भी दिग्दर्शन कराया जा चुका है। धर्म की दशा पुकार २ कर कह रही थी कि 'कोई आओ और मेरी सुध लो' उस पुकार को भगवान् ने किस प्रकार सुना? इस प्रश्न का उत्तर दूसरे भाग में पढ़िये।

पहला परिच्छेद

जन्म और वैराग्य

—— ० ——

काठियावाड़ प्रान्त में मोरवी राज्य के टंकारा नामक छोटे से ग्राम में अम्बाशंकर नामक एक औदीच्य ब्राह्मण रहता था। १८८१ विक्रमी के पौष मास में उसके यहां एक बालक ने जन्म लिया। बालक का नाम मूल शंकर रखा गया। सन्यास लेने पर इसी मूल शंकर का नाम दयानन्द हुआ। अम्बाशंकर के यहां औदीच्य ब्राह्मण होने पर भी भिक्षावृत्ति नहीं थी, लेन देन का व्यवहार होता था, और रियासत की ओर से जमादारी भी प्राप्त थी, जो तहसीलदारी के बराबर थी।

इस प्रकार एक पुराने ढंग के सामान्य घर में दयानन्द का जन्म हुआ। यह जानने का कोई भी उपाय नहीं है कि दयानन्द के माता पिता किस स्वभाव के थे। यह भी नहीं जाना जा सकता कि बालक मूल शंकर पर प्रभाव डालने वाले गुरुओं में से कोई ऐसा भी था, जिसे 'असाधारण' कह सकें। प्रारम्भिक जीवन की घटनाओं के बारे में हमें जो कुछ भी पता चलता है, स्वामी दयानन्द का अपना कथन ही उसका साधन है, दूसरा कोई नहीं। गुजरातियों में सन्तान प्रेम बहुत अधिक होता है। परम हंस दयानन्द डरा करते थे कि 'कहीं मेरा परिचय पाकर सम्बन्धी लोग न घेर बैठें।' इस डर से वह अपने जीवन के प्रारम्भिक भाग का अधिक परिचय नहीं दिया करते थे। यदि उनके परिवार और शैशवावस्था के वृत्तान्त जानने का कोई साधन होता तो निःसन्देह हमें कई मनोरञ्जक बातें जानने का अवसर मिलता। संसार में आकस्मिक कुछ भी नहीं है। जिन घटनाओं को हम आकस्मिक कहते हैं, उन्हें समझने की शक्ति नहीं है, या साधन नहीं है। शक्ति या साधन के अभाव से बाधित होकर हम अपने अज्ञान को 'आकस्मिक' शब्द के आवरण में छिपाने का यत्न करते हैं। दयानन्द के चित्त में जो २ विचार तरंगें उत्पन्न हुईं, जो २ क्रान्तियां खड़ी हुईं, वह आकस्मिक नहीं थीं, परन्तु हमें यह मान लेना चाहिये कि उनके कार्यों पर पूरा प्रकाश डालने के साधनों का अभाव है। हम नहीं जानते कि मूल शंकर के प्रारम्भिक गुरु कौन थे, और न हमें

ज्ञात है कि उनके खेल के साथी किस आयु के थे ? यह जानने का कोई उपाय है कि दयानन्द में जो दृढ़ता और निर्भयता थी, वह माता की ओर से प्राप्त हुई या पिता की ओर से ? अस्तु। जो नहीं जाना जा सकता, उसे छोड़ कर हम उसकी दृष्टि डालते हैं, जो जाना जा सकता है।

आठवें वर्ष में मूल शङ्कर का यज्ञोपवीत संस्कार किया गया, और गायत्री सन्ध्या आदि कण्ठस्थ कराये गए। प्रतीत होता है कि मूल शङ्कर की स्मरण शक्ति प्रारम्भ से अच्छी थी। यह स्मरण शक्ति प्रचार के दिनों में दयानन्द को प्रतिपक्षियों के आगे असह्य बना देती थी। प्रचार के कार्य में वह ऋषि को बड़े पण्डितों की अपेक्षा अधिक सहायता करती थी। मूलशङ्कर के पिता स्वभाव में कुछ रूखे और कड़े प्रतीत होते हैं। सम्भव है, रियासत की ओर से उन्हें तहसीलदारी का कार्य सौंपा गया था, उसके प्रभाव से उनके स्वभाव में रूखापन आगया हो। उधर मूलशङ्कर की माता प्रेममयी प्रतीत होती है। वह बच्चे से वैसा ही लाड़ करती थी, जैसा लाड़ प्रायः माताएँ किया करती हैं। मूलशङ्कर के अन्य सम्बन्धियों के विषय में हम इतना ही जानते हैं कि उनका एक चाचा था, जो बहुत स्नेह करता था, और अपनी छोटी बहिन से भी बालक का बहुत प्रेम था।

एक ब्राह्मण के बालक को जैसी प्रारम्भिक शिक्षा मिलनी चाहिए, वह मूल शङ्कर को प्राप्त होती रही। १४ वर्ष की आयु तक वह यजुर्वेद संहिता कण्ठस्थ कर चुका था। व्याकरण में भी उसका प्रवेश होगया था। इतना पढ़ लिख लेने पर मूलशङ्कर के पिता ने यह सम्मति बनाई कि अब वह इस योग्य होगया है कि कुछ कुलागत धार्मिक अनुष्ठानों में भी भाग लेने लगे। १८९४ विक्रमी की माघ बदी १४ को शिवरात्रि का व्रत था। शायद ही कोई पुराने ढंग का हिन्दू घराना होगा, जहाँ यह व्रत न माना जाता हो। शिवरात्रि की रात को शिव का पूजन होता है, और जागरण करना पड़ता है। अन्न और नींद—दोनों का इकट्ठा ही त्याग अधिक पुण्यजनक समझा जाता है। अनुभवी लोग जानते हैं, कि बालकों के लिए इनमें से एक चीज का त्याग भी सम्भव नहीं है, फिर जब दोनों का परित्याग किया जाए तो कैसा डरावना बन जाता है। मूल शङ्कर के सामने जब शिवरात्रि का व्रत रखने का प्रस्ताव किया गया, तब वह पहले राजी नहीं हुआ। कोई खास लाभ दिखाई दिये बिना कोई बालक भूख और नींद से लड़ने को तैयार नहीं होता। इन दो शत्रुओं से युद्ध करना तो जवानों और बूढ़ों के लिए भी दुष्कर है—मूल शङ्कर तो अभी १४ साल का निरा बच्चा था। माता ने बालक को अनिच्छा में दो एक युक्तियाँ देकर सहायता दी। 'लड़का अभी छोटा है, इसे दिन में चार बार खाने की आदत है, यह कैसे भूखा रहेगा ? रात को यह पहर से पहले ही सो

जाता है, रात भर कैसे जगेगा ?, हम कल्पना कर सकते हैं कि माता ने प्रेमवश होकर ऐसी ही युक्तियां दी होंगी।

तब पिता ने बालक की कल्पना शक्ति को अपना सहायक बनाने का यत्न किया। शिव का माहात्म्य सुनाया, शिवरात्रि का पुराणों में गाई हुई महिमा बताई, और स्वर्ग के सुन्दर दृश्य रचकर कोमल प्रतिभा को उत्तेजित करने का यत्न किया। यत्न में सफलता हुई। मूलशंकर शिवरात्रि का व्रत लेने के लिए तय्यार होगया। नियत समय पर पुजारी और गृहस्थ लोग मन्दिर में पहुंचकर पूजा आदि कार्यों में लग गये। मूलशंकर अपने पिता के साथ बैठा हुआ सब कुछ देख और सुन रहा था। उसका हृदय दिन में सुनी हुई कहानियों से पूर्ण था, विश्वास और श्रद्धा का अंकुर उत्पन्न होगया था, आशा और सम्भावना से प्रेरित होकर वह व्रत का पूरा पुण्य लूटने के लिए तैयार हो बैठा था।

पूजन होगया। पुजारी और गृहस्थ लोग जागरण के लिए बैठ गये। धीरे २ आंखें मुन्दने लगीं, सिर झुकने लगे, लोग एक दूसरे के कन्धे या छाती पर सिर धर के लुढ़कने लगे। कुछ ही घण्टों में मन्दिर में सन्नाटा होगया, और जो लोग रात भर जाग कर पुण्य लूटने का सङ्कल्प किये बैठे थे, वह निद्रा देवी की सुखमयी गोद का आनन्द लेने लगे। सब सोगये—केवल एक भक्त जागता रहा। वह भक्त बालक मूल शंकर था। उस की दृष्टि बराबर शिव लिंग पर गड़ी हुई थी। वह उस अद्भुत शक्ति सम्पन्न देवता की ओर चावभरी नजर से देख रहा था। देखता क्या है कि मन्दिर में सन्नाटा पाकर चूहे बिलों से निकल आये हैं, मूर्ति के इर्द गिर्द चावल आदि के जो दाने पड़े हैं, उन्हें खा रहे हैं, और बीच २ में ऊपर भी चढ़ जाते हैं। मूल शंकर ने सोचा कि जो महादेव बड़े २ दानवों के व्यतिक्रम को नहीं सह सकता, और त्रिशूल लेकर उन का संहार करता है, वह इन मूसों की सिर पर चढ़ने से तो अवश्य रोकेगा। और कुछ नहीं तो सिर हिला कर ही उन्हें भगा देगा। परन्तु उसने आश्चर्य और विस्मय से देखा कि वह पत्थर पत्थर ही रहा, हिला जुला नहीं। तब क्या यह पत्थर ही वह शिव है, जो कैलास पर निवास करता है, जिसमें संसार का संहार करने की शक्ति है, जिनके त्रिशूल की ज्योति से दानवों के कलेजे कांप जाते हैं? वह कोई और ही शिव होगा—इसमें और उसमें अवश्य भेद है। ये सब विचार मूलशंकर के, तीव्र प्रतिभा से संस्कृत मन में उठने लगे। वह दिन में शिव माहात्म्य सुन चुका था, उसे वह याद आने लगा, और जो कुछ देखा, उसकी रोशनी में सुना हुआ महात्म्य निर्मूल प्रतीत होने लगा।

चिन्तित मूल शंकर ने शंका निवृत्त करने के लिये पिता को जगाया। पिता के पास प्रतिभाशाली पुत्र के गहरे प्रश्नों का उत्तर कहां था? वह जिज्ञासु की जिज्ञासा को तृप्त न कर सका। मूल शंकर निरुत्साहित होकर मन्दिर से घर चला आया, और प्रेम

उसने माँ से अपनी भूख की शिकायत की। 'मैं तो पहले ही कहती थी कि तू भूखा न रह सकेगा' इत्यादि बहुत सी बातें माता ने कही होंगी। माता ने पुत्र को पेट भर कर खिला दिया और बिस्तर पर सुला दिया।

यह घटना मूल शंकर के जीवन में मौलिक परिवर्तन उत्पन्न करने का कारण हुई। मूर्ति पूजा पर से उस की श्रद्धा उठ गई। कई लोग आशंका किया करते हैं कि इतनी छोटी सी बात—और वह भी इतनी छोटी सी अवस्था में—इतना भारी परिणाम कैसे उत्पन्न कर सकती थी? अनुभव से देखा गया है कि ऐसी छोटी बातें छोटी अवस्था में ही इतने प्रभाव उत्पन्न करती हैं। उस समय बालक की बुद्धि बड़ी नर्म होती है, उस पर छोटा सा भी आघात प्रतिक्रिया को उत्पन्न करता है। बड़ी अवस्था में बुद्धि कड़ी हो जाती है, प्रतिभा अनुभवों के भार से दब जाती है, और बहुत सी घटनायें जो बालक के हृदय में नई होने के कारण उत्तेजना उत्पन्न करती हैं, प्रौढ़ हृदय में बार बार देखी हुई होने के कारण कुछ भी प्रभाव उत्पन्न नहीं करतीं। इस घटना के पीछे मूल शंकर की मूर्तिपूजा से श्रद्धा उठ गई। उसने चचा और माता की सिफ़ारिश पर पिता से पूजापाठ के कार्यों से छुट्टी ले ली और पठन पाठन में जी लगा दिया। इस समय दो ऐसी घटनायें हुईं, जिन्होंने मूल शंकर के स्वच्छ दर्पण के समान हृदय पर स्थायी प्रतिबिम्ब छोड़ दिया। उन घटनाओं का वर्णन चरित नायक की अपनी भाषा में ही सुनाना उत्तम होगा। ऋषि ने आत्म चरित में उनका इस प्रकार वर्णन किया है—"मेरी १६ बरस की अवस्था के पीछे मेरी १४ बरस की बहिन थी, उसको हैजा हुआ, जिसका वृत्तान्त यों है। एक रात जब कि हम एक मित्र के घर नाच देखने गये हुए थे, तब अचानक नौकर ने आकर खबर दी कि उसे हैजा हो गया। हम सब तत्काल वहां से आये। वैद्य बुलाये गए, औषधि की, मगर कुछ फायदा न हुआ। चार घन्टों में उसका शरीर छूट गया। मैं उसके बिछौने के पास दीवार से आसरा लेकर खड़ा था। जन्म से लेकर इस समय तक मैंने पहिला बार मनुष्य को मरते देखा था। इससे मेरे दिल को बड़ा कष्ट हुआ और मुझे बहुत डर लगा, और मैं डर के सोचने लगा कि सारे मनुष्य इसी प्रकार मरेंगे, और ऐसे ही मैं भी मर जाऊंगा। और विचार में पड़ गया कि जितने जीव संसार में हैं उनमें से एक भी न बचेगा। इसलिए कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे जन्म मरण रूपी दुःख से यह जीव छूटे और मुक्त हो। अर्थात् इस समय मेरे चित्त में वैराग्य की जड़ जम गई।"

सब लोग रोने लगे, परन्तु वैराग्य की लहर में बहते हुए मूल शंकर की आंख से आंसू न निकले। बालक मूल शंकर मरण की चिन्ता में पड़ा था, वह सदा के लिये

रोने से बचने का उपाय ढूंढ रहा था। इस घटना से मूल शंकर के हृदय में वैराग्य का अंकुर उत्पन्न हो गया।

दूसरी घटना का चरित नायक ने इस प्रकार वर्णन किया है-"जब मेरी अवस्था १९ वर्ष की हुई तब जो मुझ से अत्यन्त प्रेम करने वाले बड़े धर्मात्मा तथा विद्वान मेरे चचा थे, उनको हैजे ने आ घेरा, मरते समय उन्होंने मुझे पास बुलाया, लोग उनकी नाडी देखने लगे, मैं भी पास ही बैठा हुआ था, मेरी ओर देखते ही उनकी आंखों से आंसू बहने लगे। मुझे भी उस समय बहुत रोना आया, यहा तक कि रोते २ मेरी आंखें फूल गई। इतना रोना मुझे पहले कभी न आया था। उस दिन मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं भी चाचा जी के सदृश एक दिन मरने वाला हूं।" तपे हुए लोहे पर चोट लगी। मूल शंकर का हृदय बहिन की मृत्यु के दृश्य से पहले ही नर्म हो चुका था, इस दूसरी चोट ने उसे पूरी तरह वैराग्य की ओर झुका दिया।

शिव लिंग पर चूहों को कूदता हजारों लोग देखते हैं, परन्तु उसे एक साधारण घटना समझ कर तरह दे जाते हैं। बहिनें और सम्बन्धी किस से नहीं मरते? परन्तु वैराग्य सब को नहीं होता। छोटी सी घटना से इतना बड़ा परिणाम निकालना हरेक बुद्धि के लिये सम्भव नहीं है, और असाधारण बुद्धि के लिए भी सदा छोटी बात से बड़ा परिणाम निकालना असम्भव है। एक फल को गिरते देखकर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का अनुमान सब नहीं कर सकते, पोप की सवारी न जाने कितने पादरियों ने देखी होगी, परन्तु ईसाई धर्म में सुधार की इच्छा सब के हृदय में उत्पन्न नहीं हुई। विशेष प्रतिभायें ही बिन्दु से विश्व का अनुमान कर सकती हैं। परन्तु आश्चर्य यह है कि बहुत प्रचण्ड प्रतिभायें भी हरेक विषय में, या हर समय एक ही प्रकार से प्रभावित नहीं होती, बुद्धदेव ने रोगी या बूढ़ों को देखकर अमर होने का यत्न आरम्भ कर दिया परन्तु बहुत सी भौतिक घटनायें देखकर भी वैज्ञानिक परीक्षण आरम्भ नहीं किये। न्यूटन ने छोटी सी बात से विज्ञान के बड़े २ सिद्धान्त निकाल लिये परन्तु बूढ़ों या मरतों को देखकर वैराग्यवान् नहीं हुआ। यह विचित्रता पूर्व के सस्कारों को सिद्ध करती है। पूर्व संस्कार और अद्भुत प्रतिभा-यह दोनों मिलकर ससार में आश्चर्यजनक कार्य कर सकते हैं। भगवान् के अभीष्ट बड़े २ कार्य इन्हीं दो शक्तियों के मेल से हो सकते हैं। मूल शंकर में भी इन दोनों का पूरा समावेश था।

मूल शंकर के हृदय में यह विचार उत्पन्न होने लगा कि 'मुझे भी कभी मरना पड़ेगा। क्या इस से किसी प्रकार बच सकता हूं?" वह विद्वानों और वृद्धों से अमर होने के उपाय पूछने लगा। जब उसके माता पिता को यह पता लगा तो वह उसे बांधने के लिये विवाह कर देने का सकल्प दृढ़ करने लगे। विचारों का द्वन्द्व युद्ध होने लगा।

मूलशङ्कर ने इस कारागार से बचने के लिये कभी काशी जा जाने का प्रस्ताव किया और कभी परदेश में विद्याभ्यास समाप्त करने की बात उठाई। उसके माता पिता वैराग्य से डरते थे, इस कारण उधर से विवाह की शीघ्रता होने लगी। ऐसी दशाओं में माता पिता अपनी अधीरता से प्रायः अपना काम बिगाड़ लिया करते हैं। वह छूटने का यत्न करने वाली सन्तान को बहुत शीघ्र बाँधने का यत्न करते हैं। यह अधीरता प्रायः दुःखान्त सिद्ध होती है। मूलशङ्कर के माता पिता ने भी अपनी अधीरता से बिगड़ते काम को शीघ्र से शीघ्र बिगाड़ दिया।

दूसरा परिच्छेद

अमृत की तलाश

मूल शंकर के जीवन में यह समय विषम परीक्षा का था। वह एक पहाड़ की ऐसी चोटी पर खड़ा था, जिसके एक ओर नीचे उतरने की शाही सड़क बनी हुई थी, और दूसरी ओर, जिस चोटी पर वह खड़ा था, उससे भी अधिक ऊंची चोटियां दिखाई दे रही थीं। बीहड़ जंगल था, कटीली पगडंडियां थीं, और नुकीले पत्थर थे। शाही सड़क पर होकर नीचे उतर आना बहुत ही सहल था, परन्तु दूसरी ओर जाना जान को खतरे में डालना था। सरल मार्ग मृत्यु लोक को जाता है, उस पर अनगिनत प्राणी बड़ी सरलता से चले जा रहे हैं। दुर्गम मार्ग कहां का है? क्या वह अमर लोक का मार्ग है? कह नहीं सकते। कई लोग उस मार्ग पर चलना आरम्भ करके ऐसी उलझनों में फंसे कि न इधर के ही रहे और न उधर के ही हुए। बहुत से लोग बीहड़ जंगल में कुछ कदम चलकर यह कहते हुए लौट आये, कि 'बस, जाने दो, यह सब ढोंग है' राजमार्ग का उद्देश्य निश्चित है, दूसरी ओर जाना अन्धेरे में कूदने के समान है। विश्वासी जीव कहते हैं कि दूसरी ओर की चोटियों पर अमर लोक है, परन्तु वह किसी ने देखा नहीं। उद्देश्य संदिग्ध–मार्ग विकट। क्या इससे अधिक विषम समस्या भी हो सकती है?

परन्तु मूलशंकर को इस विषम दशा में अधिक भटकना नहीं पड़ा। उसने इस प्रकार विचार किया "एक ओर राजमार्ग है, वह मृत्यु का रास्ता है। यह निश्चित है। वह मार्ग नीचे को जाता है, यह भी निश्चित है। इस कारण वह हेय है। दूसरी ओर अमरता की सम्भावना है। नाश के निश्चय से बचाव की सम्भावना बहुत अच्छी है"। यह विचार कर मूलशंकर ने निश्चित मृत्यु की ओर लेजाने वाले राजमार्ग का एकदम त्याग कर दिया और सम्भावित अमरपद की तलाश के लिये कमर कसली। विवाह का झंझट देखकर उसने समझ लिया है कि इस संसार का तिलिस्मी द्वार खुल गया है। यह तिलिस्मी द्वार हरेक युवा और युवती को अपनी ओर बड़े वेगसे खेंचता है। जहां द्वारके अन्दर पांव धरा कि पीछे के किवाड़ स्वयं ही बन्द हो जाते हैं। पीछे लौटने के लिये सीधा रास्ता बिलकुल बन्द हो जाता है। दयानन्द ने देखा कि द्वार खुल गया है। उसमें एक पग रखने की देर है। द्वार बन्द होते ही अमरलोक एक हल्का सा सपना रह जायगा—पैर जंजीरों में बंध जायंगे।

अमृत के प्यासे मूलशंकर ने, प्रेममय घर, और सरल राजमार्ग को त्याग कर २१ वर्ष की उमर में बीहड़ वन का रास्ता लिया। यह ज्येष्ठमास की एक सायंकाल घर से भाग खड़ा हुआ।

मूलशंकर १९०२ विक्रमी के ज्येष्ठमास में घर से बाहर हुआ, और १९१७ विक्रमी के कार्तिक मास में स्वामी विरजानन्द के पास मथुरा में पहुँचा। इन बीच के १५ वर्षों में उसने एक सच्चे जिज्ञासु का जीवन व्यतीत किया। घर से सम्बन्ध तोड़ दिया। घर छोड़ने से कुछ मास पीछे केवल एकबार सिद्धपुर के मेले में एक वैरागी से पुत्र का समाचार पाकर मूलशंकर के पिता ने उसे आ पकड़ा था। जब पिताने कई सिपाहियों के साथ आकर पकड़ लिया तब सिवा पिता के चरणों में सिर झुकाने के क्या चारा था! पिता सिपाहियों के पहरे में रखकर मूलशंकर को घर की ओर वापिस ले चले, परन्तु जिसे धुन समाई थी, वह अब कैद में रहने वाला न था। रात के समय सिपाहियों को सोते देख मूलशंकर फिर भाग निकला। दूसरा दिन भर उसने एक बड़ पेड़ पर छिप कर बिताया। पिता देख बेमुरव्वत पुत्र से निराश होकर घर वापिस चले गये, और मूलशंकर ने अपना रास्ता लिया। इसके पीछे मूलशंकर का घरवालों से कभी साक्षात्कार नहीं हुआ।

मूलशंकर को एक ही धुन थी कि मृत्यु से छूटने का उपाय जाना जाय। उसे बताया गया था कि मृत्यु से छूटने का उपाय 'योग' है। मूलशंकर योगी की तलाश में शहर गांव और जंगल में भ्रमण करने लगा। पहले पहल तो नया होने के कारण उसे ठग साधुओं ने खूब लूटा। ठगों ने रेशमी वस्त्र धरा लिये, परन्तु धीरे २ कुछ विवेक होता गया, और जिज्ञासु ठगों और सन्तों में भेद करने लगा। घर से भागने पर पहला काम मूलशंकर ने यह किया था कि सायले नामक ग्राम में एक ब्रह्मचारी की प्रेरणा से दीक्षा लेकर अपना नाम 'शुद्ध चेतन ब्रह्मचारी' रक्खा। बहुत समय तक जिज्ञासु ने ब्रह्मचारी रहकर भ्रमण किया परन्तु ब्रह्मचारी को उस समय गुजरात में सन्यासियों की भांति बना बनाया भोजन नहीं मिलता था, हाथ से बनाना पड़ता था। इससे शुद्ध चेतन के पठन पाठन में बहुत विघ्न होता था। उसने कई सन्यासियों से सन्यास लेने का यत्न किया परन्तु थोड़ी आयु देखकर वह लोग संकोच करते रहे। नर्मदा नदी के तट पर घूमते हुए उन्हें पूर्णानन्द सरस्वती नामके विद्वान् साधु के दर्शन करने का अवसर मिला। उनसे भी शुद्ध चेतन ने सन्यास देने की प्रार्थना की। पहले तो उन्होंने कुछ संकोच किया परन्तु और साधुओं की सिफ़ारिश आने पर सन्यास देना स्वीकार कर लिया। पूर्णानन्द सरस्वती से सन्यास लेकर शुद्ध चेतन स्वामी दयानन्द सरस्वती बन गया।

घर से निकल कर कुछ समय तक स्वामी दयानन्द न गुजरात में ही भ्रमण किया, वहां से बड़ौदा होते हुए चेतन मठ होकर नर्मदा के तटपर चिरकाल तक भिन्न २ स्थानों में निवास किया। नर्मदा तट से आबू ठहर कर सं० १९१२ के कुम्भपर स्वामी दयानन्द हरिद्वार आये और वहा के मठों और महन्तों की माया का पहली बार दिग्दर्शन किया। हरिद्वार से आप हिमालय की ओर चल दिये और सच्चे योगी की तलाश मे कठिन से कठिन चोटियों पर चढ कर, गुफाओं में घुसकर और घाटिया पार करके सच्चे जिज्ञासु होने का परिचय दिया।

इस भ्रमण में दयानन्द ने कई सच्चे और झूठे योगियों के दर्शन किये। झूठे योगियों से उन्हें घृणा उत्पन्न होजाती थी, और सच्चे योगियों से वह कुछ न कुछ सीख ही लिया करते थे। चाणोद कल्याणा में वास करते हुए आपका योगानन्द नाम के एक योगी से परिचय हुआ। देर तक स्वामी ने उनसे योग की क्रियायें सीखीं। अहमदाबाद में दो और योगियों से उन्हें योगविद्या सीखने का अवसर मिला। इस प्रकार मिले हुए अवसरों से जिज्ञासु ने पूरा लाभ उठाया।

हरिद्वार से टिहरी राज्य की ओर जाते हुए स्वामी जी को तन्त्र ग्रन्थ देखने का अवसर मिला। उन ग्रन्थों को देखकर आपके चित्त में इतनी घृणा हुई कि वह फिर अनेक नई व्याख्यायें सुनकर भी दूर नहीं हुई। टिहरी से विद्या और योग की धुनमें मस्त स्वामी ने केदारघाट रुद्रप्रयाग सिद्धाश्रम आदि का भ्रमण करते हुए मठों और मन्दिरों की दुर्दशा को अच्छी तरह देखा। तुगनाथ की चोटी पर चढते हुए उन्हें आशा थी कि ऊपर कुछ अच्छा दृश्य देखने को मिलेगा। वहा पहुंच कर भी देखा तो वैसा ही मन्दिर, वैसे ही पुजारी—सब लाला मैदान जैसी ही था। गुप्त काशी का दौरा लगाकर श्री दयानन्द सरस्वती ओखी मठ में पहुचे। ओखा मठ हिमालय का बड़ा प्रसिद्ध मठ है। वहा की गुफाओंमें जिज्ञासु और सच्चे महात्माओं की बहुत तलाश की, परन्तु वहा भी चरस और सुल्फे के धुए से सब कुछ आच्छन्न ही दिखाई दिया।

यहा के एक महन्त ने स्वामी जी से बात चीत करके यह सङ्कल्प किया कि उन्हें अपना मुख्य चेला बना कर उत्तराधिकारी बनाये। ऐसा भव्य और पठित शिष्य उसे कहां मिलता। उसने अपना भाव दयानन्द के सामने प्रकाशित किया और यह भी बताया कि मठ के साथ द्रव्य की राशि भी कुछ कम नहीं है। दयानन्द ने उत्तर दिया कि 'यदि मुझे धन की अभिलाषा होती तो मैं अपने बाप की सम्पत्ति को, जो तुम्हारे इस माल और दौलत से कहीं बढ कर थी, न छोड़ता' फिर दयानन्द ने कहा कि 'जिस उद्देश्य से मैंने घर छोड़ा, और सांसारिक ऐश्वर्य से मुह मोड़ा, न तुम उसके लिए यत्न कर रहे हो, और न तुम्हें उसका ज्ञान है। फिर तुम्हारे पास मेरा रहना किस

प्रकार सम्भव है।' यह सुनकर महन्त ने पूछा कि 'वह कौनसी वस्तु है जिसकी तुम्हें खोज है और तुम इतना परिश्रम उठा रहे हो ?' दयानन्द ने उत्तर दिया कि 'मैं सत्य योग विद्या और मोक्ष की खोज में हूं और जब तक यह प्राप्त न होगा, तब तक बराबर देशवासियों की सेवा करता रहूंगा।'

मठ के महन्त के पास धन था, मकान था, ऐश्वर्य था, परन्तु न सत्य था, न योग था, और न मोक्ष का उपाय था—इस कारण वह जिज्ञासु दयानन्द को न बांध सका। जोशी मठ से बद्रीनाथ होते हुए आप बद्रीनारायण गये। आपने सुन रखा था कि बद्रीनारायण के पास पास योगी रहा करते हैं। बद्रीनारायण की पहाड़ियों को बिल्कुल शून्य पाकर योग के अभिलाषी दयानन्द ने आस पास की चोटियों और गुफाओं में खोज करने का संकल्प किया। चारों ओर बर्फ पड़ी हुई थी। नदियों का पानी नुकीले पत्थरों में से होकर बहता हुआ रास्तों को रोक रहा था। दयानन्द ने इन कठिनाइयों की परवाह न करते हुए खोज जारी रखी। घूमते २ आप अलकनन्दा नदी के किनारे पहुंचे और उसे पार करने के लिये पानी में घुस गये। इस नदी में किसी किनारे घुटने तक जल था, और कहीं २ गहराई बहुत अधिक थी। चौड़ाई कोई १० हाथ के अनुमान होगी। पानी बर्फ के समान ठण्डा था, और बीच २ में नोकदार पत्थर और बर्फ के टुकड़े भी बिखर रहे थे। शरीर पर कपड़ा बहुत हल्का था, और पैर बिल्कुल नंगे थे। स्वामी दयानन्द की दशा बहुत ही शोचनीय होगई। पानी के अन्दर कुछ समय के लिये तो वह बिल्कुल मूर्छित से होगये, परन्तु धैर्य से अपना आपको बचाये रखा। किसी प्रकार पार तो हुए पर एक ओर सर्दी, दूसरी ओर भूख। पांव पत्थरों से छिल गए थे, और लहू जारी होगया था। आगे जाने की हिम्मत न रही। परन्तु वहां ठहर कर रात बिताने में भी मृत्यु का सामना था। उस समय परमात्मा की कृपा से भक्त को सहायता मिली। दो पहाड़ी इधर उधर आ निकले, यद्यपि वे पहाड़ी दयानन्द को साथ न ले जा सके, तो भी कुछ ढारस अवश्य बन्ध गया। थोड़ी देर सुस्ता कर स्वामी जी उठ खड़े हुए, और वसुधारा तीर्थ पर कुछ विश्राम करके बद्री नारायण को लौट गये।

बद्रीनारायण के आस पास योगी के दर्शन करने की अभिलाषा में निराश होकर जिज्ञासु ने मैदान की ओर मुंह मोड़ा। रामपुर, द्रोण सागर, और मुरादाबाद होते हुए आप गढ़मुक्तेश्वर पहुंच गये। गंगा के किनारे घूम रहे थे। प्रवाह में बहता हुआ एक मुर्दा उन्हें दिखाई दिया। दयानन्द ने हठ योग प्रदीपिका आदि में शरीर के आभ्यन्तर अंगों के सम्बन्ध में बहुत कुछ पढ़ रखा था। उसके सत्यासत्य निर्णय का उचित अवसर जानकर आप पानी में कूद पड़े और मुर्दे को किनारे पर खींच लिया। लाश किनारे पर रख कर चाकू से चीर फाड़ की तो उन ग्रन्थों में लिखे हुए शरीर वर्णन को बहुत अशुद्ध

पाया। असत्य से भरे हुए ग्रन्थों का बोझ उठाने से कोई लाभ न देख कर दयानन्द ने उन सब को फाड़ कर गंगा-प्रवाह के अर्पण कर दिया।

गंगा तट का भ्रमण करके स्वामी जी दक्षिण की ओर जा निकले और बहुत दिनों तक नर्मदा के तट पर घूमते रहे। वहां बड़े २ घने जंगल हैं। एक जंगल में आपका एक बड़े भालू से सामना होगया। भालू को देखकर वह डरे नहीं प्रत्युत अपना सोटा उठाकर उसकी ओर को बढ़ाया। सोटे से डर कर चिंघाड़ता हुआ वह भालू जंगल में भाग गया। एक बार घने जंगल में घूमते २ आपको रात होगई। अंधेरे में कहीं ठहरने का स्थान ढूंढते २ जंगल में कुछ कुटिया दिखाई दीं। पास जाने पर कोई जागता हुआ प्राणी न मिला। तब रात भर आप ने एक वृक्ष पर बैठ कर गुजारी। प्रातःकाल जब ग्रामवासियों ने एक सन्यासी को देखा तो रात के कष्ट के लिये बहुत क्षमा मांगी और उचित आदर सत्कार किया।

नर्मदा के तट पर दयानन्द ने लगभग तीन वर्ष भ्रमण किया। भ्रमण में आपने सुना कि मथुरा में एक योगी और विद्वान् दण्डी रहते हैं। योग और विद्या के अभिलाषी ने यह समाचार सुनते ही मथुरा की ओर मुंह मोड़ा और कार्तिक सुदी २ सं० १९१७ तदनुसार १४ नवम्बर १८६० के दिन मथुरा में स्वामी विरजानन्द जी का दरवाजा जा खटखटाया।

पन्द्रह वर्षों तक जिज्ञासु दयानन्द ने पहाड़ों और मैदानों को नाप डाला, इतने शारीरिक कष्ट सहे, और तपश्चर्या की—यह सब किस लिये? सत्य योग और मोक्ष की प्राप्ति के लिये। परन्तु न हिमालय की सर्दी में दिल की आग बुझी, और न गंगा और नर्मदा के जलों ने ज्वाला को शान्त किया। अब जिज्ञासु दण्डी स्वामी के द्वार पर विद्या के स्रोत में हृदय का ताप बुझाने पहुंचता है—चलो पाठक! देखें कि उसे कहां तक सफलता प्राप्त होती है!

तीसरा परिच्छेद।

विद्या के स्रोत में स्नान

यह स्वामी विरजानन्द जी कौन है ? पंजाब में कर्त्तारपुर के समीप गंगापुर नाम का एक ग्राम था, उसमें नारायणदत्त नाम का सारस्वत ब्राह्मण रहता था। दयानन्द के गुरु श्री विरजानन्द दण्डी ने उसी के घर जन्म लिया था। बचपन से ही बालक पर आपत्तियों का आक्रमण आरम्भ हुआ। ५ वर्ष की आयु में चेचक ने चाम की आंखें शक्ति हीन कर दीं, और १२ वें वर्ष में बालक के माता पिता होनहार बच्चे को अनाथ छोड़ कर परलोक की यात्रा कर गये। बालक के पालन पोषण का बोझ बड़े भाई के कन्धों पर पड़ा। बड़ा भाई साधारण दुनियादार भाइयों की भांती नासमझ था। वह एक अन्धे और अत एव अनुपयोगी भाई का पेट पालना में कोई विशेष लाभ नहीं देखता था। भाई और भावज की कृपा से तंग आकर शीघ्र ही बालक को घर छोड़ना पड़ा।

घर से भाग कर प्रतिभाशाली युवक हृषीकेश और हरिद्वार में पहुंचा और वर्षों तक विद्याध्ययन तथा तपश्चर्या द्वारा अपनी आत्मा को सम्स्कृत करता रहा। हरिद्वार में ही स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती की दया से उसे सन्यास मिला। सन्यासी विरजानन्द विद्या की तलाश में हरिद्वार कनखल काशी गया आदि में चिरकाल तक घूमते रहे और विद्वानों से व्याकरण तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। अमृत के प्यासे ऋषि दयानन्द के गुरु बनने का अधिकार उसी तपस्वी को हो सकता था, जिसने एक उद्देश्य के लिये तपस्या की हो, किसी उत्तम पदार्थ की खोज में कोने२ छान मारे हों। इस दृष्टि से देखें तो स्वामी विरजानन्द जी ऋषि के गुरु बनने के पूर्णतया अधिकारी थे।

विद्याध्ययन कर लेने पर दण्डी जी ने विद्यार्थियों को पढ़ाना आरम्भ किया। उनके यश का विस्तार चारों ओर होने लगा। विशेष कर व्याकरण में उनका पाण्डित्य बहुत ऊंचे दर्जे का समझा जाता था। उनके पाण्डित्य और मधुर श्लोकगान से प्रसन्न होकर अलवर के राजाने कुछ दिनों तक उन्हें अपने यहां रखा। राजा की प्रार्थना पर दण्डी जी यह शर्त करके अलवर गये थे कि प्रतिदिन राजा ३ घन्टे तक तक अध्ययन किया करेगा। विलासी राजा अपने प्रण को निभा न सका, परन्तु सन्यासी ने अपना प्रण निभाया। जिस दिन राजा पढ़ने नहीं आया, उससे अगले दिन दण्डी का आसन अलवर से उठ गया।

कुछ समय रजवाड़ों में बिताकर स्वा० विरजानन्द जी ने मथुरा में अपना आसन जमाया। व्याकरण पढ़ने की इच्छा रखने वाले विद्यार्थी दूर देशों से—यहां तक कि काशी से भी—दण्डी जी के पास आते थे। व्याकरण में दण्डी जी का पाण्डित्य मशहूर हो गया था। इस समय उनके जीवन में एक विशेष परिवर्तन करने वाली घटना प्रकटित हुई। पड़ोस में एक दक्षिणी पण्डित रहता था। वह प्रतिदिन मूल अष्टाध्यायी का पाठ किया करता था। दण्डी जी उस समय तक सिद्धान्त कौमुदी मनोरमा और शेखर को ही व्याकरण का आदि और अन्त समझते थे। मूल अष्टाध्यायी का पाठ सुनकर मानों उनकी आंखें खुल गईं। उन्हें प्रतीत हुआ कि व्याकरण का ऋषिनिर्णीत क्रम कुछ और ही है। अष्टाध्यायी के सूत्र क्रम को देखते ही उनके हृदय में धारणा हो गई कि कौमुदी कार का बनाया हुआ क्रम अस्वाभाविक है और अष्टाध्यायी के महत्त्व को कम करने वाला है। यह धारणा होते ही दण्डी जी ने दीक्षित के ग्रन्थों का और उनके साथ ही अन्य सब अर्वाचीन व्याकरणग्रन्थों का त्याग कर दिया। जनश्रुति है कि उनका यमुना में प्रवाह कर दिया। अष्टाध्यायी का क्रम दण्डी जी को इतना पसन्द आया कि उन्होंने अपने शिष्यों के पास जितने अर्वाचीन ग्रन्थ थे वह फिंकवा या जलवा दिये। अष्टाध्यायी और महाभाष्य -बस इन दो को हृदय के आसन पर बिठा लिया।

क्रिया प्रतिक्रिया का सिद्धान्त संसार में सभी जगह पाया जाता है। पानी एक ओर को बह रहा है। सामने पहाड़ की भारी चट्टान आ जाती है। पानी उल्टे पांव भागता है। उसके उल्टे भागने का वेग आगे बढ़ने के वेग के अनुपात से होगा। यदि पानी धीमी गति से आगे बढ़ रहा था, तो धीमा चाल से ही पीछे को लौटेगा परन्तु यदि जल का प्रवाह वेगवान् था, तो उल्टी ठोकर भी जोर की लगेगी। दण्डी जी के विचार प्रवाह में भी जोर की ठोकर लगी। वह कौमुदी मनोरमा और शेखर के प्रवाह में बड़े वेग से बहे जा रहे थे। अष्टाध्यायी का मूल सूत्रक्रम सुनकर, और उसका सरल सौन्दर्य देखकर प्रज्ञाचक्षु की आंखें खुल गई। उन्हें भान होने लगा कि ऋषिकृत व्याकरण का क्रम कौमुदी के घड़े हुए क्रम से बहुत उत्कृष्ट है। इतना उत्तम होते हुए भी सूत्र क्रम गुम क्यों होगया ? व्याकरण का पठनपाठन अष्टाध्यायी के क्रम से क्यों नहीं होता ? कारण यही प्रतीत होता था कि भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी बनाकर सूत्र क्रम को पीछे फेंक दिया। इससे दण्डी जी का सारा असन्तोष भट्टोजिदीक्षित पर केन्द्रित होगया। अष्टाध्यायी और महाभाष्य से उनका प्रेम ज्यों २ बढ़ता जाता था, भट्टोजिदीक्षित से त्यों २ उन्हें घृणा होती जाती थी। धीरे २ उनके हृदय में यह निश्चय सा होगया कि जब तक कौमुदी और उससे सम्बन्ध रखनेवाले ग्रन्थों का प्रचार नहीं रुक जाता तब तक व्याकरण की ऋषिकृत पद्धति का उद्धार नहीं हो

सकता । यह विचार स्वामी जी के मन में समा गया, उनके दिल पर असर होगया। स्वामी विरजानन्द जी का विचार और शास्त्र का सफल होगया । एक बार जयपुर के राजा रामसिंह ने स्वामी जी को दरबार में बुलाकर पावन संन्यासी होने का उपाय पूछा। शब्द प्रमाण ग्रन्थों के भाव स्वामी जी ने उत्तर में यह प्रदर्शित किया कि एक बड़ी सभा करके देश भर के विद्वानों को एकत्र करो । सभा में इस विषय पर शास्त्रार्थ हो कि काशिका का अध्ययन क्रम अच्छा है या कौमुदी का ? स्वामी जी ने बाद में मैं उस सभा में सिद्ध करके दिखा दूंगा कि अष्टाध्यायी क्रम ठीक है और कौमुदी आदि ग्रन्थ अशुद्धियों से भरपूर हैं । दूसरे एक अवसर पर मथुरा के कलेक्टर मि० थार्नहिल स्वामी जी से मिलने आये । मि० थार्नहिल ने नम्रता के साथ पूछा कि 'आप क्या चाहते हैं, जो हम कर सकें ?' स्वामी जी ने उत्तर दिया कि 'यदि आप हमारी इच्छा पूरी किया चाहते हैं तो भट्टोजिदीक्षित के सब ग्रन्थों को इकट्ठा करके जलवादें।' यह प्रसिद्ध है कि दण्डी जी दीक्षित के ग्रन्थों पर शिष्यों के हाथों से जूते लगवाया करते थे।

क्या यह उचित था ? अष्टाध्यायी या कौमुदी के सम्बन्ध में स्वतन्त्र सम्मति रखना दण्डी जी के लिये सर्वथा उचित था । यह उनका अधिकार था । ग्रन्थों की उपयोगिता तथा अनुपयोगिता के विषय में स्वतन्त्र सम्मति रखने का विद्वानों का पूर्ण अधिकार है । हम यह भी नहीं कह सकते कि उनकी सम्मति निर्मूल थी । अष्टाध्यायी की पद्धति का निर्माण पाणिनि मुनि ने किया है । सूत्रों का क्रम अष्टाध्यायी का जीवन है । यदि क्रम को उलट दिया जाय तो सब व्यर्थ है । अनुवृत्ति असम्भव हो जाती है, 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' बिल्कुल व्यर्थ हो जाता है, और 'पूर्वत्रासिद्धम्' का कुछ अर्थ ही नहीं रहता । अष्टाध्यायी के सूत्रों का इतना लघुकाय होना क्रम पर ही आश्रित है । उसका सौन्दर्य, उसका गौरव, बहुत कुछ क्रम पर अवलम्बित है । क्रम को छोड़कर यदि सूत्रों को काम में लाया जाय, तो अनुवृत्ति के लिये स्मृति पर बोझ डालना पड़ता है । 'परकार्य' और 'असिद्ध' का तो अनुमान मात्र लगाया जा सकता है । यह कहा जा सकता है कि जो आदमी संस्कृत व्याकरण का विद्वान् बनना चाहे, वह यदि सिद्धान्त कौमुदी को आद्यन्त पढ़ जाय तो भी सूत्रक्रम के परिचित हुए बिना वह सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगा । अष्टाध्यायी और उसके सूत्रों के क्रम का अटूट सम्बन्ध है ।

मुनि विरजानन्द ने देखा कि लोग सिद्धान्त कौमुदी को पढ़कर सूत्रक्रम की उपेक्षा करते हैं । भट्टोजिदीक्षित के देखने में सरल परन्तु वस्तुतः दुर्गम ग्रन्थ ने आर्ष व्याकरण का लोप कर दिया है । उनका अन्तरात्मा इससे खिन्न होकर प्रचलित पद्धति के विरुद्ध विद्रोह करने लिये खड़ी होगई । विद्रोह के समय प्राय सीमा का उल्लंघन हो जाता है । दण्डी जी के काम ने भी जब उग्र रूप धारण किया तब मर्यादा से

अतिक्रमण कर दिया इसमें सन्देह नहीं। ग्रन्थ को नदी में बहाने से कभी उसका लोप नहीं हुआ, और न कभी जूतों या पाँव के तले रौंदने से उसका प्रचार रुका है। परिणाम प्रायः उल्टा ही होता है। आज भारतभूमि में सिद्धान्त कौमुदी की छपी हुई प्रतियां दण्डी जी के समय की अपेक्षा बहुत अधिक हैं। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि दण्डी जी का यत्न व्यर्थ गया। जिस सत्य का अनुभव उन्होंने किया, और अपने शिष्यों को कराया, उसे देश के एक बड़े भाग ने अंगीकार कर लिया है। आज सूत्रक्रम पर श्रद्धा रखने वाले विद्वानों की संख्या, और मूल अष्टाध्यायी की प्रकाशित प्रतियों की संख्या भी दण्डी जी के समय से बहुत अधिक है। सत्य ने अपना प्रभाव पैदा किया है, उसकी सहायता में यदि कहीं सीमा का उल्लंघन होगया था, तो वह फल का महत्त्व देखते हुए अब विस्मरण करने योग्य है। जहां एक ओर उसका अनुकरण बिल्कुल त्याज्य है, वहां दूसरी ओर बारम्बार उसे दोहरा कर शिकायत करना बुद्धिमत्ता में शामिल नहीं है।

अस्तु। ऐसे दण्डी विरजानन्द जी थे, जिनके द्वार पर कार्तिक सुदी २ सं० १६१७ (१४ नवम्बर १८६०) के दिन स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जाकर आवाज दी। परिचय हो जाने पर दण्डी जी ने पूछा कि 'क्या कुछ व्याकरण पढ़ा है?' दयानन्द ने उत्तर दिया कि 'सारस्वत पढ़ा है' इस पर आज्ञा हुई कि पहले सब अनार्ष ग्रन्थ यमुना में बहा आओ तब आर्ष ग्रन्थ पढ़ने के अधिकारी हो सकोगे। दयानन्द ने आज्ञा का पालन किया और योग्य गुरु के चरणों में बैठ कर विद्यामृत-पान का यत्न आरम्भ किया।

स्वामी जी का विद्यार्थी जीवन अनुकरणीय था। प्रातःकाल उठ कर नित्य क्रिया से निवृत्त हो कर पहले गुरु के लिये नदी से जल लाते थे, फिर अपने सन्ध्योपासन के पीछे पढ़ने में लग जाते थे। प्रातःकाल के समय कुछ चने चबा लेते थे, जो उन्हें दुर्गा खत्री की कृपा से प्राप्त होते थे। मथुरा के बहुत से विद्यार्थियों के भोजन का प्रबन्ध बाबा अमर लाल जोशी की ओर से था, स्वामी जी के भोजन का प्रबन्ध भी वहीं पर था। रात्रि के समय भी सोने से पहले कुछ न कुछ अभ्यास किया करते थे, जिसके लिये तेल का मासिक खर्च ।) ला० गोवर्धन सराफ़ से प्राप्त होता था। इसी प्रकार उदार महानुभावों की सहायता से आवश्यकतायें पूरी हो जाती थीं, और शिष्य को गुरुसेवा करते हुए विद्याध्ययन करने का खुला अवसर मिलता था।

दण्डी जी का स्वभाव उग्र था। कभी २ बहुत नाराज हो जाते थे। शिष्यों के हाथों पर लाठी भी जमा देते थे। एक बार स्वामी जी की भी बारी आ गई। कहते हैं कि लाठी की उस चोट का निशान स्वामी जी के हाथ पर मरण पर्यन्त बना रहा, जिसे

देख कर वह गुरु के उपकारों का स्मरण किया करते थे। एक बार छात्र से अपराध पर ड्योढ़ी बन्द कर दी गई तब स्वयं शिष्य ने हितैषियों से सिफारिश कराई। सिफारिश से सन्तुष्ट हो कर गुरु ने शिष्य को क्षमा कर दिया।

स्वामी दयानन्द का आजन्म पूर्ण यति का जीवन था। जिस दिन से वह जिज्ञासु बने, उस दिन से मन वाणी और कर्म से ब्रह्मचारी रहने का कठोर व्रत धारण किया। विद्यार्थी जीवन में दयानन्द ने पूर्ण ब्रह्मचारी रहने का उद्योग किया। एक दिन की घटना है कि आप नदी के तट पर सन्ध्या कर रहे थे। ध्यान खुला तो क्या देखते हैं कि एक युवती चरणों का स्पर्श कर रही है। चरणस्पर्श भक्ति से था, परन्तु पूर्ण ब्रह्मचारी ने उतने स्त्रीस्पर्श को भी पाप समझा, और कई दिनों तक एकान्त में जा कर निराहार व्रत द्वारा हृदय को शुद्ध किया।

दण्डी जी से स्वामी ने अष्टाध्यायी महाभाष्य आदि व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। इस से यह न समझना चाहिए कि आप ने गुरु से केवल ग्रन्थों की विद्या ही प्राप्त की, उस ग्रन्थ विद्या से कहीं बढ़ कर वह भाव थे, जो उन्हें गुरु से प्राप्त हुए। आधुनिक या अर्वाचीन ग्रन्थों को छोड़ कर प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में श्रद्धा, मूर्ति पूजा आदि कुरीतियों से वैराग्य, और कठोर संयम इन सब के लिये योगी दयानन्द गुरु का आभारी था।

विद्याध्ययन समाप्त हुआ। रीति के अनुसार शिष्य कुछ लौंगों की भेंट लेकर गुरु के चरणों में उपस्थित हुआ और निवेदन करने लगा कि महाराजा मेरे पास और कुछ नहीं है जो भेंट करूं, इस कारण केवल आध सेर लौंग लेकर उपस्थित हुआ हूं। गुरु ने कहा "कि मैं तेरे से ऐसी चीज मांगूंगा जो तेरे पास उपस्थित है" दयानन्द के बद्धाञ्जलि होने पर गुरु ने आदेश किया। बड़े दुःख की बात है कि गुरु के उस समय के शब्द यथार्थ रूप में प्राप्त नहीं होते। जीवन चरित्र लिखने वालों ने दण्डी जी के वाक्य अपनी २ रुचि के अनुसार घड़े हैं। पं० लेखराम जी के संपादित किए जीवन चरित्र में जो शब्द दिए है वह बहुत कुछ स्वाभाविक हैं। यह कहा जा सकता है कि यदि दण्डी जी ने ठीक वह शब्द नहीं कहे थे तो कम से कम भावार्थ वही होगा वहां दण्डी जी के निम्न लिखित शब्द लिखे गये है।

"देश का उपकार करो। सत शास्त्रों का उद्धार करो। मत मतान्तरों की अविद्या को मिटाओ, और वैदिकधर्म फैलाओ" दयानन्द ने आदेश को स्वीकार किया। अन्त में आशीर्वाद देते हुए दण्डी जी ने और भी कहा। 'मनुष्य कृत ग्रन्थों में परमेश्वर और ऋषियों की निन्दा है, और ऋषिकृत ग्रन्थों में नहीं, इस कसौटी को हाथ से न छोड़ना।'

इस अमूल्य उपदेश को शिरधारण करके श्री दयानन्द [illegible] कृतकृत्य हुए। जो वस्तु पर्वत की चोटी पर, वन की गहराई में, [illegible] के [illegible] में और महन्तों के डेरों में ढूंढी, पर न मिली, वह अमर [illegible] दंडी विरजानन्द के चरणों में मिली। वह वस्तु विद्या और [illegible] थी। उस वस्तु को पाकर, ब्रह्मचर्य के तेज से तेजस्वी ब्रह्मचारी संसार क्षेत्र में प्रविष्ट होता है। पाठक! चलिये हम देखें कि वह कैसा संसार क्षेत्र है, जिसमें इसे [illegible] करना है?

चौथा परिच्छेद

खाण्डव वन

जिस समय गुरु से आशीर्वाद लेकर दयानन्द ने कार्यक्षेत्र में पाँव धरा, आर्य जाति की दशा उस समय मुक्त कण्ठ से चिल्ला चिल्ला कर कह रही थी कि मुझे एक वैद्य की जरूरत है। भारत देश अज्ञान पराधीनता शत्रु और दुःखों के कारण सर्पों और कांटेदार झाड़ियों से भरे हुए खाण्डव वन के समान दुर्गम और बीहड़ हो रहा था। उसे आवश्यकता थी एक अर्जुन की, जो एक ओर अग्नियों की रगड़ से आग निकाल कर दावानल को प्रज्वलित करे, और दूसरी ओर आग बुझाने का यत्न करने वाले देवों और असुरों के आक्रमणों का उत्तर दे सके। आर्य जाति की दुर्दशा उस समय एक सुधारक को बुला रही थी—एक ऐसे कर्मवीर को बुला रही थी जो उसके पीड़ित अंगों पर शान्ति देने वाला हाथ रख सके। इस परिच्छेद में हम देखेंगे कि उस दुर्दशा का क्या इतिहास और क्या स्वरूप था, अगला सम्पूर्ण भाग, ऋषि दयानन्द ने उस दुर्दशा के सुधारने के जो यत्न किए, उसके वर्णन में दिया जायगा।

बहुत पूर्व—ऐतिहासिक काल से भी पहले—वेद और प्रधानतया वैदिक साहित्य केवल भारत की सीमाओं में परिमित हो चुका था। जो लोग ईरान में बसे, या ग्रीस में पहुँचे वह भारतीय आर्यों के बन्धु थे, परन्तु यह विषय कल्पनात्मक यद्यपि यथार्थ इतिहास का है। जिस समय इतिहास के प्रकाश में दुनिया अपना मुँह उघाड़ती है भारतवर्ष का धर्म और सामाजिक संगठन और सब देशों से भिन्न ही मिलता है। ऐतिहासिक काल से पूर्व भारतवर्ष एक जुदा इकाई बन चुका था। यही कारण है कि इतिहास हमें भारतवर्ष के धार्मिक और सामाजिक परिवर्तनों का जितना ब्यौरा सुनाता है, वह देश की सीमाओं से परिमित है। भारत के धार्मिक परिवर्तनों का प्रभाव सीमाओं से बाहिर बहुत ही कम पड़ता है—और बाहिर के धार्मिक परिवर्तनों का प्रभाव भारत पर तभी पड़ता है जब उन धर्मों के अनुयायी लोग विजेताओं के रूप में देश में आ जाते हैं।

भारत का धन, उसका विस्तार, और उसकी अन्दरूनी भिन्नता—यह सब बातें बाहिर के विजेताओं को खेंचती रही हैं। समय २ पर बाहिर की लड़ाकू जातियां सस्ता शिकार मारने के लिये इस स्वर्ण देश पर छापा मारती रही हैं। भारत पर मुख्य २ धावे ४ श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं। पहला धावा सिकन्दर का था। दूसरा धावा

उत्तर की अनेक जातियों का था जो सदियों तक जारी रहा। कभी ग्रीक, कभी सीथियन और कभी पारसीक लोग भारत को जीतने का यत्न करते रहे। तीसरा धारा इस्लाम का हुआ, जो पहले के सब धारों से जबर्दस्त, सबसे अधिक स्थायी और सबसे गहरी असर उत्पन्न करने वाला हुआ। चौथा धारा योरपियन जातियों का है, जो यद्यपि बहुत पुराना नहीं है तो भी बड़ा गहरा है, बड़ा जबर्दस्त है, बड़ा भयंकर है।

भारत के धार्मिक परिवर्तनों पर यह चारों म क्रमशः बड़ा गहरा असर उत्पन्न करते रहे हैं, परन्तु इसका यह अभिप्राय न समझना चाहिये कि केवल बाहिर के प्रभाव ही भारत के धार्मिक विचारों को हिलाते रहे हैं। समय २ पर आवश्यकता होने पर आन्तरिक प्रतिक्रिया भी उत्पन्न होती रही है। जाति की जरूरत के अनुसार बदले हुए वायुमंडल के साथ अनुकूलता पैदा करने के लिए या बिगड़े हुए ढांचे को सुधारने के लिये ऐसे सुधारक पैदा होते रहे हैं जो बिगड़ों के बनाने का यत्न करते रहे हैं। यदि भारतवर्ष के धार्मिक परिवर्तनों का इतिहास देखा जायगा, तो हम ज्ञात होगा कि उसमें आन्तरिक प्रतिक्रिया और बाह्य आक्रमण—दोनों का ही प्रभाव है।

यूनानियों के आक्रमण से पूर्व जो बड़े २ धार्मिक परिवर्तन हुए, वह मुख्यतया आन्तरिक प्रतिक्रिया के ही परिणाम थे। ब्राह्मणग्रन्थों के याग-प्रधान धर्म के विरुद्ध उपनिषदों के ज्ञानवाद की प्रतिक्रिया हुई। फिर वही विकार उत्पन्न होने पर बौद्धधर्म प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ। यह दोनों बड़ी २ प्रतिक्रियायें बाहिर के प्रभाव से शून्य थीं। यह केवल अन्दर से उत्पन्न हुई थीं। यही कारण था कि वह सब एक ही शरीर के अंगों के समान परस्पर पूरक उत्पन्न करती थीं। ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थ एक दूसरे के हाथ में डालकर चलते रहे और एक ही पुरुष के आंख कान के सदृश जीवित रहे। उपनिषदों का ऊंचा ब्रह्मज्ञान धीरे २ क्रियाहीन ईश्वर विश्वास के रूप में परिणत हो गया और ब्राह्मण ग्रन्थों का कर्मकांड हिंसापूर्ण यज्ञप्रक्रिया की पद्धतियों में तबदील होगया। उस समय महात्मा बुद्ध ने निर्वाणात्मक का उपदेश देते हुए प्रेम और त्याग का सन्देश सुनाया और एक सार्वभौम धर्म की नींव डाली।

बुद्ध के पीछे भारत पर सिकन्दर का आक्रमण हुआ। सिकन्दर का भारत में निवास बहुत थोड़े समय तक हुआ। उसका कोई गहरा प्रभाव दिखाई नहीं देता, तो भी हम दो बड़ी घटनाओं में उसके दृष्टान्त की छाया देख सकते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य-यत्न सिकन्दर के उदाहरण से प्रभावित हुआ था, और अशोक का धर्म-साम्राज्य स्थापित करने का उद्योग भी सिकन्दर के सार्वभौम विजय के यत्न से प्रभावित हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। जैसे चन्द्रगुप्त का भारतीय साम्राज्य यूनान के अभाव भारतीय साम्राज्य का उत्तर [illegible] अशोक का धार्मिक आक्रमण यूनान की सभ्यता और संस्कृति [illegible] प्रत्युत्तर था।

यही दशा हम गुप्त-काल में देखते हैं। गुप्तों का राजनैतिक साम्राज्य हूणों और सीथियनों के आक्रमणों से दब गया, यहां एक प्रकार का मिला था। राजनैतिक संगठन प्रायः बाहिर से आने वाले धक्कों के कारण ही उत्पन्न हुआ करते हैं। गुप्त साम्राज्य उत्तर की जातियों की विजय कामना का फल था। साथ ही गुप्तों के समय धर्म का पौराणिक धर्म के रूप में संगठन जहां एक ओर आर्य जाति की आन्तरिक स्थिति को सूचित करने वाला चिह्न था, वहां साथ ही यह उत्तर दिशा के आक्रमणकारियों के प्रभाव से भी हीन नहीं था। पौराणिक धर्म के संगठन में अन्दर की हलचल और बाहिर की क्रिया दोनों ही स्पष्ट दिखाई देती हैं।

बहुत काल पीछे, लगभग ११ वीं शताब्दि के प्रारम्भ में मुसलमानों का भारत पर पूरा आक्रमण प्रारम्भ होता है। इस्लाम का भारत पर राजनैतिक आक्रमण नहीं था। वह आक्रमण प्रधानतया धार्मिक था, राजनीतिक राज्य उसका केवल आनुषङ्गिक फल था। इस्लाम की तलवार भारत को मुसलमान बनाने आई थी। आकर देखा तो शिकार को निर्बल पाया। छिन्न भिन्न भारत थोड़े ही समय में राजनीतिक पराधीनता में आ गया। तलवार का असली उद्देश्य भारत को धार्मिक रूप से सर करना था। यह निश्चय से कहा जा सकता है कि उद्देश्य में इस्लाम को काफी सफलता नहीं प्राप्त हुई। कारण यह कि जब भारत कई सदियों तक पराधीन रह कर भी अपनी सम्मिलित राजनीतिक शक्ति को मुसलमानों की राजनीतिक शक्ति के विरोध में खड़ा न कर सका, तब उसने प्रारम्भ से ही अपने धार्मिक संगठन को समयानुकूल परिवर्तन करके आत्मरक्षा के लिये खड़ा कर दिया था।

मुसलमानों के सुदीर्घ काल में भारत के धर्म में हम जो उतार चढ़ाव दिखाई देते हैं, वह दो प्रकार के हैं। एक ओर बाह्य आक्रमण को रोकने के लिये खाइयां खुद रही हैं, दूसरी ओर बड़े स्थानों पर एक विचारशील सिद्धान्त में इस्लाम और हिन्दू धर्म को सम्मिलित करने के प्रयत्न कर रहे हैं। इन दोनों ही में हमें बाहिर का असर दिखाई देता है। पर्दाप्रथा, खानपान के बन्धन, जाति के कड़े विभाग, छूत छात, यह बाड़ थीं, जिनका उद्देश्य भारतीय धर्म की इस्लाम से रक्षा करना था। सदियों तक भारतीय धर्म इस्लाम के प्रभाव को रोकने के लिये चेष्टा करता रहा और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि जैसी असफलता धार्मिक दृष्टि से उसे भारत में हुई, वैसी कहीं नहीं हुई।

परन्तु जो बन्द इस्लाम की गति को रोकने के लिये बन रहे थे, वह हर प्रकार से लाभदायक ही सिद्ध नहीं हुए। उन्होंने शुद्ध हवा का प्रवेश रोक दिया, उन्नति और विकास के लिये गुञ्जायश न छोड़ा, और धर्म के बलवान् प्रवाह को ऊंचे किनारों में

घेर कर काई मच्छर और कीचड का घर बना लिया। शत्रु के घाने को रोकने के लिये शहर के निवासी चारों ओर खाई खोद लेते है, ऊंची दीवार चुन देते हैं, बाहिर जाना आना रुक जाता है। श॒त्रु अन्दर न आ सके परन्तु शहर के निवासी भी बाहिर नहीं जा सकते। उन्नति रुक जाती है, खाना पीना कम हो जाता है, महामारी पड जाती है। यदि कोई नगर अपनी रक्षा भी करना चाहे, और महामारी से भी न मरना चाहे, तो उसके लिये एक ही मार्ग है। वह किले से निकल कर शत्रु पर जा टूटे और उसे मार भगाये। दुर्भाग्य से उस समय हिन्दू धर्म में जान नहीं थी। वह आत्म रक्षा मे लगा रहा, इस्लाम पर प्रत्याक्रमण करने का उसने विचार नहीं किया। फल यह हुआ कि घर मे महामारी पड गई। १९ वीं शताब्दि के मध्य में हम भारत के असली धर्म को जजीरों से बधा हुआ, दीवारों से घिरा हुआ, और शहतीरों से दबा हुआ पाते हैं।

मुसल्मान काल के अन्तिम भाग मे, अकबर की उदार धर्म नीति के प्रभाव से कुछ ऐसे भी यत्न हुए जिनका उद्देश्य धर्म के विश्वरूप को आगे रखकर हिन्दू मुसल्मान के भेद को मिटाना था। भक्त कबीर ऐसे यत्न करने वालों मे से मुख्य था। कबीर के शिष्य उसके सिद्धान्त का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन करते हैं—

सबसे हिलिये सब से मिलिये सब का लीजिये नाऊ।
हाजी हाजी सब से कीजिये बसे आपने गाऊ॥

भक्त कबीर के वचनो मे ज्ञात होगा कि वह धर्म के व्यापक रूप में भेदों को किस प्रकार तिरोहित करना चाहता था।

कबीर के शिष्य बुल्ला साहिब ने अपने झूलने में यह कविता लिखी है।

जह आदि न अन्त न मध्य है रे जह अजरन निरञ्जन है मेला।
जह बेद किते बन भेद है रे, नहि हिन्दु तुरक न गुरु चेला॥
जह जीयन मरन न हानि है रे, अगम अपार में जाय खेला।
बुल्ला दास प्रतीत या बोलयारी सत गुरु सत शब्द देला॥

मारवाड के भक्त दरिया साहिब ने हिन्दू मुसल्मान दोनों को एक ही पलडे मे डाल दिया है।

मुसलमान हिन्दू कहा, षट दरसन रक राव।
जन दरिया निज नाम बिन सब पर जम का दाव॥

दूलनदास जी अपने झूलने में कहते हैं—

हिन्दू तुरक दुइ दीन आलम, आपनी ताकीन मं।
यह ... नु एक है, करु ध्यान दशरथनन्द का॥

यहां कवि मस्तनाम वेद के विषय में कहते हैं —

तीन लोक तो वेद बखाना। चौथे लोक का मर्म न जाना॥

भक्तराज धर्मदास जी कहते हैं —

एक धना धन मोरा हो।
जा धन ते जग भये धनी वहू हिन्दू तुरक घनेरा हो।
सो धन धरनी सहजहिं पायो केवल सतगुरु के निहोरा हो॥

कबीर तथा अन्य भक्तों का यह यत्न चाहे कितना ही उत्तम था, परन्तु उसमें सफलता नहीं हुई। सफलता न होने का कारण स्पष्ट है। भक्त लोग दो ऐसे धर्मों को मिलाना चाहते थे, जिनके मिलन में दो बड़ी २ रुकावटें थीं। पहिली रुकावट राजनीतिक था। मुसलमान विजेता थे, हिन्दू विजित थे। जहां एक ओर विजेता विजित के धर्म को तुच्छ मान कर उसके साथ सन्धि करने को उद्यत नहीं होता वहां विजित जाति यदि इतिहास और आत्माभिमान रखती हो तो कभी विजेता के धर्म को स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं होता। राजनीतिक पराजय से गये हुए आत्मसम्मान को वह धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में चौगुने हठ के साथ सम्भालने का यत्न करती है। कबीर और उनके साथियों की असफलता का दूसरा कारण यह हुआ कि वे ऐसे धर्मों को मिलाना चाहते थे, जो मौलिक रूप से भिन्न हैं, जिनकी आधार भूत कल्पनायें ही जुदा २ हैं।

मिलाप के यत्न निष्फल हुए। हिन्दू धर्म ने प्रत्याक्रमण करने का यत्न न कर आत्मरक्षा के लिये खाई पर खाई खोदी, दीवार पर दीवार चुनी। यहां तक कि वह घुटने लगा, उचित भोजन के अभाव से ढांचा ढीला होने लगा, अंग से अंग जुदा होगया। डरे हुए, घिरे हुए, भूखे किले में सदा फूट पड़ जाया करती है। हिन्दू धर्म के घिरे हुए किले में भी फूट पड़ गई। परिणाम में अनगिनत मत और सम्प्रदाय उत्पन्न होगये जिनकी अधिक संख्या का अनुमान इसी से लग सकता है कि वैष्णव, शैव, और शाक्त इन तीन बड़े पन्थों में से केवल वैष्णव के ही निम्नलिखित २० सम्प्रदाय थे जो एक दूसरे को झूठा मानते और कहते थे।

(१) श्री सम्प्रदाय (२) वल्लभाचारी (३) मध्वाचारी या ब्रह्म सम्प्रदाय (४) सनकादिक सम्प्रदाय या 'नीमावत' (५) रामानन्दी या रामावत (६) राधावल्लभी (७) नित्यानन्दी (८) कबीरपन्थी (९) खाकी (१०) मलूकदासी (११) दादूपन्थी (१२) रैदासी (१३) सेनाई (१४) मीराबाई (१५) सखीभाव (१६) चरणदासी (१७) हरिश्चन्द्री (१८) सधनापन्थी (१९) माधवी (२०) वैरागी और नागा सन्यासी।

शैवों के ७ बड़े भेद थे —

(१) सन्यासी दण्डी आदि (२) योगी (३) जंगम (४) ऊर्ध्व बाहु (५) गूदड़ (६) रूखड़ (७) कड़ालिंगी ।

शाक्तों के बड़े भेद निम्नलिखित थे —

(१) दक्षिणाचारी (२) वामी (३) कानचलिये (४) करारी (५) अघोरी (६) गाणपत्य (७) सौरपत्य (८) नानकपन्थी (९) बाबालाली (१०) प्राणनाथी (११) साध (१२) सत्नामी (१३) शिवनारायणी (१४) शून्यवादी ।

(आर्यदर्पण । जून १८८० ई०

तालिका यह दिखाने के लिये उद्धृत की गई है कि १९ वीं शताब्दि के मध्य में हिन्दू धर्म का ढांचा किस प्रकार से बिगड़ चुका था । भेद वेढब बढ़ गये थे । अनाचार पूरे जोर पर था । धर्म की प्रेरक शक्ति जाती रही थी ।

भारत का प्राचीन आर्य धर्म इस सर्वांग पतन की दशा में था जब देश पर चौथे विदेशी तूफान का आक्रमण हुआ । यूरोपियन जातियां आखेट भूमि की टोह लगाती हुई भारत के समुद्र समीपवर्ती सीमाप्रान्तों पर आ पहुंची । उन्हें किस प्रकार देश में प्रवेश मिला, किस प्रकार देश की बिगड़ी हुई दशा ने उन्हें यहां आधिपत्य जमाने में सहायता दी, किस प्रकार अन्य शक्तियों को परास्त करके अंग्रेजों ने प्रभुत्व जमाने में सफलता प्राप्त की—यह सब विषय राजनैतिक इतिहास के हैं । हमें यहां यह देखना है कि यूरोपियन सफलता का प्रभाव भारत के धार्मिक विचारों पर किस प्रकार पड़ा । यूरोपियन जातियां अपने साथ दो वस्तुएं लाईं—एक ईसाइयत, और दूसरी पाश्चात्य सभ्यता । इन दोनों का भारत पर एक साथ असर हुआ । इस्लाम तलवार के साथ आया था, वह बड़े वेग से फैला, परन्तु उसका प्रतिरोध भी उसी वेग से हुआ । ईसाइयत का प्रचार दूसरी विधि से हुआ । उस विधि में शिक्षणालय, प्रचार का संगठन और प्रलोभन—यह तीन साधन प्रधान थे । ईसाइयों ने स्कूल और कालिज खोलकर भारत के शिक्षित समाज को रिझा लेने का यत्न किया । कुछ काल तक उस यत्न में सफलता भी हुई । ईसाइयों का प्रचार सम्बन्धी संगठन पहिले ही बहुत बढ़िया था—भारत के अनुभव से उसमें और भी अधिक पुख्तगी आगई । जो भारतवासी ईसाई बन गये, वह चाहे किसी भी दर्जे के हों, सरकारी नौकरियों में उन्हें तर्जीह दी जाने लगी । इस प्रकार ईसाई धर्म धीरे २ परन्तु निश्चित रूप से देश की गहराई में प्रवेश करने लगा ।

जब तक इस्लाम का प्रचार तलवार के जोर से होता रहा, हिन्दू धर्म भी उससे बचने के लिये अपने चारों ओर बाड़ें खेंचता रहा, परन्तु [illegible]

दो उत्तरवर्ती राजाओं ने गहरे शान्त उपायों से इस्लाम की जड़ पाताल में पहुँचाने का उद्योग किया, तब ऐसे भक्तजन उत्पन्न हुए जिन्होंने हिन्दू मुसलमानों के परस्पर भेदों को दूर करके एकेश्वरवाद के झगड़े तरे हटाने का यत्न किया। फिर जब औरंगजेब ने शान्त नीति का परित्याग किया, तब उत्तर और दक्षिण में हिन्दू धर्म तलवार लेकर खड़ा हुआ। यह स्मरण रखना चाहिये कि औरंगजेब की अनुदार धार्मिक नीति से पहिले सिक्खमत भी हिन्दू मुसलमान के भेद को मिटाने का ही एक यत्न था।

ईसाइयत का प्रचार अकबर की नीति से शुरू हुआ। परिणाम भी वैसा ही हुआ। निरामी भारतवासियों के हृदयों ने बिना किसी आशंका के ईसाइयत के प्रभावों का स्वागत किया। कई बड़ी प्रतिष्ठा और योग्यता रखने वाले भारतवासी, जो शायद तलवारी धर्म का सामना करने में तलवार के घाट उतरने को सहर्ष उद्यत होते, इस शान्त धावे के शिकार हुए। कुछ ही समय पीछे ईसाई फ़कीर के कबीर भी जन्म लेने लगे। धर्म के विश्वरूप में ईसाइयत और हिन्दूपन के भेद को मिटा देने का उद्योग बंगाल में ब्रह्मसमाज ने उठाया। यदि ब्रह्मसमाज के इतिहास को विस्तार से पढ़ें तो हमें प्रतीत होगा कि उसके नेताओं का उद्योग ईसाइयत और हिन्दू धर्म की मध्यमावस्था निकालकर दोनों को साथ २ दार्यजीवी बनाने के लिये था। हिन्दूपन को ईसाइयत की परमन लगा कर उस रगड़ को दूर करने के लिये था, जिसका शीघ्र या देर में उत्पन्न होना अवश्यम्भावी था।

शान्त परन्तु गहरे और पेचदार उपायों से ईसाइयत भारत के धार्मिक दुर्ग में प्रवेश कर रही थी। वह दुर्ग बड़ी शोचनीय दशा में था। रीति और बन्धन की जो बाड़ें इस्लाम के धावे को रोकने के लिये बनाई गई थीं, वह अपनी ही वृद्धि को रोक रही थीं। चारदीवारी से घिर जाने के कारण हवा गन्दी हो गई थी, पानी सड़ गया था, अन्न कष्ट के कारण दुर्ग के निवासियों में फूट पड़ी हुई थी। दुर्ग की दशा को यदि संक्षेप में कहना हो तो हम कहेंगे कि भारत के निजधर्म हिन्दू धर्म–को रूढ़ि और तुच्छ भेदों के रोग लगे हुए थे। एक ओर बन्धन और रीति रिवाज का ज़ोर दूसरी ओर तुच्छ भेदों के कारण एकता का नाश–यह दो रोग थे, जिनसे भारत का धर्म रूपी शरीर पीड़ित हो रहा था। चुपचाप ईसाइयत के कीटाणु हवा और पानी के साथ उस शरीर में प्रवेश कर रहे थे। ब्रह्मसमाज ने इस दशा का अनुभव तो किया परन्तु रोकने का जो यत्न किया वह यह था कि ईसाइयत के कीटाणुओं से युक्त जलको कुछ स्वादु रूप दे दिया। इस उपचार से रोग दूर होगा या नहीं–कीटाणुओं से युक्त जल शरीर में प्रविष्ट होने से रुकेगा या नहीं—उन प्रश्नों का उत्तर हम नहीं देंगे, क्योंकि इतिहास दे चुका है।

यह दशा थी जब दयानन्द ने गुरु से विदायगी ली। उसने इस दशा के सुधार का क्या उद्योग किया ? यह अगले परिच्छेदों का विषय है।

पांचवां परिच्छेद

सुधार की प्रारम्भिक दशा।

(ई० १८८३ से १८८५)

यह समझना भूल है कि स्वामी दयानन्द ने गुरु के पास से आते ही सुधार का पूरा कार्यक्रम निश्चित कर दिया था। गुरु के पास से विदा होने के समय स्वामी जी के पास ये वस्तुयें थीं। (१) उनके पास संस्कृत व्याकरण और दर्शनों का पाण्डित्य था (२) अखण्ड ब्रह्मचर्य, प्रतिभा, उत्साह और व्याख्यान शक्ति-यह गुण विद्यमान थे (३) विद्वानों साधुओं और पन्थाइयों की दशा देख कर निश्चय हो चुका था कि धर्म की दशा बिगड़ी हुई है। सुधार करने और विशुद्ध धर्म का प्रचार करने की अभिलाषा विद्यमान थी। एक सुधारक में जिन गुणों की बीजरूप से आवश्यकता होती है, वह स्वामी दयानन्द में विद्यमान थे। साथ ही यह भी निश्चित है कि सुधार कार्य के यौवन में स्वामी दयानन्द के शस्त्रागार में जो २ साधन सन्नद्ध हो गये थे, अभी उन में से कुछेक का विकास होना बाकी था। (१) अभी स्वामीजी को वेद पूर्णतया प्राप्त नहीं हुए थे। वेदों की पुस्तकों तक की खोज अभी शेष थी, उनकी व्याख्या या उनमें एकान्त भावना की अभी चर्चा तक नहीं थी, (२) विस्तृत संसार का ज्ञान संसार में भ्रमण करने पर ही प्राप्त होता है। अभीतक गृहस्थों और पुजारियों की सृष्टि में अधिक प्रवेश का अवसर नहीं मिलने से रोग का पूरा २ ज्ञान भी नहीं हुआ था (३) रोग का ज्ञान होने पर भी सुधार रूपी दवा का ठीक प्रयोग तभी हो सकता है, जब वैद्य कुछ परीक्षण कर ले। वैद्य पहले एक दवा का प्रयोग करता है, फिर उसके फल यदि सन्तोष दायक हों तो उसी को जारी रखता है अन्यथा बदल देता है। चतुर से चतुर वैद्य ठीक परीक्षण करके ही ठीक औषध पहुंचता है।

पहले तीन साल तक स्वामी दयानन्द ने जो सुधार का कार्य किया, वह एक प्रकार से परीक्षणात्मक था। वह उस भारी और सर्वतोगामी सुधार का प्रारम्भिक पड़ाव था, जो कुछ वर्ष पीछे भारत के विशाल कार्य को प्रकम्पित कर देने वाला था, हम इस प्रारम्भिक कार्य में भी उन सब गुणों को बीज रूप में पाते हैं, जो पीछे से वृक्षरूप में परिणत हो कर सफलता के साधन हुए, परन्तु पीछे से सुधार के प्रोग्राम में जो पूर्णता आगई थी वह ... [illegible] हुआई देती। सुधार रूपी चित्र की बाह्य रेखायें तय्यार थीं,

परन्तु उसमें रंग और छाया का स्थान खाली था, जिसे भरने के लिये समय और और अनुभव की आवश्यकता थी।

इन प्रारम्भिक मान्यताओं में स्वामी जी ने जो सुधार उपस्थित किये, उनमें से पहला और मुख्य स्थान मूर्ति पूजा के खण्डन का है। मूर्ति पूजा से उनका विश्वास उसी समय से हिल चुका था, जिस समय उन्होंने शिवरात्रि की अंधियारी में शिवलिंग के ऊपर से चूहे को चावल उठाते हुए देखा था। उस समय जो शंका उत्पन्न हुई, वह सच्चाई, स्वाध्याय और विचार से दृढ़ होते होते विश्वास के रूप में परिणत हो गई। मूर्ति पूजा को सर्वथा भूल मानना और परमात्मा के निराकार निर्विकार अद्वितीय स्वरूप का प्रतिपादन स्वामी दयानन्द का प्रारम्भ से ही लक्ष्य था। सुधारकों की कसौटी ईश्वरसम्बन्धी विश्वास है। कोई सुधारक या धर्म संस्थापक उपास्य देव का जिस स्वरूप में प्रतिपादन करता है, उसी से उसका दर्जा नापा जाता है। ईश्वर-स्वरूप-सम्बन्धी विचार धर्म के जड़ हैं। कोई भी धर्मोपदेशक जनता में कोई भारी परिवर्तन नहीं उत्पन्न कर सकता, जब तक वह उनके मूल धार्मिक विचारों को जड़ तक पर नहीं मोड़ देता। मूल धार्मिक विचारों में प्रथम स्थान ईश्वर विश्वास का है। कई सुधारक यत्न करते हैं कि वे आम के पेड़ की पत्तियों में पैबन्द लगा कर फल को मीठा बना सकेंगे, परन्तु निश्चय है कि वे निराश होंगे। ऐसे यत्न हुए, और निष्फल हुए। जब तक तने में पैबन्द नहीं लगता, तब तक फल मीठे नहीं हो सकते। स्वामी दयानन्द के हृदय में सुधारों की भावना का प्रारम्भ मूर्ति की सत्ता में अश्रद्धा होने से हुआ था। ईश्वर सम्बन्धी अशुद्ध विचारों की जड़ में यह पहला कुठाराघात था। ज्यों २ विद्या की वृद्धि होती गई, ज्ञान के चक्षु खुलते गये, सद्गुरुओं से उपदेश सुनने का अवसर मिलता गया वही प्रारम्भिक भावना अधिकाधिक पुष्ट होती गई। विद्याभ्यास समाप्त करने के अनन्तर स्वामी दयानन्द ने जो पहला सन्देश जनता को सुनाया वह निराकार ईश्वर की उपासना का था। मथुरा से सीधे आप आगरे गये, और यमुना के किनारे गऊघाट के पास लाला गल्लामल्ल रूपचन्द के बगीचे में ठहरे। वहां अन्य सदुपदेशों के साथ २ मूर्ति पूजा का खण्डन बराबर जारी रहता था। स्वामी जी ने वहां पञ्चदशी की कथा प्रारम्भ की। उसकी १६ वीं कारिका का उत्तरार्द्ध यह है 'माया बिम्बो वशी कृत्य तत्स्यात्सर्वज्ञ ईश्वर' माया में चिदात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह माया को वश में कर लेता है और ईश्वर कहाता है। कहां निराकार ब्रह्म—और कहां उसका प्रतिबिम्ब पड़ना। ईश्वर प्रतिबिम्ब मात्र है—सत्य नहीं। जिस दयानन्द ने वेदों से 'अकायमव्रणमस्नाविरं' इत्यादि शब्दों से विशेषित ब्रह्म का अध्ययन किया था, और ब्रह्म तथा ईश्वर एक ही चिदात्मा के नाम हैं—यह निर्णय किया था, उसे पञ्चदशी के इस लेखों ने धक्का दिया। स्वामी दयानन्द ने उस समय से पञ्चदशी और अद्वैत के अन्य ग्रन्थों को त्याज्यों की श्रेणी में लिख लिया।

जीवन चरितों के लेखकों ने लिखा है कि इन पहले तीन मासों में स्वामी दयानन्द वैष्णव मत का खण्डन करते थे, और शैव मत का प्रतिपादन करते थे। उस समय, (और अब भी यही दशा है) मथुरा के आस पास वैष्णव सम्प्रदायों का बड़ा जोर था। मथुरा कृष्ण जी की पुरी है। वह वैष्णवों का गढ़ है। वहां रहते हुए आपने उस अन्ध परम्परा को देखा जो कृष्ण के नाम पर चलाई गई थी। रामानुज और बल्लभ सम्प्रदाय की लीलाओं के देखने का भी आपको अवसर मिला। भागवतकार ने योगिराज कृष्ण के चरित को कई अंशों में कैसा बिगाड़ा है, यह भी आपने भली प्रकार देखा। इस कारण उस समय स्वामी जी के हृदय में वैष्णव कर्मकाण्डियों के प्रति बड़ा क्षोभ था। वृन्दावन की लीलायें उन्हें प्रेरित करती थीं कि वह वैष्णव मत का खण्डन करें। आगरे से धौलपुर ठहरते हुए स्वामी जी ग्वालियर पहुंचे। वहां सींधिया की ओर से भागवत की कथा का प्रबन्ध हो चुका था। एक विद्वान् साधु आया है, यह सुनकर महाराज ने स्वामी जी को भी निमन्त्रण भेज दिया। स्वामी जी ने कहला भेजा कि भागवत की कथा से दुःख के सिवा कुछ न मिलेगा, यदि सुख चाहते हो तो गायत्री का पुरश्चरण कराओ। राजा यह सुनकर केवल हंस दिया। भागवत की कथा प्रारम्भ होगई। उधर स्वामी जी ने संस्कृत में भागवत के खण्डन में व्याख्यान देने आरम्भ किये। स्वामी जी कुछ समय आगरा और उपदेश में बिता कर जयपुर पहुंचे और वहां चार मास तक रहे। यहां आप उपनिषदों की कथा करते थे, और मूर्तिपूजा का खण्डन करते थे। भागवत के खण्डन में जयपुर में आपने एक विज्ञापन भी प्रकाशित किया, जिसमें बतलाया कि भागवत के कर्ता व्यासदेव नहीं, अपितु बोपदेव नामा पण्डित है, जिसने कृष्ण के निष्कलङ्क चरित को कलङ्कित कर दिया है। पुष्कर के मेले में पहुंचकर स्वामी जी ने रामानुज सम्प्रदाय का खूब खण्डन किया, और कण्ठी भी तुड़वाईं। इस प्रकार स्वामी जी मूर्ति पूजा और अन्य सब कुरीतियों के विरुद्ध जो भयङ्कर तूफान खड़ा करने वाले थे, उसकी पहली चोटें वैष्णवों पर पड़ीं। प्रतीत होता है कि वैष्णवों के विरोध में प्रारम्भिक काल में वह कभी २ शैव मत का पक्ष ले लिया करते थे। उसके विषय में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम तो यह कि अभी तक स्वामी जी का सुधार का पूरा प्रोग्राम बना नहीं था—बन रहा था। दूसरी यह बात कि स्वामी जी कहा करते थे कि 'शिव परमात्मा का नाम है, पार्वती के पति को मैं नहीं मानता।'

आपको गोरक्षा की प्रारम्भ से ही धुन थी। १८६६ ई० के मई मास में स्वामी जी अजमेर पहुंचे, और बसालाल जी सरिश्तेदार के यहां ठहरे। यहां आप मेजर ए० जी० डेविडसन, कमिश्नर और कर्नल ब्रुक, असिस्टेंट कमिश्नर, से मिले और उनके सन्मुख गोरक्षा का प्रश्न रखा। स्वामी जी ने उन्हें समझाया कि गौओं की हत्या बन्द करने से राजा और प्रजा दो[illegible] है। सरकारी अफसर तो सरकारी अफसर ही ठहरे हैं।

असिस्टैंट एजिण्ट साहिब ने स्वामी जी को लाट साहिब के नाम एक चिट्ठी लिख दी और कह दिया कि आप "लाट साहिब से अवश्य मिलें, जिस साहिब को आप मेरी चिट्ठी दिखायेंगे, वह आप से आदर से मिलेगा" सरकारी अफसर का सीधा इन्कार स्वामी जी ने शान्ति से स्वीकार कर लिया। यह स्वामी जी के हृदय की दृढ़ता और सादगी का नमूना है।

प्रारम्भ से अपने विचारों को प्रगट करने के लिए स्वामी जी तीन उपाय काम में लाते थे। व्याख्यान देते थे, विज्ञापन निकालते थे, और शास्त्रार्थ के लिए ललकारते थे। व्याख्यान तो सभी स्थानों पर देते थे, जयपुर आदि में लिखित विज्ञापन भी प्रकाशित किये। पहले पहल आपने ग्वालियर में भागवत के विषय में वैष्णव पण्डितों को चैलेंज दिया। जीवन चरितों में लिखा है कि सब पौराणिक पण्डित इधर उधर खिसक गये, कोई सामने नहीं आया। फिर जयपुर में महाराज के सामने व्यास बख्शीराम जी आदि से स्वामी जी का शास्त्रार्थ हुआ। इसमें भी पौराणिक पण्डित निरुत्तर होगये। शास्त्रार्थों की बहुत धूम तो पुष्करराज में रही। यहां आप देर तक ब्रह्मा जी के मन्दिर में निवास करते रहे। कभी पण्डों से, कभी ब्राह्मणों से, और कभी सन्यासियों से शास्त्रार्थ की चर्चा चलती ही रहती था। एक बार बहुत से पण्डे लट्ठ लेकर स्वामी जी पर चढ़ आये। यों तो स्वामी जी अकेले ही पर्याप्त थे, परन्तु एक सहायक भी आ पहुंचा। ब्रह्मा जी के मन्दिर के पुजारी मानपुरी जी मोटा डण्डा लेकर पहुंच गये और पण्डों को भगा दिया। अजमेर में लौटने पर आपका पादरी रौबिन्सन और पादरी शूलब्रेड से ईश्वर जीव आदि विषयों पर ३ दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा। पादरियों को निरुत्तर होना पड़ा। वह स्वामी जी के सुलझे हुए विचारों और वाक् चातुर्य से इतने प्रसन्न हुए कि स्वामी जी को एक पत्र लिख कर दे दिया, जिसमें लिखा कि हमने जीवन भर में ऐसा संस्कृत का विद्वान् नहीं देखा। ऐसे मनुष्य संसार में कम होते हैं।

इस प्रकार यह तीनों उपाय, जिनसे एक प्रचारक को काम लेना चाहिये, प्रारम्भ से ही ऋषि दयानन्द ने अंगीकार कर लिये थे। आगे इन्हीं साधनों का विकास होता गया यहां तक कि स्वामी जी व्याख्यान लेख और शास्त्रार्थ—इस तीन प्रकार की युद्ध सामग्री के आधार हो गये।

छठा परिच्छेद।

सुधार की मध्यमदशा का आरम्भ।

१८६७ ईस्वी के अप्रैल मास में हरिद्वार का बड़ा कुम्भ था। देश भर के साधु सन्यासी इस मेले में एकत्र होते हैं। हिन्दू जाति की भलाई और बुराई, सुन्दरता और कुरूपता, दोनों का ही स्पष्ट रूप से दिग्दर्शन करना हो, तो दस पांच दिन इस विख्यात समारोह की सैर कर लेना पर्याप्त है। हिन्दू जाति श्रद्धामयी है। उस श्रद्धा का कुम्भ के मेले में मानों समुद्र उमड़ पड़ता है। जहां एक ओर ऐसे बूढ़े पुरुष लठिया टेक कर स्टेशन से धर्मशाला की ओर जाते दिखाई देंगे, जिनकी कमर झुक गई है, दांत मुंह को छोड़ भागे हैं, एक पांव यमपुरी की दहलीज पर धरा जा चुका है, वहां दूसरी ओर दुधमुंहे बच्चे, धूप और प्यास का कष्ट सहन करती हुई असूर्यम्पश्या हिन्दू ललनाओं की गोद में रह कर भारत की माताओं के अतुल विश्वास और तप की सूचना देते हैं। गृहस्थ लोग लाखों की संख्या में एकत्र होकर साधु सन्तों के दर्शन करते हैं, गंगा के विशुद्ध शीतल जल में स्नान करके अपने को धन्य मानते हैं, और अब तक भी हिन्दूपन जीवित है, इसकी सूचना देते हैं। ऐसे ही मेले भारत की आर्य जाति की मौलिक एकता को सिद्ध करते हैं। भीड़ में दृष्टि उठा कर देखिये कहीं अक्खड़ पंजाबी साफा दिखाई देता है, तो कहीं लखनऊ के शौकीन की दुपल्ली टोपी में से घुंघराले बाल दृष्टि गोचर होते हैं। कहीं मदरासी के नंगे सिर पर गोखुर से दुगनी शिखा नजर आती है, तो कहीं नाजुक गुजराती के नाटे शरीर के शिरोभाग पर लाल पगड़ी सुहाती है। सारांश यह कि भारत भर के हिन्दू निवासी एक डोरी में बन्धे हुए हैं—कुम्भ के मेले पर अविश्वासी से अविश्वासी हृदय भी इस बात पर विश्वास किये बिना न रहेगा।

यह तस्वीर का उज्ज्वल पहलू है। अंधेरा पहलू भी कुछ कम गहरा नहीं है। छल कपट आलस्य तथा स्वार्थ के शरीर बिना ढूंढे ही मिल जायेंगे। भोगमय त्याग, दुराचारमय साधुभाव, और दम्भ का विरोधी रूप आपको पग पग पर दिखाई देगा। जिनके गृहस्थ नहीं है, उनके अन्तःपुर में पुत्र कलत्र, जिनकी आमदनी का कोई साधन नहीं है, उनके द्वार पर हाथी और घोड़े, और जो त्यागी कहलाते हैं उनके सन्दूकों में लाखों के तोड़े—यह सब कुछ बिना विशेष यत्न के ही दीख जायगा। सच्चे हृदय भक्त और महात्माओं के दिखावा का नाश करने वाले अन्दर वैरागी महेश्वर मिल र

उपायों से अपने इन्द्रिय सुख की साधना में लगे दिखाई देते हैं। जिसे हिन्दू धर्म की गिरी हुई दशा देखनी हो, वह आँखें खोल कर एक बार हरिद्वार के कुम्भ को देख आवे। जहाँ एक ओर कुम्भ पर एकत्र हुआ जन समूह देश भर के हिन्दुओं की मौलिक एकता को सूचित करता है, वहाँ साथ ही वह हिन्दुओं की नासमझी और अन्धी श्रद्धा में एकता को भी सूचित करता है।

स्वामी दयानन्द कुम्भ-स्नान से एक मास पूर्व ही हरिद्वार पहुँच गये, और सप्तस्रोत के पास गंगा की रेती में कुछ छप्पर डाल कर मध्य में पाखण्ड-खण्डनी झण्डी गाड़ दी। सप्तस्रोत में खड़े हुए युवक सुधारक के सामने जो परस्पर विरोध उपस्थित हुआ होगा, उसकी कल्पना की जा सकती है। एक ओर संसार में अनूठे हिमालय और भागीरथी का प्राकृतिक चित्र, दूसरी ओर अज्ञान और छल के भयानक चमत्कार क्या यह आश्चर्य और खेद उत्पन्न करने वाला दृश्य नहीं है? सप्तस्रोत पर खड़े हो कर ज़रा उत्तर की ओर दृष्टि उठाइये। पर्वत के पीछे पर्वत, जंगल के ऊपर जंगल, यहाँ तक बराबर चला गया है, यहाँ तक कि हिमालय की गगनभेदिनी चोटियाँ चाँदी के सदृश चमकते हुए बर्फ के मुकुट में अन्तर्धान हो गई हैं। इस चाँदी का पिघला हुआ प्रवाह, घाटियों कन्दराओं और तलेटियों में से होकर हरिद्वार के पास से गुज़रता है। जल क्या है—नील मणियों की छवि से प्रतिबिम्बित शुद्धतर अमृत है, जिसकी शीतलता सोने में सुगन्ध के समान है। एक ओर यह मन और तन को प्रसन्न और उन्नत करने वाला दृश्य—दूसरी ओर स्वार्थ अज्ञान और दम्भ की लताओं से लिपटी हुई मनुष्य प्रकृति। जिसे परमात्मा ने इतना सुन्दर बनाया है, उसे मनुष्य ने कितना बिगाड़ दिया है। जिसे मनुष्य नहीं बिगाड़ सका, वही सुन्दर है। ईश्वरीय सुन्दरता और मानवीय नीचता के दृश्य देख कर यदि युवक दयानन्द के हृदय में एक उग्र ज्वाला न भड़क उठती तो निस्सन्देह वह पाषाणात्मा सिद्ध होता।

स्वामी दयानन्द ने मेले पर एकत्र हुए हिन्दू समाज को देखा, और सम्पूर्ण समाज को एक ही बीमारी का शिकार पाया। क्या शैव, क्या वैष्णव, क्या संन्यासी क्या वैरागी, सब एक ही धुन में मस्त हैं, सब एक ही लीक के राही हैं। सुधार की प्रारम्भ-दशा में स्वामी जी ने शैवों को वैष्णवों से कुछ ऊँचा ठहराया था, कुम्भ पर देखा कि सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। न वह पूरा ज्ञानी है, और न यह अधिक अज्ञानी है। जो थोड़ा सा साम्प्रदायिक भेद हृदय में विद्यमान था, गंगा के निर्मल जल से वह भी धुल गया।

कुम्भ के समारोह में शास्त्रपारंगत स्वामी दयानन्द की प्रसिद्धि शीघ्र ही फैल गई। गृहस्थ और साधु लोग निडर सुधारक के तेजस्वी भाषण सुनने के लिए

आने लगे। कई विद्वानों ने योग्यता की परीक्षा करके उत्सुकता को दूर किया। यहां पहले पहल स्वामी दयानन्द जी की काशी के प्रसिद्ध स्वामी विशुद्धानन्द जी से मुठभेड़ हुई। विवाद पुरुषसूक्त पर था। स्वामी विशुद्धानन्द जी ने 'ब्राह्मणो-ऽस्यमुखमासीत्' इत्यादि मन्त्र से ब्राह्मण आदि वर्णों का ब्रह्मा के मुख से उत्पत्ति बत-लाई, और स्वामी दयानन्द जी ने शब्दार्थबल से यह सिद्ध करने का यत्न किया कि इस मन्त्र में ब्राह्मण को मुख के समान कहा है, मुख से उत्पन्न नहीं कहा। काशी के दिग्गज पण्डित के साथ एक युवक साधु की ऐसी बढ़िया टक्कर का जनता पर अवश्य ही बड़ा प्रभाव हुआ होगा।

कुम्भ का मेला होगया। इस मेले में स्वामी जी के डेरे पर कई साधु और शिष्य ठहरे हुए थे। सबके लिए भोजन आदि का वहां प्रबन्ध था। उस समय की रीति के अनुसार एक संघ के मुखिया साधु को सब प्रकार की जिस सामग्री की आवश्यकता होती थी, स्वामी जी के पास भी इस समय तक वह विद्यमान थी। मठधारियों और महन्तों की दुर्दशा देखकर स्वामी जी का विशुद्ध हृदय जल उठा। उन्हें अपनी थोड़ी सी सामग्री भी बोझल प्रतीत होने लगी। उनके हृदय ने कहा कि यदि त्यागियों की विलासिता का नाश करना है, तो पहिले स्वयं सर्वत्यागी बनना होगा। धर्म की बिगड़ी हुई दशा का अनुभव करके उन्हें अपने शरीर पर धारण करने के थोड़े से कपड़े भी बहुत प्रतीत होने लगे। साधु का सञ्चित सामग्री भी वैराग्य ने की जंजीर प्रतीत होने लगी। गृहत्यागी दयानन्द ने सर्वत्याग करने निश्चय कर लिया।

डेरे पर जो कुछ भी था, भिखारियों को बांट दिया गया। स्वामी दयानन्द ने एक कौपीन रख ली, शेष सब सामग्री दरिद्रों में वितीर्ण करदी। मलमल का थान और महाभाष्य का ग्रन्थ गुरु जी की सेवा में मथुरा भेज दिया। इस प्रकार सांसारिक वस्तुओं के इस हलके से बन्धन को काट कर सर्वत्यागी स्वतन्त्र दयानन्द मनुष्य जाति के बन्धनों को काटने के लिये सन्नद्ध हुआ। गंगा के पार, चांदी के पर्वत के नीचे रेतीले किनारे पर कुछ समय तक तपस्या करके उन्होंने अपने आपको उस महायुद्ध के लिए और भी अधिक तय्यार किया, जिसकी ओर भगवान् की इच्छा उन्हें खैंचे ले जा रही थी।

पाठक वृन्द! यहां सुधार की दूसरी दशा का आरम्भ होता है। सुधारक की दृष्टि अधिक विस्तृत हो गई है, रहे सहे रूढ़ि के बन्धन टूट गये हैं, और निसर्ग से ही उज्ज्वल प्रतिमा वास्तविक संसार की घटनाओं से रगड़ खाकर और भी अधिक उज्ज्वल हो उठी है।

—o—

सातवां परिच्छेद ।

गंगातट पर सिंह नाद ।

(सन् १८६७ से १८६९ के सितम्बर मास तक)

स्वामी दयानन्द हिन्दू जाति में फैली हुई कुरीतियों का नाश करने के लिये कटिबद्ध होकर गंगा तट पर भ्रमण करने लगे। सुधार की पहली दशा में जो दृष्टि सम्प्रदाय की रचनाओं से परिमित थी, वह इस दूसरी दशा में सम्पूर्ण आर्य (हिन्दू) जाति तक विस्तृत हो गई। इस समय स्वामी दयानन्द के प्रोग्राम में सम्पूर्ण आर्य जाति के रोगों को नष्ट करना और धर्म के स्वरूप को प्रकाशित करना था। जहां कहीं जाते थे, निम्न लिखित आठ गप्पों का खण्डन करते थे। यह ध्यान में रखना चाहिये कि इस समय स्वामी जी प्रायः संस्कृत में ही व्याख्यान देते थे। गप्पें यह हैं—(१) अठारह पुराण (२) मूर्ति पूजा (३) शैव, शाक्त, रामानुज आदि सम्प्रदाय (४) तन्त्र ग्रन्थ वाम मार्ग आदि (५) भंग शराब आदि सब नशे की चीजें (६) परस्त्रीगमन (७) चोरी (८) छल अभिमान झूठ आदि। वह इन आठ गप्पों का खण्डन करते थे और यह उपदेश देते थे कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य का एक ही गायत्री है। इन तीनों ही वर्णों को गायत्री के पाठ का समान अधिकार है, और उनमें से कोई वर्ण भी ऐसा नहीं जो यज्ञोपवीत का अधिकारी न हो।

इस समय के कार्यक्रम पर ध्यान देने से निम्न लिखित बातें स्पष्ट होती हैं।

(१) इस समय स्वामी जी का कार्यक्रम खण्डनात्मक था। आर्य जाति की दुर्दशा देख कर स्वामी जी का हृदय रो रहा था। उनका परोपकारी हृदय अपने सजातीयों की दशा देख कर शान्त नहीं रह सकता था। दुःख का मूल बुराइयों में था, इस कारण आपने बुराइयों को तर्क और ज्ञान के दावानल से जला कर राख कर देने का निश्चय किया। आपके जीवन का यह खण्डन युग कहा जा सकता है।

(२) ऊपर दिये हुए कार्यक्रम को देखने से यह भी स्पष्ट होगा कि स्वामी जी की दृष्टि जहां सम्प्रदायों की सीमा से बाहिर जा चुकी थी, वहां आर्य

जाति की सीमाओं का उल्लंघन नहीं कर सकी था। इसका कारण यह नहीं था कि संसार मात्र से उनके हृदय में स्नेह का भाव नहीं था, या वह केवल आर्य जाति को ही धर्म की अधिकारिणी समझते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि किसी भी सुधारक को लीजिये, वह सार्वभौमसिद्धान्तों का प्रचारक होता हुआ भी अपने वातावरण के अन्दर ही रह सकता है। ईसा को एक सार्वभौम सुधारक कहा जा सकता है, परन्तु बाइबिल में यहूदियों के पादरियों के दुर्व्यवहारों का खण्डन है, भारतवर्ष के ब्राह्मणों या बौद्धों में प्रचलित रीतियों का खण्डन नहीं। चाहे मनुष्य कितना ही बड़ा हो, वह सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रचार अपने दृष्टि क्षेत्र में आये हुए विषय की अपेक्षा से ही कर सकता है। उसकी बुद्धि वहीं तक फैल सकती है, जहां तक मनुष्य की बुद्धि का फैलना सम्भव है। इस समय तक स्वामी जी के दृष्टिक्षेत्र में आर्य जाति की आन्तरिक दशा ही आई थी। सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रयोग करके स्वामी जी ने उस बिगड़ी हुई दशा के कारणों पर विचार किया, उनका अनुसन्धान किया। जो उपाय उन्हें प्रतीत हुआ, उसका प्रयोग करने का यत्न किया। वह इस समय प्रधानतया खण्डनात्मक था।

कौपीन मात्रधारी स्वामी दयानन्द हरिद्वार से हृषीकेश और लढौरा होते हुए कर्णवास पहुंचे। हरिद्वार के कुम्भपर्व पर प्राप्त किया हुआ पाण्डित्य का यश स्वामी जी के आगे २ जाता था। कुम्भ पर प्रायः सारे देश के साधु और यात्री एकत्रित होते हैं। उन लोगों ने युवक सन्यासी के तेजस्वी भाषणों को और उनकी ख्याति को सुना था। वह लोग स्वामी जी के यश को उनके पहुंचने से पूर्व ही भिन्न २ स्थानों पर पहुंचा चुके थे। जहां स्वामी जी जाते, शीघ्र ही चारों ओर धूम मच जाती कि एक त्यागी सन्यासी आये हैं, जो धाराप्रवाह संस्कृत बोलते हैं, जिन्होंने हरिद्वार में स्वा० विशुद्धानन्द जी से टक्कर ली थी, जो पुराण और मूर्त्ति पूजा आदि का खण्डन करते हैं। स्वामी जी गंगा के तट पर रेती में विश्राम करते। रात को बालू का सिरहाना बनाकर सो रहते। दिन में गप्पों का खण्डन करते और सदुपदेश देते। शीघ्र ही चारों ओर चर्चा फैल गई। गृहस्थ लोग स्वामी जी के उपदेशों को सुनने, पहले आश्चर्यित होते और फिर सन्देह करने लगते। सन्देहनिवृत्ति के लिये अपने गुरु ब्राह्मणों के पास जाते। वहां स्वामी दयानन्द के लिये गालियां तो मिलतीं, परन्तु सन्देह का समाधान न मिलता। पण्डित लोग स्वामी जी के सम्मुख आकर प्रश्नोत्तर करने का साहस न करते। अनूपशहर में प० अम्बादत्त वैद्य और प० हीरावल्लभ पर्वती स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने आये। शास्त्रार्थ का उद्देश्य मूर्त्ति पूजा का मण्डन करना था, परन्तु फल उलटा निकला। प० अम्बादत्त ने स्वयं निरुत्तर होकर एक दूसरे पण्डित की ओर निर्देश कर दिया, और पर्वती जी ने परास्त होकर अपनी पहिले की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार

सामने रक्खी हुई शालिग्राम की मूर्त्ति को गंगा में प्रवाह कर दिया। फिर क्या था, प्रजा ने मूर्त्तियां गंगा प्रवाह के अर्पण कर दीं, कण्ठियां तोड़ डालीं—मानो बन्धन को काट दिया, और बन्धनों को काट डाला। क्षत्रियों और वैश्यों के समूह आ आकर स्वामी जी से गायत्री और यज्ञोपवीत का प्रसाद लेने लगे। गंगातट पर अन्धकार नष्ट होने लगा, और सदियों से अधिकार वञ्चित भारतीय प्रजा अपने धार्मिक अधिकारों को प्राप्त करके स्वामी दयानन्द का जय जयकार करने लगी।

कुछ दिनों तक इसी प्रकार भ्रमण करके स्वामी जी २० मई सन् १८६८ के दिन फिर कर्णवास आये, और अपनी कुटिया में आसन जमाया। स्वामी जी अत्यन्त निर्भय थे। यदि वह निर्भय न होते तो सुधार के काम में हाथ ही न डालते। सुधार का कार्य शेरों का है, गीदड़ों का नहीं। जो मनुष्य लोक-निन्दा से, किसी पागल के आक्रमण से या किसी शक्तिशाली के शस्त्र से डरता है, वह सदियों से जमी हुई कुरीति रूप काई को उखाड़ने का प्रयत्न नहीं कर सकता। कुरीति और रूढ़ि के कंटीले जंगल को तर्क और सुबुद्धि के कुठार से वही काट सकता है, जिसके हृदय में वाणी या वार का भय नहीं है। स्वामी दयानन्द ने सदियों से प्रचलित अन्धविश्वासों और रूढ़ियों के खण्डन का बीड़ा उठाया था, उन्होंने कुछेक महन्तों और पुरोहितों और टीकाधारियों द्वारा कुचले हुए जनता के अधिकारों को फिर से जगाने और अधिकारियों को सौंपने का सङ्कल्प किया था। यदि ऋषि शेर न होता, तो भारत भर के सम्प्रदायाचार्यों को न ललकार सकता।

कर्णवास में स्वामी जी की निर्भयता का एक दृष्टान्त संघटित हुआ। बरौली के राव कर्णसिंह गंगास्नान के लिए कर्णवास आये। कर्णसिंह वृन्दावन के वैष्णवाचार्य रंगाचार्य के शिष्य थे, और तिलकछाप लगाते थे। स्वामी जी की प्रसिद्धि सुनकर उनके स्थान पर पहुंचे। कर्णसिंह की प्रकृति बहुत उग्र थी। उसने सुना था कि स्वामी जी तिलकछाप का खण्डन करते हैं, इस लिए पहिले से ही उसके क्रोध का पारा चढ़ा हुआ था। स्वामी जी ने आदरपूर्वक पास के आसन पर बैठने के लिये कहा। कर्णसिंह ने उत्तर दिया कि 'हम वहीं बैठेंगे, जहां तुम बैठे हो।' इस पर स्वामी जी ने जिस शीतलपाटी पर वह बैठे थे, उसका कुछ भाग खाली कर दिया। यहां तो झगड़ा न बना। झगड़ा पैदा करने पर तुला हुआ कर्णसिंह निराश हुआ, तब नया ढंग प्रारम्भ हुआ। राव साहिब बोले कि 'तुम गंगा जी को नहीं मानते ?' स्वामी जी ने कहा कि 'जितनी गंगा जी हैं उतनी मानते हैं।'

कर्णसिंह 'कितनी ?'
स्वामी जी 'हम लोगों का तो गंगा जी कमण्डलु ही है'

इस पर कर्णसिंह ने गंगास्तुति के कुछ श्लोक पढ़े।

स्वामी जी—"यह सब तुम्हारी गप्प है। वह केवल पीने या पाना है, उससे मोक्ष नहीं हो सकता, मोक्ष तो केवल कर्मों से होता है, तुमको पोपों ने बहकाया है"। फिर स्वामी जी ने उसके माथे पर तिलक छाप देख कर कहा—

'तुमने क्षत्रिय होकर मस्तक पर यह भिखारियों का चिन्ह क्यों धारण किया है?'

कर्णसिंह—'हमारे स्वामी के सामने आपसे बात चीत भी नहीं होगी, तुम उनके सामने कीड़े के तुल्य हो, तुम से उनके जूते उठाते हैं'।

स्वामी जी ने हंसकर उत्तर दिया कि 'अपने गुरु को शास्त्रार्थ के लिये बुलाओ, यदि उनमें आने का सामर्थ्य न हो तो हम वहां चलें'।

इस पर क्रोध में आकर कर्णसिंह बेतुकी कहने लगा और स्वामी जी को धमकाने लगा। धमकी में आने वाले व्यक्ति दूसरे ही होते हैं। स्वामी जी ने धमकी के उत्तर में चक्राङ्कित सम्प्रदाय का बड़े बल से खण्डन किया, और अन्त में कहा कि 'तुम क्षत्रिय हो, जो रामलीला में लौंडों का स्वांग भरवा, महापुरुषों की नकल उतरवा उनको नचवाते हो, अगर तुम्हारी बहन बेटी को कोई नचवावे तो तुम्हें कैसा बुरा लगे?' यह सुनकर कर्णसिंह की आंखें लाल हो गईं, नथुने फड़कने लगे, और हाथ तलवार की मुट्ठी पर गया। कर्णसिंह का एक पहलवान आगे बढ़कर स्वामी जी पर हाथ डालने लगा। ब्रह्मचारी दयानन्द ने एक झटके से पहलवान को दूर फेंक दिया, और केहरी के सदृश गर्ज कर कर्णसिंह से कहा—

'अरे धूर्त! यदि शस्त्रार्थ करना है तो जयपुर और धौलपुर के राजाओं से जा लड़ो, और यदि शास्त्रार्थ करना है तो अपने गुरु रंगाचार्य को वृन्दावन से बुलवा लो।'

इतने में वहां उपस्थित जनता में से ठाकुर कृष्णसिंह आदि राजपूत लठ्ठ लेकर खड़े होगये, और कर्णसिंह को ललकारने लगे। कायर कर्णसिंह अपने पहलवानों को साथ लेकर वहां से चला गया।

बहुत से लोगों ने स्वामी जी से प्रार्थना की, कि इस घटना की सूचना पुलिस में की जाय। स्वामी जी ने स्मरणीय उत्तर दिया। आपने कहा कि 'यदि वह अपने क्षत्रियत्व को पूरा न कर सका तो हम क्यों अपने सन्यास धर्म से पतित होवें, सन्तोष करना ही हमारा परम धर्म है।'

इसके पीछे भी कर्णसिंह कई नीच उपायों से अपना क्रोध शान्त करने का यत्न करता रहा। स्वामी जी को मारने के लिये उसने कुछ बदमाश भेजे, योगी का हुङ्कार

सुन वह इस प्रकार बेहोश होकर भागे कि गिरते पड़ते २ बचे। कर्णसिंह ने कुछ बैरागियों को भी स्वामी जी के मारने के लिये तयार करना चाहा, पर किसी की हिम्मत न पड़ी। आखिर बात बढ़ गई, स्वामी जी के भक्त राजपूतों ने लट्ठ लेकर कर्णसिंह के मकान को घेर लिया और निकलकर लड़ने के लिये ललकारा। कर्णसिंह के श्वसुर ठाकुर मेहर सिंह ने भी उसे समझाया कि यदि खैर चाहते हो तो यहां से भाग जाओ। कायर कर्ण सिंह दूसरे रोज कर्णवास से भाग गया, और घर जाकर पागल होगया। मणि और काच की प्रतिद्वन्द्विता में मणि ने मणिता प्रगट करदी और काच ने काचता। शेर की खाल ओढ़कर गिदड़ कभी शेर नहीं बन सकता, जो हृदय से शेर है, वही असली शेर है। स्वामी दयानन्द हृदय के शेर थे।

कर्णवास से आसन उठा, स्वामी दयानन्द चाशनी, ताहरपुर और अहार होते हुए अनूपशहर पहुंचे। जहां गये, वहां मूर्ति पूजा मृतक श्राद्ध और फलित ज्योतिष आदि का खण्डन किया।

अनूपशहर में स्वामी जी लगभग चार मास तक रहे। जिन लोगों ने उस समय उन्हें देखा था, वह देर तक भी उस मूर्ति को न भूल सके। लम्बा कद, सुडौल शरीर चौड़ी छाती, सुन्दर और प्रभावशाली चेहरा, शेर की आंख को झपका देने वाली आंखें, उन्नत और विशाल मस्तक—यह बनावट जिसने एक बार देख ली वह उसे कैसे भूल सकेगा? उस समय एक कौपीन ही स्वामी जी का परिच्छद था। सर्दी हो या गर्मी—आंधी हो या पानी—यही परिच्छद शरीर की रक्षा के लिये काफी था। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठ कर नित्यकर्म से निवृत्त होकर स्वामी जी समाधिस्थ हो जाते, और दस बजे तक ध्यानावस्थित रहते। उसके पश्चात् एकत्र हुई प्रजा को धर्म का उपदेश देते। जो भिक्षा आ जाती, उसी से निर्वाह कर लेते। उपदेश प्रति दिन ही होता। पण्डित लोग अपने बाहुबल की परीक्षा के लिए आते, उनमें से कोई शहर से बाहिर ही रुक जाते, जो शहर में आते वह सामने आकर शास्त्रार्थ करने की अपेक्षा दूर से गालीप्रहार को ही बहादुरी समझते। जो सामने आ जाते, वह प्रत्युत्पन्नबुद्धि, युक्तियुक्त भाषण और ब्रह्मचर्य के तेज से प्रदीप्त आंखों के सामने या तो सिर झुकाते या शीघ्र ही कोई बहाना बनाकर खिसकने का उपाय करते। प० हीरा वल्लभ और प० टीकाराम मूर्तिपूजक थे। कई बार स्वामी जी से भिड़े भी, परन्तु अन्त को शिष्य बन गये, और मूर्तियों को गंगा में प्रवाहित कर दिया। उनकी देखादेखी अनेक गृहस्थों ने भी मूर्तिपूजा को त्यागकर पूजा की सामग्री भागीरथी के पवित्र प्रवाह के अर्पण करदी।

मूर्तियों का जलप्रवाह उन लोगों से न सहा गया, जिनकी उदर-पूर्ति का साधन ही मूर्ति पूजा था। ब्राह्मण लोग नाराज हो गये और पराजित कायरों के हथियारों से कार्य लेना आरम्भ किया। स्वामी जी को एक ब्राह्मण ने पान में जहर दे दिया। स्वामी जी को पता चल गया और उन्हों ने न्योली कर्म द्वारा विष को शरीर से निकाल दिया। यह घटना वहां के तहसीलदार सय्यद मुहम्मद को पता लग गई। वह स्वामी जी का बड़ा भक्त था। उसे ब्राह्मण की दुष्टता पर बड़ा क्रोध आया। ब्राह्मण को उसने गिरिफ्तार कर लिया और यह जानने के लिये कि उसे क्या दण्ड दिया जाय, स्वामी जी के निकट आया। स्वामी जी उससे बोले तक नहीं। वह आश्चर्यित हुआ, और रुष्टता का कारण पूछने लगा, स्वामी जी ने उस समय जो उत्तर दिया, वह उनके सारे जीवन की चाबी है, और प्रत्येक हृदय में अंकित करने योग्य सन्देश है। उत्तर निम्न लिखित था।

'मैं संसार को कैद कराने नहीं आया हूं वरन कैद से छुडाने आया हूं। यदि वह अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ता तो हम अपनी श्रेष्ठता को क्यों छोड़ें'?

स्वामी जी की आज्ञा से तहसीलदार ने उस ब्राह्मण को रिहा कर दिया।

अनूपशहर से प्रस्थान कर स्वामी जी अतरौली, जलेसर व गढ़िया, सोरों, पीली भीत, शहबाजपुर, ककोड़े घाट, नरोली, कायमगंज आदि में प्रचार करते हुए फर्रुखाबाद पहुंचे। मार्ग में कई स्थानों पर शास्त्रार्थ और विचार हुए। प्रचार का अखण्ड क्रम जारी ही रहा। सोरों में प० अंगद शास्त्री से शास्त्रार्थ हुआ। प० अंगद शास्त्री की इस प्रदेश में बड़ी मानता थी—वह उस घेरे के प्रधान मल्ल समझे जाते थे। अंगद शास्त्री ने देर तक शास्त्रार्थ करने के पीछे स्वामी जी के कथन की सत्यता स्वीकार की, और अनुयायी बन गया। तब तो चारों ओर सुधार की बाढ़ आ गई। लोग धड़ाधड़ मूर्तियों का प्रवाह करने लगे, कण्ठियां टूटने लगीं, भागवत के ग्रन्थ रद्दी की टोकरी में पहुंच गये, और स्वामी जी का जयकार चारों ओर गूंजने लगा। जब स्वामी जी शहबाजपुर में थे, तब उन्होंने दण्डी विरजानन्द जी के देहावसान का समाचार सुना। स्वामी जी को बड़ा दुःख हुआ, वह अपने गुरु के बड़े भक्त और सच्चे शिष्य थे। उन्हें दण्डी जी के शिष्य होने का अभिमान था। समाचार सुनकर स्वामीजी के मुख से हठात् यह शब्द निकले कि 'आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया'। स्वामी दयानन्द का 'व्याकरण के सूर्य' के प्रति इतना श्रद्धाभाव यथार्थ ही था। स्वामीजी ने जो बड़ा कार्य धर्म के लिये किया, उसके लिये दण्डी जी का श्रेय कुछ कम नहीं है। यह ठीक है, कि दयानन्द में बीज रूप [illegible] और अनुभव की सब शक्तियां विद्यमान थीं। परन्तु बीज का सींचने वाला [illegible] ही था। दण्डी जी के स्वभाव के विपर्य

कई प्रकार की सम्मतियां हो सकती हैं। यह आदर्श नहीं था। स्वामी जी के हृदय में सुधार का सारा क्रम भी निश्चित रूप से विद्यमान नहीं था। परन्तु उनका अगाध पाण्डित्य, आर्ष ग्रन्थों में अभिरुचि और रूढ़ि को न मानने की ओर अभिरुचि—यह गुण थे, जिन्होंने योग्य शिष्य के हृदय में विद्यमान बीज को भली प्रकार सींच कर हरे भरे कल्पद्रुम के रूप में परिणत कर दिया।

फर्रुखाबाद में स्वामी जी बहुत देर तक रहे। वहां भी बड़े बल से कुरीतियों का खण्डन किया गया, और द्विजों का यज्ञोपवीत तथा गायत्री का प्रदान किया गया। पं० गोपाल जिसका साहस योग्यता की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक था, शास्त्रार्थ करने के लिये आया। बेचारा शास्त्रार्थ-गुरु से क्या टक्कर लेता? शास्त्रार्थ में पराजित हुआ, परन्तु साहस ने उसका साथ न छोड़ा। वह भागा हुआ बनारस गया, और कुछ धनराशि दे दिला कर सुरती और सूरना के उपासकों से मूर्तिपूजा के पक्ष में व्यवस्था ले आया। वह व्यवस्था फर्रुखाबाद में डंके की चोट सुनाई गई, परन्तु असर कुछ भी न हुआ। होता भी कैसे? सब लोग व्यवस्था का मूल्य जानते थे? 'यह क्या है?' 'महाराज! यह एक मोहर है, और हस्ताक्षरों के लिये एक व्यवस्था पत्र है।' 'मोहर का लिखना है?' 'महाराज मूर्तिपूजा का समर्थन किया है' महोपाध्याय ने मोहर को अन्टी में दबाया, सूरनी की एक चुटकी नाक में दी और 'लाट' यह व्यवस्थापत्र मंगा लिया। लिखने की सामग्री हस्ताक्षर कराने वाला साथ लाता था। उसने कलम महामहोपाध्याय जी के हाथ में पकड़ा दी। अब देर क्या है—कलम उठाई, पत्र पढ़ने की फुर्सत कहां? नीचे हस्ताक्षर कर दिये। प्रजा के धर्म का निर्णय हो गया। इससे पण्डितमहाराजों का कोई मतलब नहीं कि व्यवस्था में क्या लिखा है।

व्यवस्था का भी कुछ प्रभाव न होता देख, ब्राह्मणों तथा तान्त्रिकों ने कानपुर से पं० हलधर ओझा को बुलवाया। पं० हलधर ओझा व्याकरण के अच्छे पण्डित थे। उन्हें धर्म विषय में कुछ अधिक ज्ञान नहीं था। शास्त्रार्थ धर्म विषय पर था पर ओझा जी उसे व्याकरण में खेंच ले गये। उन्हें यह ज्ञात नहीं था, कि स्वामी जी व्याकरण के भी अद्वितीय पण्डित हैं। व्याकरण में भी पं० हलधर की हार हुई। उपस्थित पण्डितों ने इस बात को स्वीकार किया। तब तो स्वामी जी का प्रभाव और भी अधिक हो गया। फर्रुखाबाद के कई भक्त सेठों ने वेद वेदांग की शिक्षा के लिये एक पाठशाला स्थापित कर दी। मूर्तिपूजा, मृतकश्राद्ध आदि से लोगों की श्रद्धा उड़ गई, और गली २ कूचे २ में पाठशालाओं के बालक तक स्वामी जी से सुनी हुई युक्तियां दोहरा कर ब्राह्मण गुरुओं का नाकों दम करने लगे।

फर्रुखाबाद से अनेक स्थानों पर भ्रमण करते हुए स्वामी दयानन्द कानपुर पहुँचे, और गंगा तट पर आसन जमाया। जैसे मधु की प्यासी मधु मक्खियां दूर २ से आकर फूल के इर्द गिर्द घूमने लगती हैं, इसी प्रकार उस जागृति काल की उतावली जनता धर्म की प्यास बुझाने के लिये विश्रान्त घाट की ओर उमड़ने लगी। पौराणिक मण्डल में हलचल मच गई। धनी साहूकारों ने बहुत सा धन व्यय करके पण्डितों का जमाव किया। फर्रुखाबाद का चोट से घायल प० हलधर ओझा अपनी नष्ट हुई कीर्ति को फिर से स्थापित करने के लिये दल बल सहित उपस्थित हो गये। बड़ा भारी जमाव हुआ। भैरव घाट मनुष्यों से भर गया। कानपुर के ज्वाइन्ट मजिस्ट्रेट मि० डब्लू थैन सभापति के आसन पर बिठाये गये। लगभग ५० हजार मनुष्यों की भीड़ भाड़ में स्वामी जी मे और प० हलधर में शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ।

शास्त्रार्थ का विषय मूर्तिपूजा था। प० हलधर ने महाभारत से कुछ श्लोक पढ़कर कहा कि भील ने द्रोण की मूर्ति बनाई थी। इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया कि भील कोई वेदज्ञ ऋषि नहीं था, वह एक अनपढ़ आदमी था, उसका कार्य सब के लिये प्रामाणिक नहीं हो सकता। इसी प्रकार शास्त्रार्थ जारी रहा, अन्त में सभापति को निश्चय हो गया कि स्वामी जी का कथन ठीक है और प० हलधर केवल समय बिता रहे हैं। वह स्वामी जी के विजय की घोषणा देकर सभा से उठ गये। सभापति के उठ जाने पर लोगों में हल्ला मच गया, और 'बोल सनातन धर्म की जय' का पौराणिक धर्म के विजय तथा पराजय का सूचक एकही शब्द आकाश में गूंजने लगा। थोड़े दिनों पीछे मि० थैन ने एक लिखित चिट्ठी कुछ सज्जनों को दी जिसमें लिखा था कि "शास्त्रार्थ के समय मैंने स्वा० दयानन्द फकीर के पक्ष में व्यवस्था दी थी, मुझे विश्वास है कि उनकी युक्तियां वेदानुकूल थीं।"

—•—

आठवां परिच्छेद ।

गढ़ से टक्कर

बनारस में राजा माधासिंह का आनन्द बाग प्रसिद्ध है । उस बाग में कार्तिक सुदी
ो सम्वत् १६२६ के दिन बड़ी धूमधाम थी । कुछ दिन हुए, एक लगोटबन्द 'स-
ो इस बाग म आकर ठहरा था । विद्या की पुरी काशी के सभी प्रसिद्ध २ पण्डित-
उस लगोटबन्द के साथ अपनी बल परीक्षा करने के लिये आने वाले हैं । २२
ूबर १८६६ ई० के दिन राजपुर से स्वामी दयानन्द बनारस में आकर इस उद्यान में
है । उनके आते ही सारे नगर म हलचल मच गई है । बुद्धि और धर्म म पूर्ण
न्त्रता का माननेवाला सुधारक दयानन्द, अन्ध विश्वास और रूढि के गढ़
रस की दीवारों को सत्य की टक्कर से गिरा कर चकनाचूर करने के लिये, केवल
परमात्मा का सहायक मानकर युद्ध भूमि में उतर आया है । काशीपुरी बहुत प्राचीन
ल से विद्या की खान समझी जाती है । उसके कोने कोने में विद्यासागर, और गली
ी में महामहोपाध्याय रहते हैं । स्वामी दयानन्द हिन्दू धर्म की कुरीतियों का संहार
ना चाहते थे । जब तक काशी अपराजिता थी, तब तक पौराणिक धर्म को भी हार
ा नहीं मान सकते थे । जो पौराणिक पण्डित निरुत्तर होता था, वह काशी की ओर
गता था । कोई टका सेर व्यवस्था ले आता था, कोई स्वा० विशुद्धानन्द के नाम की
हाई देता था, और कोई प० राजाराम शास्त्री का नाम लेकर धमकाना चाहता था ।
श्रय हीन अन्धकार का अन्तिम आश्रम बनारस ही दिखाई देता था । निर्भय वीर
ानन्द ने गुफा में पहुच कर शेर को ललकारने का निश्चय किया, और माधा बाग में
ाकर धर्म का झण्डा गाड़ दिया ।

स्वामी दयानन्द ने काशीनरेश को कहला भेजा कि यदि सत्यासत्य का निर्णय
रना चाहते हो तो पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये तय्यार करो । काशीनरेश ने पण्डितों
को बुलाकर शास्त्रार्थ के लिये कहा । पण्डितों न उत्तर दिया कि स्वा० दयानन्द वेद
का पण्डित है और वेद की ही दुहाई देता है । हम लोगों को कुछ दिन वेदों में से प्रमाण
खोजने के लिये मिलने चाहियें, पीछे हम शास्त्रार्थ कर सकेंगे । १५ दिनों की मुहलत
दे दी गई । पण्डित लोग खूब तैयारी करते रहे । शास्त्रार्थ के लिये कार्तिक सुदी
द्वादशी का दिन निश्चित किया गया था । सभा के लिये माधो बाग ही उचित स्थान
समझा गया, क्योंकि स्वा० दयानन्द ने सन्यास धर्म के अनुसार दूसरे के स्थान पर

जाना स्वीकार न किया। १५ दिन व्यतीत होगये। आज एक ओर माधोबाग में सभा का समारोह होने लगा और दूसरी ओर से पण्डितों को सभास्थान तक पहुंचने के लिये काशी नरेश के दरबार से पालकी, छत्र, चँवर आदि सामग्री भेजी जाने लगी। आज मानो काशी के पण्डितों का परीक्षादिन था। इस दिन की सफलता पर उनका भविष्य अवलम्बित था। प्रतिपक्ष में कौपीनधारी साधु था, विद्या ही जिसका शास्त्र था, सत्य ही जिसका किला था, और परमात्मा ही जिसका सहायक था। इधर अनेक पण्डितों की मण्डली थी, जिनके पास विद्याखड्ग तो थी, परन्तु स्वतन्त्र विवेक के अभाव से रूढि–रूपी जंगार से निकम्मी होगई थी। सत्य का मुख हिरण्मय पात्र से बंद हो चुका था। परमात्मा का स्थान एक ओर जड मूर्तियों ने और दूसरी ओर अन्नदाता काशी नरेश ने छीन लिया था। जहां कौपीनधारी, अपने सहायक पर भरोसा करके, सत्य के गढ़ में डेरा जमाकर, विद्या की तलवार पकडे निर्भीक बैठा था, वहां अपनी शक्तियों और सहायकों को कमजोर समझकर पण्डित मण्डली कभी छत्र चवर के ढोंग का आसरा ढूंढती थी, और कभी सैंकडों शिष्यों की पंक्तियां बांधकर समझती थी कि अब तो दयानन्द अवश्य दहल जायगा। परन्तु यहां वह लोहा न था, जो जरासी आंच से पिघल जाता। यहां वह लौ न थी, जो हवा के जरा से झोंके से बुझ जाती।

जो जनता माधोबाग की ओर उमडने लगी, उसमें निन्यानवे फीसदी मूर्तिपूजा के मानने वाले थे। वह लोग सत्यासत्य निर्णय देखने नहीं जा रहे थे, बल्कि माने हुए 'सनातन-धर्म' को जिताने जा रहे थे। उन्हें बतलाया गया था कि बनारस में एक बडा भारी नास्तिक आया है, जो विश्वनाथपुरी में ही विश्वनाथ जी को गालियां देता है। उसका दमन करना हिन्दूमात्र का कर्तव्य है। लोग अपनी अपनी भावना के अनुसार एक बडे नास्तिक का पराजय देखने जा रहे थे। जानेवालों में भले भी थे, और बुरे भी थे। भले आदमी अपने पण्डितों को आशीर्वाद देते जा रहे थे, और बुरे आदमी नास्तिक पर ईंट पत्थर बरसाने के मसूबे बांध रहे थे। सभा मण्डप का प्रबन्ध शहर के कोतवाल रघुनाथ सहाय के आधीन था। वह बडे सज्जन थे। शान्ति से शास्त्रार्थ का कार्य चलाने के लिये उन्होंने बैठने की ऐसी व्यवस्था की थी कि स्वामी जी के साथ एक समय में एक ही पण्डित बोल सके, और पण्डित लोग उन्हें घेर कर न बैठ सकें। तीन ऊंचे आसन जमाये गये थे–एक स्वामी जी के लिये, दूसरा प्रति पक्षी पण्डित जी के लिये और तीसरा काशीनरेश के लिये।

विरोधियों की इतनी संख्या–और उनमें भी काशी के प्रसिद्ध गुण्डों की काफी राशि–स्वामीजी के भक्तों के हृदय कांपने लगे। एक भक्त ने स्वामी जी से भय की चर्चा की। स्वामीजी ने अपने स्वभाव के अनुसार ईश्वर-विश्वास और निर्भयता का उपदेश देकर

सान्त्वना देते हुए कहा कि 'एक परमात्मा है और एक ही वीर है। दूसरा कौन है जिससे डरें? उन सब को आ जाने दो—जो कुछ होगा उस समय देखा जायगा।" स्वामी जी के भक्त पं० ज्वालादास जी ने भी कुछ सन्देह प्रगट किया, और वैसा ही उत्तर पाया। *निर्भय, निश्चल, निःशङ्क सन्यासी उमड़ते हुए विरोधि-मत के प्रचण्ड प्रहार को सहन के लिये तैयार होकर बैठा था, और सारी गर्ज पर मुस्करा रहा था। जो बहादुर, केसरी को उसकी गुफा में जाकर ललकार सकता है, वह उसकी गड़गड़ाहट को भी अक्षुब्ध चित्त से सुन सकता है।*

पौराणिकों की अक्षौहिणी सेना आ पहुंची। सेना जमाने को काशी नरेश, बाल की खाल उधेड़ने को वृद्ध स्वा० विशुद्धानन्द, प्रसिद्ध बाल शास्त्री, और अन्य माधवाचार्य वामनाचार्य नारायण आदि विख्यात पंडित, और हल्ला मचाने को काशी के विद्यार्थी और गुंडे, इस प्रकार झूमती झामती और बेतहाशा जय जयकारों से आकाश को गुंजाती हुई भगवत् सम्पन्न पौराणिक सेना आनन्द बाग में पहुंच गई। नियम हीन सेना के पहुंचते ही मण्डप का नियम टूट गया। कोलाहल का राज्य हुआ। स्वामी जी को पंडितों ने चारों ओर से घेर लिया। उनके पास किसी हितैषी को बैठने का भी अवसर न दिया गया। रास्ते रोक लिये गये, और अकेले दयानन्द को घेरकर पचास हजार विरोधी, सनातन धर्म का जयकारा बोलने लगे।

शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। कहने को शास्त्रार्थ था, परन्तु वस्तुतः वर्षा ऋतु के बढ़े हुए बीसियों प्रचण्ड नालों की चट्टान से टक्कर थी। हरेक पण्डित अपनी बलपरीक्षा कर रहा था, और चाहता था कि किसी प्रकार स्वामी निरुत्तर हो जाय, परन्तु प्रत्युत्पन्नमति सन्यासी काबू नहीं आता था। बरसों अभ्यास और ब्रह्मचर्य पालन से संग्रह किये हुए, *निर्भयता, धैर्य और स्मृति आदि गुण इस समय उसके परम सहायक हुए।* प्रश्नरूपी तीरों की अनवरत बौछार हो रही थी, साधन सम्पन्न ब्रह्मचारी फेंके हुए *तीरों को मार्ग में ही काटता जाता था, और साथ ही अपने धनुष की करामात दिखा* रहा था। उस उपजाऊ धनुष से फेंके हुए अमोघ वाण विरोधियों के कवचों में छेद कर रहे थे।

पं० ताराचरण ने पूछा—'आप मनुस्मृति को वेदमूलक कैसे मानते हैं?'

स्वामी जी ने उत्तर दिया—'सामवेद के ब्राह्मण में कहा है कि जो कुछ मनु ने वर्णन किया है वह औषधों का भी औषध है।'

ताराचरण जी चुप होगये, स्वा० विशुद्धानन्द जी मदद के लिये पहुंचे।

आप बोले—'रचनानुपपत्तेश्चनानुमानम्' इस वेदान्त सूत्र को वेदमूलक सिद्ध करो।

स्वामी जी ने उत्तर दिया—'यह उपस्थितवाद के भीतर नहीं है'

स्वामी विशुद्धानन्द जी—'प्रकरण के बाहिर है तो क्या हुआ ? यदि तुम्हें इसका समाधान आता है तो कहदो ।'

स्वा० दयानन्द—'इसका पूर्वापरपाठ देखकर समाधान किया जा सकता है'

स्वा० विशुद्धानन्द—'यदि सब कुछ याद न था तो काशी में शास्त्रार्थ करने क्यों आये थे ?'

स्वा० दयानन्द—'क्या तुम्हें सब कुछ कण्ठाग्र है ?'

स्वा० विशुद्धानन्द—'हां, हमें सब कुछ स्मरण है ।'

यहां उल्टा वार प्रारम्भ हुआ । पेंच में आता २ चतुर सिपाही निकल गया । स्वा० दयानन्द ने पूछा—

'तब बताइये धर्म के लक्षण कितने हैं ?'

स्वा० विशुद्धानन्द ने सफलता का दावा तो किया, परन्तु उन्हें मनुस्मृति का धर्म लक्षण सम्बन्धी 'धृतिक्षमा दमोऽस्तेयम्' इत्यादि श्लोक याद नहीं था । वह निरुत्तर होगये । स्वामी दयानन्द ने श्लोक पढ़ सुनाया । इस पर प्रसिद्ध धर्माचार्य प० बाल शास्त्री जी मदद पर आ पहुंचे । आपने कहा कि 'हमने सम्पूर्ण धर्मशास्त्र का अध्ययन किया है, इस विषय में कुछ पूछना हो तो हमसे पूछिये'

स्वा० दयानन्द ने पूछा—'आप अधर्म के लक्षण बतलाइये ।'

बाल शास्त्री जी ने कभी सोचा भी नहीं था कि कोई आदमी अधर्म के लक्षण भी पूछ सकता है । उन्हें निरुत्तर होना पड़ा ।

इसी प्रकार प्रश्नोत्तर होते रहे । मूर्त्तिपूजा के सम्बन्ध में काशी के पण्डितों ने दो ही बातें पेश कीं । एक तो यह कि वेद में प्रतिमा शब्द आया है, वह मूर्त्ति का वाचक है, और दूसरा यह कि 'उद्बुध्यस्वाग्ने' इत्यादि मन्त्र में जो 'पूर्त' शब्द आया है, वह मूर्त्तिपूजा का सूचक है । स्वामी जी ने दोनों का ही समाधान कर दिया । ईश्वर की प्रतिमा का वेद से स्पष्ट निषेध है, और पूर्त शब्द नदी, तड़ाग आदि का वाचक है । यह समाधान करके स्वामी जी बारबार यही पूछते रहे कि 'वेद में मूर्त्तिपूजा का विधान कहां है ?'

हर तरह से लाचार होकर पण्डित मण्डली ने चालाकी की शरणली । इस विषय पर शास्त्रार्थ करने से टलकर पण्डित लोग स्वामीजी को उलझाने

की पंक्ति में पुराणों के विषय पर विचार करने लगे, परन्तु शीघ्र ही सब समझ गए कि यह युक्ति या प्रमाण नहीं है। स्वामी जी ने व्याकरण द्वारा व्याकरण सम्बन्धी प्रश्न पण्डितों के सामने रखा—कोई भी सन्तोषजनक उत्तर न दिया। पण्डित लोग खिन्न और हताश होने लगे। तब माधवाचार्य जी आगे बढ़े और कोई दो पत्र निकाल कर बीच में रख कर कहा कि 'यहाँ पर लिखा है कि यज्ञ की समाप्ति पर यजमान दशवें दिन पुराणों का पाठ श्रवण करे, अब स्वामी जी बताइये कि 'पुराण' किसका विशेषण है?'

स्वामी जी—आप पाठ पढ़ कर सुनाइये'

स्वामी विशुद्धानन्द जी ने पत्र स्वामी दयानन्द जी के हाथ में पकड़ा कर कहा कि 'आप ही पढ़ लीजिए'

इस समय सूर्य का प्रकाश आकाश पर उतर आया था। स्वामी दयानन्द ने पत्रे लौटाते हुए स्वा० विशुद्धानन्द से कहा कि 'आप ही पढ़ लीजिये'

स्वा० विशुद्धानन्द जी बोले 'मैं चश्मे के बिना नहीं पढ़ सकता, इस लिये आप ही को पढ़ना होगा' स्वामी दयानन्द ने पत्र हाथ में ले लिये। अन्धेरे के कारण पढ़ना कठिन था। दीपक मंगवाया गया। लालटेन की रोशनी भी बड़ी मन्द थी, पत्रे पढ़ने में कुछ समय लगा। उचित मौका समझ कर पण्डितमण्डली उठ खड़ी हुई। इस प्रकार गड़बड़ होते देख कर स्वा० दयानन्द ने स्वा० विशुद्धानन्द का हाथ पकड़ कर कहा कि 'बैठ जाइये। निर्णय किये बिना बीच ही में उठ खड़े होना आप ऐसे विद्वानों को कदापि उचित नहीं' परन्तु स्वा० विशुद्धानन्द जी न बैठे और स्वामी दयानन्द की पीठ पर हाथ फेर कर कहने लगे कि 'अब बैठिये, जो कुछ होना था हो चुका।'

पण्डितों का इशारा पाकर काशी नरेश ईश्वरी नारायणसिंह भी खड़े हो गये, और ताली पीट दी। इधर इशारा पहिले से बना हुआ था। सारा जन समुद्र एक दम खड़ा होकर 'सनातन धर्म की जय' बोलने लगा। कोतवाल बड़ा सज्जन था। उसे काशी नरेश का ओछा व्यवहार बहुत अखरा। उसने काशी नरेश से कहा कि 'आपने ताली पीट कर बहुत बुरा किया, यह कार्य सभा के नियमों के विरुद्ध था।' नरेश कोतवाल की बगल में हाथ देकर आगे बढ़ गये और समझाया कि हम तुम सभी मूर्तिपूजक हैं, तब अपने सामान्य शत्रु को जैसे हो सके पराजित करना ही चाहिये। इस दंगा-फसाद के नेता काशी नरेश का इशारा पाकर सम्पूर्ण जनसमूह मनमानी करने लगा। किसी ने पत्थर, किसी ने कंकर, किसी ने जूता—अधिक क्या लिखें, जिसे जो मिला, उसने उछाला, और स्वामी जी की [illegible] । [illegible] के समय हवा के ज़ोरदार

झोंकों के साथ मट्टी, कंकर, लकड़ी और पत्ता आदि पदार्थ पर्वत की निष्कम्प चट्टान पर टकराते हैं, और लज्जित होकर नीचे गिर पड़ते हैं, इसी प्रकार स्वार्थपूर्ण दम्भ द्वारा भड़काये हुए इन अज्ञानी लोगों के भेजे गर्हित पदार्थ भी लज्जित होकर गिर पड़े, सन्यासी के पयोधि-गम्भीर हृदय पर कोई प्रभाव न उत्पन्न कर सके।

पौराणिक दल ने शहर भर में पण्डितों का जुलूस घुमाया, मूर्तिपूजा का जय जय कार मचाकर अपनी सत्य प्रियता का परिचय दिया और सब स्थानों पर समाचार भेज दिया कि दयानन्द परास्त हो गया है। नगर में पण्डितों की ओर से विज्ञापन लगा दिये गये, कि दयानन्द के पास कोई न जाय, जो जायगा पातकी हो जायगा। यह सब कुछ किया गया परन्तु संसार की आंखों में धूल न डाली जा सकी। देश के पक्षपात-हीन समाचार पत्रों ने स्वामी दयानन्द जी के विजय का ही समाचार प्रकाशित किया। प० सत्यव्रत सामाश्रमी जी ने अपनी 'प्रत्न कम्र-नन्दिनी' नाम की मासिक पत्रिका में स्वामी जी की महत्ता की घोषणा की। 'रुहेलखण्ड' नामक पत्र ने लिखा कि 'स्वामी दयानन्द जी ने काशी के पण्डितों को जीत लिया है'। 'ज्ञान प्रदायिनी' (लाहौर) ने समाचार दिया कि 'इसमें सन्देह नहीं कि पण्डित लोग मूर्ति पूजा की आज्ञा वेदों में नहीं दिखा सके'। हिन्दूपेट्रियट ने प्रकाशित किया कि "पण्डित लोग यद्यपि अपने ज्ञानशास्त्र का अतिगर्व करते थे, परन्तु उनकी बड़ी भारी हार हुई।"

स्वामी जी का उपदेश सुनने से रोकनेवाला विज्ञापन भी निष्फल हुआ। हवा का झोंका भ्रमरों को फूल के पास जाने से न रोक सका। लोग और भी अधिक उत्सुकता से सन्यासी का सदुपदेश सुनने जाने लगे। स्वामी दयानन्द की धाक चारों ओर बैठ गई। जिस फौलादी ढाल से टकरा कर काशी के सुमनद्ध तीर कुण्ठित हो गये, तिनकों की क्या मजाल थी कि उस पर खड़े सकें। देश देशान्तर में इस शास्त्रार्थ का संवाद हवा की तरह फैल गया, और अपने साथ स्वामीजी की पाण्डित्य-कीर्ति के सौरभ को भी लेता गया।

रूढ़ि के गढ़ से दयानन्द की टक्कर का जो भयंकर शब्द हुआ, उससे दिशायें गूंज उठीं। गूंज से आश्चर्यित देश ने देखा कि सदियों के अंधेरे में खड़ा किया हुआ कुरीतियों का मीनार ठोकर खाकर भीषण शब्द करता हुआ विश्वनाथपुरी की तरह में विनीत हो रहा है। स्वार्थ कांप उठा, और सत्य का चेहरा चमकने लगा।

—०—

नवां परिच्छेद ।

सुधार की तीसरी दशा

(१८७० से १८७५ ई०)

धीरे २ स्वामी दयानन्द जी के सुधार-कार्य ने अपनी तीसरी दशा में प्रवेश किया। सुधारक के विचार पहले से ही विस्तृत थे, अनुभव के अधिक होने से उनका क्रियात्मक रूप भी विस्तृत होने लगा। यह नहीं समझ लेना चाहिये कि बनारस के शास्त्रार्थ के पीछे एक दम कोई दशा परिवर्तन हुआ था। कार्य का क्षेत्र धीरे २ बढ़ रहा था। बनारस शास्त्रार्थ के कारण स्वामी जी की ख्याति सारे देश में फैल गई। देश की दशा से चिन्तित सुदूरवर्ती महानुभावों ने, काशी के पण्डितों को पराजित करने वाले वावदूक का वृत्तान्त पढ़ कर हृदय का ढारस किया। उधर कलकत्ता बम्बई आदि के पण्डितों पर स्वामी जी की धाक बंध गई। सुधारक दयानन्द की सब ओर चर्चा होने लगी।

यश के विस्तार के साथ २ स्वामी जी का दृष्टिक्षेत्र भी विस्तृत होने लगा। अगले पांच सालों में हम सुधार के कार्य का फैलाव होता देखते हैं। हम देखेंगे कि धीरे २ स्वामी जी का कार्य करने का ढंग बदलने लगा। पुरानी केवल शास्त्रार्थ की या भ्रमण करने पर प्रचार करने की रीति को छोड़कर नियमपूर्वक सभायें करने और उनमें व्याख्यान देने की पद्धति का अनुसरण होने लगा। स्वामी जी अब तक केवल संस्कृत में व्याख्यान देते थे, उसमें परिवर्तन हो गया। आप हिन्दी में व्याख्यान देने लगे। अब तक केवल कौपीन धारण किये रहते थे—आश्रम पर, सभा में, शास्त्रार्थ के समय, इसी वेष में रहते थे। वह भी बदलने लगा। सभा में आप कपड़े पहिन कर जाने लगे। इसी समय सत्यार्थ प्रकाश भी लिखा गया। इस प्रकार स्वामी जी का प्रचार का क्रम अवस्थाओं से परिवर्तित होने लगा। यह परिवर्तन कार्य को अधिक विस्तृत और लोकोपयोगी बनाने का साधन हुआ।

परिवर्तन एक दम नहीं हुआ, कार्य के फैलाव के कारण नये २ उपायों का अवलम्बन आवश्यक होता गया। दौरे के प्रसंग में देश के कई अन्य सुधारक महानुभावों से मिलने का मौका मिला। उनके साथ विचार विनिमय में कई नये विचार उठे, जो शीघ्र ही कार्य में परिणत हो गये। जिस समय का वृत्तान्त हम लिखने लगे हैं, वह सुधार

की अंतिम दशा के निर्माण का समय था । उसके अन्त में हम ऋषि दयानन्द को एक पूर्ण सुधारक के साथ २ एक भारी कार्य का कन्द बना हुआ पायेंगे । सुधार की अंतिम दशा पर पहुंचकर स्वामी जी की कार्य शक्ति निर्माण के रूप में प्रगट होने लगी । वह विषय अगले परिच्छेदों का होगा । वर्तमान परिच्छेद में हम स्वामी जी के सुधार-कार्य के पूर्ण फैलाव का वृत्तान्त लिखते हुए, उन सीढ़ियों की खोज करेंगे, जिनसे होकर कार्य का क्रम पूरी ऊंचाई तक पहुंचा ।

बनारस से प्रयाग होते हुए स्वामी जी मिर्ज़ापुर गये । मिर्ज़ापुर में कई मास तक धर्म प्रचार करके स्वामी जी फिर बनारस में पधारे । इस बार विशेष घटना यह हुई कि काशी नरेश ने अपने गत वर्ष के व्यवहार के लिये प्रायश्चित्त किया । नरेश ने स्वामी जी के दर्शनों की इच्छा प्रगट की, और अनुमति पाकर अपनी गाड़ी भेजी । स्वामी जी जब नियत स्थान पर पहुंचे तब महाराज ने खड़े होकर स्वागत किया, अन्दर ले जाकर स्वर्ण के सिंहासन पर बिठाया, और अपने हाथों से स्वामी जी के गले में हार पहिनाया ।

प्रारम्भिक कार्य समाप्त हो जाने पर महाराज ने स्वामी जी से हाथ जोड़ कर निवेदन किया कि 'मूर्त्तिपूजा में हमारे कुल की सनातन काल से श्रद्धा है । उसके प्रसंग से शास्त्रार्थ के समय आपकी अवज्ञा होगई थी । आप सन्यासी हैं—आशा है, क्षमा कर देंगे' । स्वामी जी ने उत्तर में कहा कि 'हमारे मन में उस बात का लेशमात्र भी संस्कार नहीं है' महाराज ने विदा करते हुए स्वामी जी की सेवामें उचित भेंट उपस्थित की । इस प्रकार यह सुखान्तप्रसंग समाप्त हुआ ।

बनारस से स्वामी जी कासगंज गये । यहां आपकी स्थापित की हुई एक पाठशाला थी, जिसमें ब्रह्मचर्य के नियमों के पालन के साथ अष्टाध्यायी महाभाष्य तथा मनुस्मृति आदि का अध्ययन कराया जाता था । कासगंज की पाठशाला का स्वामी जी ने निरीक्षण किया । यहां पर एक और घटना हुई, जो देखने में बहुत सामान्य थी, परन्तु उसमें स्वामी जी की निर्भयता का पुष्ट प्रमाण मिलता है । आप बाजार में जा रहे थे, सामने से एक मस्त मरखना सांड आ रहा था । बाजार के सब लोग इधर उधर भाग रहे थे, कोई रास्ता रोकने का साहस नहीं करता था । स्वामी जी रास्ते से न हटे और चलते ही गये । जब स्वामी जी बहुत पास पहुंचे तब सांड स्वयं ही रास्ता छोड़ कर अलग होगया । जनता के आश्चर्य का ठिकाना न रहा । एक भक्त ने पूछा कि 'महाराज ! यदि वह सांड सामने से न हटता तो आप क्या करते ?' स्वामी जी ने उत्तर दिया कि 'सींग से पकड़ कर अलग कर देते' स्वामी जी पर शारीरिक भय कोई प्रभाव नहीं कर सकता था । यहां से चलकर स्वामी जी छलेसर कर्णवास फर्रुखाबाद

आदि स्थानों पर भ्रमण करते हुए बनारस गये, और वहां से मुंगेर को प्रस्थान किया।

मुंगेर की यात्रा में एक बड़ी मनोरञ्जक घटना हुई। मुंगेर को जाते हुए रास्ते में जमालपुर जंक्शन पर कुछ देर तक ठहरना पड़ा। स्वामीजी के शरीर पर केवल कौपीन थी। आप प्लेटफार्म पर घूम रहे थे। स्टेशन पर एक पत्नी सहित, अंग्रेज इञ्जीनियर विद्यमान था। नंगा शरीर देख कर इञ्जीनियर साहब के सभ्यताभिमानी विचारों पर बड़ा धक्का लगा। उसने झट स्टेशन मास्टर को बुला कर कहा कि 'यह नंगा फ़कीर टहल रहा है, इसे इधर उधर घूमने से बन्द करदो' स्टेशन मास्टर का अफसर ही ईश्वर था। उसने स्वामी जी के पास जाकर निवेदन किया कि 'महाराज ! दूसरी ओर चलकर कुर्सी पर आराम कीजिये। मुंगेर की गाड़ी के आने में अभी देर है' स्वामी जी ताड़ गये। आपने स्टेशन मास्टर से कहा कि 'जिसने तुम्हें हमारे हटाने के लिये कहा है उससे कहदो कि हम उस समय के मनुष्य हैं जब आदम हव्वा नंगे अदनबाग़ में सैर किया करते थे' स्टेशन मास्टर यह उत्तर सुन कर टल गया। स्वामी जी टहलते रहे। इञ्जीनियर ने फिर उसे बुलवाया। स्टेशन मास्टर ने साधु को प्लेटफार्म से हटाने में असमर्थता प्रकट करते हुए कहा कि 'वह स्वतन्त्र सन्यासी है' आश्चर्यित होकर अंग्रेज ने नाम पूछा। स्टेशन मास्टर ने नाम बता दिया। साहब पर प्रकट हुआ कि 'क्या ये ही प्रसिद्ध सुधारक दयानन्द सरस्वती हैं ?' झट स्वामी जी के पास चला गया और बहुत देर तक बातचीत करता रहा।

मुंगेर से भागलपुर होते हुए स्वामीजी १८७२ ई० के दिसम्बर मास में कलकत्ते पहुंचे। वहां उन दिनों बा० केशवचन्द्र सेन की धूमधाम थी। ब्राह्म समाज के आकाश में सेन बाबू का सितारा चमक रहा था। प्रारम्भ में कलकत्ते के ब्राह्म समाजियों की ओर से स्वामी जी का विशेष सत्कार भी हुआ। यद्यपि ब्राह्मो समाज के वृद्ध नेता श्रीयुत देवेन्द्र-नाथ टागोर ने अपना स्थान स्वामी जी के उतारे के लिये नहीं दिया तो भी अन्य ब्राह्मो समाजियों ने स्वामी जी का अच्छा आदर किया। पं० हेमचन्द्र चक्रवर्ती उन लोगों में से थे जो विश्वास से ब्राह्मो थे, परन्तु बा० केशवचन्द्रसेन की ईसाइयत की ओर प्रवृत्ति से कुछ असन्तुष्ट थे। स्वामी जी के उपदेशों से उन पर बड़ा प्रभाव हुआ। वह देर तक स्वामी जी के साथ रह कर योगाभ्यासादि सीखते रहे।

बा० केशवचन्द्र सेन कहीं बाहिर गये हुए थे। जब वह कलकत्ते आये, तो स्वामी जी का समाचार सुना। मिलने की इच्छा से सेन महाशय स्वामी जी के पास गये, परन्तु परिचय न दिया, और बातचीत करने लगे। बात चीत के पीछे सेन महाशय ने स्वामी जी से पूछा कि 'क्या आप कभी केशवचन्द्र सेन से मिले हैं ?'

स्वामी जी ने उत्तर दिया 'हाँ, मिले हैं' सेन महाशय ने कहा 'आप उससे कब मिले ?' स्वामी जी ने उत्तर दिया 'अभी'। सेन महाशय आश्चर्यित हुए। आपने पूछा "यह आपने कैसे जाना कि मैं ही केशवचन्द्र हूँ ?" स्वामी जी ने उत्तर दिया कि 'जैसी बात आपने की है, वैसी किसी दूसरे से नहीं हो सकती' इस प्रकार इन दो महा पुरुषों में परिचय हुआ। इनके निरन्तर स्वामी जी और सेन महाशय में वार्तालाप होता रहा।

दोनों महापुरुष देश की भलाई में दत्तचित्त थे, दोनों ही अद्भुत वक्ता थे, दोनों में ही लोगों पर बिजली का असर पैदा करने की शक्ति थी। जिस प्रकार समानताएँ थीं, वैसे ही असमानताएँ भी बहुत सी थीं। एक बड़ी असमानता दोनों महापुरुषों की निम्न लिखित बात चीत से स्पष्ट होगा। एक दिन सेन महाशय ने स्वामीजी से पूछा कि 'भिन्न भिन्न धर्मों के मानने वाले लोग अपने अपने मान्य ग्रन्थ को ईश्वरीय और अन्तिम प्रमाण मानते हैं, और कहते हैं। आप वेद को ईश्वरीय ज्ञान कहते हैं। हम कैसे जानें, किसका कहना सच्चा है ?' स्वामी जी ने उत्तर में कुरान और बाइबिल में से अनेक दोष दिखाये और वेदों की निर्दोषता दिखाते हुए कहा, "निर्दोष होने से वैदिक धर्म ही सच्चा है।" इस वाक्य पर सेन महाशय ने कहा।

'शोक है कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अंग्रेजी नहीं जानता अन्यथा इङ्गलैण्ड जाते समय वह मेरा इच्छानुकूल साथी होता'।

स्वामी जी ने उत्तर दिया 'शोक है कि ब्राह्मो समाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देता है जिसे वे नहीं समझते' (श्रीमद्दयानन्द प्रकाश)

दोनों नेताओं में यही भेद था। एक की दृष्टि पूर्वाभिमुख थी, दूसरे की पश्चिमाभिमुख। एक को भारत की आर्य प्रजा की हितकामना थी, दूसरे का अधिक ध्यान योरप के साधुवाद की ओर था। व्यक्तिगत स्वभाव में भी अनेक भेद थे, परन्तु उनके उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं। एक का जीवन हृदय का खिलौना था—दूसरे की उमंगें उच्च जीवन की दासियाँ थीं। एक के आत्मा की उच्चतर अभिलाषा यह थी कि वह 'ब्रह्मा से जैमिनिपर्यन्त' ऋषियों का अन्यतम व्याख्याता बने, और दूसरे का हृदय संसार में एक नया धर्म स्थापित करके मुहम्मद और ईसा की श्रेणी में शामिल होने पर तुला हुआ था। इन भेदों के होते भी यह कहने में कुछ अत्युक्ति नहीं है कि अपने अपने क्षेत्र में दोनों ही असाधारण थे, दोनों में चुम्बक की शक्ति थी, प्रतिभा थी, महापुरुषता के सम्पूर्ण चिन्ह थे। ऐसे दो महापुरुषों का परस्पर मेल मिलाप विशेष फल उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकता था। यदि विशेष विचार से देखा जाय तो मालूम होगा इस बात चीत का बहुत गम्भीर परिणाम दोनों ही पर हुआ

बा० केशवचन्द्रसेन के जीवन का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन करें तो हम उसमें दो तीन परिवर्तन देखते हैं। प्रारम्भ में उसका झुकाव ईसाइयत की ओर था। उसका पहला प्रकाश १८६६ में हुआ, जब मेडिकल कालेज हाल में 'Jesus Christ asia and Europe' इस विषय पर व्याख्यान देते हुए सेन महाशय ने ईसा को ईश्वर का पुत्र और पैगम्बरों का सरदार बताया। यह लहर बहुत वर्षों तक रही और इस लहर में बहते हुए ब्राह्मो नेता का ध्यान योग या तपस्या की ओर नहीं गया। लगभग ७ वर्ष पीछे हम एक दम बड़ा परिवर्तन देखते हैं। १८७५ के अन्त में बा० केशवचन्द्र सेन को तप और योग की ओर झुकता हुआ पाते हैं। स्वामी दयानन्द जी १८७३ के प्रारम्भ में कलकत्ते गये थे। इन दोनों घटनाओं में परस्पर सम्बन्ध दूंढ लेना कुछ कठिन नहीं है। एक बार परिवर्तन आरम्भ हो जाने पर सेन महाशय की गतिशील प्रकृति का बहुत आगे बढ़ जाना स्वाभाविक ही था। भक्ति मार्ग पर चलकर उस समय के ब्राह्मो समाजियों ने कैसे २ परिहास किये, यह बताने की आवश्यकता नहीं, परन्तु लेखक की सम्मति है कि केशवचन्द्र सेन के हृदय में जो बहिर्मुख लहर बह रही थी, उसे अन्तर्मुख करने के लिये प्रारम्भिक चोट स्वामी दयानन्द से मिली हो—यह कुछ असंभव नहीं है।

यह मानने में कोई संकोच का कारण नहीं है कि बा० केशवचन्द्रसेन और ब्राह्मो-समाज के कार्य का कलकत्ते में अनुशीलन स्वामीजी के कार्यक्रम पर भी कुछ कम प्रभाव उत्पन्न करने वाला नहीं हुआ। यह मानी हुई बात है कि स्वामीजी ने सर्वसाधारण में आर्यभाषा में व्याख्यान देना बा० केशवचन्द्रसेन के कहने पर ही प्रारम्भ किया था। इससे पूर्व वह संस्कृत में ही व्याख्यान देते थे। अब तक प्रायः स्वामीजी कौपीनमात्र रखते थे, व्याख्यान के समय भी यही वेष रहता था। बा० केशवचन्द्रसेन के कथन पर स्वामीजी ने व्याख्यान देने के समय अन्य वस्त्र धारण करना भी अंगीकार कर लिया। इन दो बातों के अतिरिक्त यह भी कुछ कम महत्व की बात नहीं है कि आर्यसमाज रूपी संगठन स्थापित करने का विचार स्वामीजी के हृदय में कलकत्ते से पीछे ही उत्पन्न हुआ। इससे पूर्व किसी संगठन की स्थापना का विचार उद्बुद्ध हुआ प्रतीत नहीं होता। ब्राह्मो-समाज के सिद्धान्तों और संगठन की अपूर्णता को देखकर स्वामी दयानन्द के हृदय में एक अन्य वैदिक समाज के स्थापित करने की इच्छा उत्पन्न हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

कलकत्ते में स्वामीजी के कई व्याख्यान हुए। एक व्याख्यान सेनमहाशय के घर पर भी हुआ। व्याख्यानों का बहुत उत्तम प्रभाव होता रहा। उत्साह पूर्ण बंगाली जनता का हृदय स्वामीजी के भाषणों से उछल पड़ा। कलकत्ते से हुगली भागलपुर आदि स्थानों पर प्रचार करते हुए स्वामीजी फर्रुखाबाद गये। वहां पाठशाला का निरीक्षण

कार्तिक २५ दिसम्बर १८७३ के दिन आप अलीगढ़ पहुंचे। यहां आपने राजा जयकृष्णदास जी के यहां आसन जमाया। अलीगढ़ से हाथरस होते हुए स्वामी जी मथुरापुरी गये। मथुरा वैष्णवों की राजधानी है। वहां के रंगाचार्य जी तिलक छाप धारियों के परम गुरु माने जाते थे। फाल्गुण एकादशी सम्वत् १९३० के दिन, ब्रह्मोत्सव के समय स्वामीजी ने वृन्दावन में पहुंचकर मलूकदास के रायबाग में आसन जमाया। यहां पर आपकी स्थिति अनेक मनोरंजक घटनाओं से परिपूर्ण हुई। वृन्दावन में ब्रह्मोत्सव के अवसर पर हजारों लोग एकत्र होते हैं। स्वामीजी ने निर्भीकता से मूर्ति-पूजा तिलक छाप आदि का खंडन प्रारम्भ कर दिया। पौराणिक-सरोवर में भारी हलचल मच गई। लोग भागे हुए रंगाचार्य जी के पास पहुंचे। इधर स्वामीजी ने भी रंगाचार्य जी के पास एक पत्र भेजा, जिसमें उन्हें शास्त्रार्थ के लिए आमन्त्रण दिया। रंगाचार्य जी ने बनारस के शास्त्रार्थ की घटना सुन ही रखी होगी। जिस वीर योद्धा पर काशी के हथियार नाकाम हुए, उस पर मथुरा के निर्बल हथियार क्या असर डाल सकते थे? रंगाचार्य जी ने पहले तो कहला भेजा कि मेले के दिनों में अवकाश न होने से शास्त्रीय विचार होना कठिन है, और जब मेला हो चुका तो रोगी होने के कारण स्वामी जी के आमन्त्रण को स्वीकार न कर सके।

रंगाचार्य जी शास्त्रार्थ के मैदान में न आये परन्तु उनके शिष्य नीचता के मैदान में उतर आये। कई उपायों से स्वामी जी को डराने या बदनाम करने का यत्न करते रहे। वृन्दावन में धर्म की ध्वजा गाड़ कर स्वामी जी मथुरा चले गये। यहां पण्डों गुण्डों और चौबों के एक बड़े समूह ने स्वामी जी के निवासस्थान पर धावा किया। धावा करने वालों के हाथों में डण्डे थे। इधर स्वामी जी का स्थान भी अरक्षित नहीं था। स्वामी जी के भक्त राजपूत सदा पहरे का प्रबन्ध रखते थे। गुण्डा मण्डली स्वामी जी के द्वार को सुरक्षित देख कर आगे न बढ़ सकी, और गालियां बकने लगी। स्वामी जी के सेवक गालियां सुन कर जोश में आगये, परन्तु शान्ति का उपदेश सुन कर शान्त हो गये। स्वामी जी ने उन्हें समझा दिया कि नासमझों की नासमझी देख कर समझदारों को अपनी समझ नहीं छोड़ देनी चाहिये। गुण्डे निराश हो कर लौट गये।

यहां से निराश होकर विरोधियों ने दूसरी चाल चली। उन्होंने चांद पर थूकने का विचार किया। स्वामीजी उपदेश दे रहे थे, उस समय विरोधियों के बहकाये हुए एक कसाई और शराब की दूकानवाले ने पुकार कर कहा कि "स्वामीजी, आपका कई दिनों का लेखा होगया है, दाम देकर उसे चुका क्यों नहीं देते?" विरोधी निराश हुए, क्योंकि उपस्थित जनता में से किसी ने भी यह विश्वास न किया कि सूर्य कलंकी हुआ है? सभा के अन्त में उन्हें बुलाकर पूछा गया तो उत्तर मिला कि 'महाराज हम मागीलाल

मुर्शिद ने कहा था कि सभा में जाकर तुम यह वाक्य कह देना, मैं तुम्हें पीछे पुरस्कार दूंगा' विरोधियों ने एक कुलटा को भी धन का लोभ देकर तय्यार किया कि वह सभा में जाकर स्वामी जी पर लाञ्छन लगा दे। कुलटा सभा में पहुंची। स्वामीजी व्याख्यान दे रहे थे। अमृत की धारा से पापिन के हृदय का पाप धुल गया। उसे पश्चात्ताप हुआ। व्याख्यान की समाप्ति पर रोती हुई स्वामी जी के चरणों में गिर पड़ी और अपने मानसिक अपराध के लिये क्षमा मांगने लगी। ब्रह्मचारी का चरित्र निर्दोष था। जो निर्दोष है, उस पर फेंका हुआ मैला लौट कर फेंकने वाले पर ही पड़ता है।

मथुरा से चलकर मिर्ज़ापुर और बनारस होते हुए भी स्वामी जी प्रयाग में पहुंचे। यहां पर उनके प्रचार का यश पहिले से ही पहुंच चुका था। शिक्षित समाज बड़ी उत्सुकता से आपके व्याख्यान सुनने आता था। रायबहादुर प० सुन्दरलाल आपके विशेष भक्तों में से थे। वह बराबर सत्सङ्ग में आया करते थे। इन दिनों स्वामी जी ईसाइयों का बड़े ज़ोर से खण्डन किया करते थे। सत्यार्थप्रकाश के लेख का कार्य भी बराबर होता था।

आपकी योगशक्ति की सूचना समय २ पर लोगों को मिलती रहती थी। योगशक्ति का ही फल था कि आप परोक्ष की कल्पना कर लिया करते थे, और वह कल्पना ठीक निकलती थी। एक बार रायबहादुर प० सुन्दरलाल आदि सज्जन स्वामी जी के स्थान पर बैठे हुए थे। स्वामी जी मुस्कराते हुए उनके सन्मुख आये और उन लोगों से कहने लगे कि 'एक मनुष्य मेरी ओर चला आता है। उसके आने पर आपको एक कौतुक दिखाई देगा' थोड़ी देर में एक ब्राह्मण मिठाई लिये आ पहुंचा, और सामने रखदी। स्वामी जी ने मिठाई का एक टुकड़ा उसे खाने को दिया, परन्तु उसने लेने से इन्कार किया। उल्टा कांपने लगा। तब सबने समझ लिया कि अवश्य इस मिठाई में विष मिला हुई है। मिठाई का टुकड़ा कुत्ते के आगे फेंका गया, जिसे खाकर कुत्ता छटपटाने लगा और शीघ्र ही मर गया। तब तो उपस्थित लोग उस ब्राह्मण को पुलिस के सुपुर्द करने को तय्यार हो गये। स्वामी जी ने अपनी दयालुता के कारण उसे क्षमा कर दिया। १८७४ ई० के अक्टूबर मास के मध्य तक स्वामी जी प्रयाग में रहे, फिर पश्चिम की ओर को प्रस्थित हुए।

दसवाँ परिच्छेद।

आर्य्य समाज की स्थापना—बम्बई प्रान्त में प्रचार।

स्वामी दयानन्द का सुधार-सम्बन्धी कार्यक्रम सर्वांगसम्पन्न होकर जनता के सामने [illegible] गया। स्वामी जी ने अपने कार्य को वैष्णव सम्प्रदाय के खण्डन से प्रारम्भ किया था। धीरे २ [illegible] नका खण्डनास्त्र सारे पौराणिक मतों पर व्याप गया। यह सुधार की दूसरी [illegible] [illegible]। ज्यों २ वैदिक धर्म का रूप अन्य सब मतों की अपेक्षा उज्ज्वल रूप में [illegible] [illegible]ने लगा, त्यों २ अन्य सब धर्माचार्यों को अपनी रक्षा के लिये यत्न भी [illegible] [illegible]या। ईसाई और मुसल्मान अपने सम्प्रदाय की रक्षा के लिये चेष्टा करने लगे। इसी [illegible] स्वामी जी का मौलवियों और पादरियों से भी संघर्ष उत्पन्न हो गया। स्वामी जी ने [illegible] सब मतों और सम्प्रदायों का खण्डन कर वैदिक धर्म को स्थापित करना आरम्भ कर [illegible]देया। इस प्रकार स्वामी जी कार्य्यक्रम पूरा हो गया।

स्वामी जी ने ईसाइयत और इस्लाम का खण्डन प्रारम्भ कर दिया। [illegible] [illegible]दो निमित्त बताये जा सकते हैं। एक निमित्त तो यह कि स्वामी जी उन [illegible] [illegible] जाति पर इन दो मतों से उत्पन्न होने वाले खतरे को देख रहे थे। [illegible] कि हिन्दुओं को ईसाई और मुसलमान [illegible] कर रहे हैं। [illegible] दुर्भाग्य से हिन्दू जाति का नाम भी [illegible] गया था, पारसियों [illegible] के सामने डांवाडोल हो रही था। स्वामी जी आर्य जाति के [illegible] तथा इस्लाम की बाढ को रोकने का यत्न करने लगे।

एक दूसरे प्रकार से भी इसी बात को समझाया जा [illegible] [illegible] मात्र के हितैषी थे, वह चाहते थे कि हिन्दू हो या बौद्ध, [illegible] भारतवासी हो या विदेशी-मनुष्यमात्र वैदिक धर्म का [illegible] [illegible]स्त्रियों को धर्मसम्बन्धी भ्रान्तियों में से निकालने के [illegible] का कार्य आरम्भ किया था। खण्डन का उद्देश्य [illegible] अपितु अन्य मतवादियों का खण्डन ही था। [illegible] उस पर भिन्न २ प्रकार का प्रकाश पड़ता है। [illegible] जुदा परिच्छेद में करेंगे, यहां केवल इतना [illegible] तीसरी दशाओं में जो भेद था, उसका निमित्त [illegible]

जी का केवल आर्यजाति के प्रति प्रेम था, या मनुष्यमात्र के प्रति प्रेम? यदि तो ईसाइयों और मुसल्मानों का खण्डन केवल आर्य जाति को उनके आक्रमणों से बचाने के लिये ही था तो खण्डन का निमित्त केवल आर्यजाति के प्रति प्रेम होगा, परन्तु यदि खण्डन का निमित्त ईसाई मुसलमानों को वैदिक धर्मी बनाना था तो निमित्त मनुष्य प्रेम होगा।

मेरी सम्मति है कि स्वामी जी ने दोनों ही निमित्तों से ईसाइयों तथा मुसलमानों का खण्डन किया। उन्हें मनुष्यमात्र से प्रेम था परन्तु आर्य्यजाति से विशेष प्रेम था। उस प्रेम का केवल यह कारण नहीं था कि वह आर्य जाति में उत्पन्न हुए थे, यह भी कारण था कि वह आर्यजाति को शेष सब जातियों की अपेक्षा सत्य के अधिक पास समझते थे। वेद धर्म का स्रोत है, केवल आर्यजाति ही है जो वेदों को प्रामाणिक मानती है। जिन आर्षग्रन्थों में स्वामी जी वेद के आशय को ढूंढते थे, उनका खजाना भी आर्यजाति के पास ही था। वैदिक संस्कार, वैदिक-ज्ञान, वैदिक-धर्म-सब के अवशेष यदि कहीं थे, तो आर्यजाति में थे। इस कारण स्पष्ट है कि जहां आर्यजाति को शुद्ध वैदिक धर्म पर लाने के लिये केवल सुधार की आवश्यकता थी, वहां ईसाइयत और इस्लाम का मूलसहित परिवर्तन किये बिना वैदिक-धर्म के लिये स्थान नहीं निकाला जा सकता था। एक जगह केवल काट छांट चाहिये, जहां दूसरी जगह उखाड़ना आवश्यक है। आर्य जाति की रक्षा और सुधारणा आवश्यक थी, परन्तु अन्यमतवादों का रूपपरिवर्तन ही अभीष्ट था। स्वामी जी ने आर्यजाति की रक्षा और सुधारणा करते हुए ईसाइयत और इस्लाम को रास्ते पर खड़ा पाया। वह धर्म आर्यजाति की सत्ता को नष्ट करने की धमकी दे रहे थे। आर्य जाति को सुधार कर, शुद्ध वैदिक बनाकर स्वामीजी संसार की भलाई का साधन बनाना चाहते थे। आर्यजाति के लिये भयानक समझ कर आर्यजाति के रक्षक ने ईसाइयत और इस्लाम पर प्रत्याक्रमण किये। इससे मनुष्य मात्र का भला ही अभीष्ट था। प्रथम तो स्वामी जी समझते थे कि यदि आर्य जाति के विचारों का पूरा सुधार हो जाय तो २३ करोड़ से अधिक वैदिक-धर्मी सारे संसार को सच्चे धर्म की शरण में ला सकते हैं। वह देखते थे कि आर्य जाति के अधूरे वैदिकधर्मी अन्य प्रभावों में आकर बिल्कुल अवैदिक और अनार्य बन रहे हैं। मनुष्य जाति की भलाई इसी में थी कि आर्य जाति अपने रूप को समझ कर संसार को शुद्ध धर्म का प्रकाश दे सके। दूसरे स्वामी जी चाहते थे कि अपने २ मतों की निर्बलतायें देखकर ईसाई, मुसलमान आदि वैदिक धर्म की शरण में आ सकें। स्वामी जी का आर्यजाति के प्रति पक्षपात था परन्तु वह गुणों का पक्षपात था। भारवि कवि ने कहा है—

वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां
भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः।

स्वामी दयानन्द आर्य-जाति को अपना बिगड़ा हुआ किला समझते थे और अन्य धर्मावलम्बिनी जातियों को उस किले पर आक्रमण करने वाले प्रतिपक्षी। यह विचार समय के साथ धीरे २ पूर्णता को प्राप्त हुआ। जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय स्वामी जी रक्षा, सुधार और प्रत्याक्रमण के पूरे कार्यक्रम को तय्यार कर चुके थे। वह इस समय युद्ध की गहराई में थे। सब प्रतिपक्षी चौकन्ने हो चुके थे, और स्वामी जी से सीखे हुए अस्त्रों की सहायता से उनके प्रत्याक्रमणों को रोकने का उद्योग कर रहे थे।

इस प्रकार प्रत्याक्रमण द्वारा आक्रमणों को रोकते हुए धर्म-महारथी २२ अक्तूबर १८७४ को प्रयाग से बम्बई पहुंचे। देर से स्वामी जी के पास बम्बई-निवासियों के निमन्त्रण आरहे थे। बम्बई के समाज-सुधारक सुधार-सम्बन्धी कार्य को उन्नति देने के लिये व्यग्र थे। इस कारण उनका आग्रह था कि स्वामी जी शीघ्र ही बम्बई पधारें। स्वामी जी के भक्त प० सेवकलाल जी आदि ने पहले ही से काशीशास्त्रार्थ की प्रतियां श'र में बटवाकर प्रसिद्ध करदी थीं। स्टेशन पर स्वामी जी का अच्छा स्वागत हुआ। बालुकेश्वर पर एक उत्तम आश्रम में स्वामी जी के निवास का प्रबन्ध किया गया था। वहां पर प्रतिदिन धर्म-चर्चा होने लगी। बम्बई में वल्लभ सम्प्रदाय का विशेष ेर है। स्वामी जी ने उसी का खण्डन आरम्भ किया। वल्लभ सम्प्रदाय की लीला का उल्लेख अब आवश्यक नहीं रहा। सम्प्रदाय के गुरुओं की घृणास्पद लीलाओं से अब देश काफी परिचित हो चुका है। स्वामी जी ने जब बम्बई में उनके आचरण देखे और सुने, तो उनके हृदय में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। उन्होंने बलपूर्वक खण्डन प्रारम्भ किया। वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों में हलचल पैदा होगई। गोकुलिये गोसाइयों में जीवन जी गोसाई बहुत चलता पुर्जा था। उसने स्वामी जी के सेवकों तक को बहकाकर विषद्वारा धर्म की आवाज को शान्त करने का यत्न किया परन्तु स्वामी जी को रहस्य का पता चल गया और जीवन जी का कण्टक दूर न हुआ। कुछ लोग स्वामी जी का पीछा करने लगे। वह छाया के समान पीछे रहने लगे ताकि अवसर पाकर कांटे को उखाड़ दें—परन्तु सफलता प्राप्त न हुई। स्वामी जी निर्भय तो थे, परन्तु असावधान नहीं थे। बहुत सी आपत्तियां तो उनकी सावधानता से ही दूर हो जाती थीं। कई लोग समझते हैं कि आंखें बंद करके चलने का नाम निर्भयता है, स्वामी जी उनमें से नहीं थे। भय को न देखना निर्भयता नहीं, भय को देखना और देखकर भी कर्तव्य के मार्ग से न विचलना ही निर्भयता के नाम से पुकारा जा सकता है। सावधानता स्वामी जी का विशेष गुण था। अपने डेरे की छोटी से छोटी बात पर भी स्वामी जी की दृष्टि रहती थी। बम्बई के एक सेठने दूकान पर कह छोड़ा था कि 'स्वामी जी का नौकर खाने पीने का जो सामान लेने आवे वह दे दिया जाय, और बिल मेरे पास भेज दिया जाय' एक

यह भाव प्रगट कर स्वामी जी को पता चला कि आवश्यकता से नाम गुरु बनकर सामने डेरे पर आया है। फिर उन्होंने भगवान अपनी गुरुडी गन कर रहे हैं। स्वामी जी ने दो अन्य ही लोगों को सभा से पृथक् कर दिया।

इस समय स्वामी जी के अनुयायियों की संख्या इतनी बढ़ चुकी थी कि उनके विचारों के लोग देश भर में फैले हुए थे। यह लोग बिखरे हुए फूलों की भाँति इधर उधर पड़े थे, उनकी माला तैयार नहीं हुई थी। सब के सब दानों में शक्तियाँ बहुत फैली हुई थीं, उनका कोई केन्द्र नहीं था। इस अभाव को स्वामी जी के भिन्न भिन्न शिष्य भी अनुभव कर रहे थे। बम्बई में बहुत से भद्र पुरुष स्वामी जी के पास आये और आर्यों का एक संगठन बनाने के विषय में प्रार्थना की। देर तक विचार होता रहा। विशेष चिन्ता नाम के विषय में थी। स्वामी जी ने 'आर्य समाज' नाम प्रस्तावित किया, जो आर्य पुरुषों के हृदयों के सर्वथा अनुकूल था। स्वामी दयानन्द आर्य धर्म के सुधारक और प्रचारक थे, वह आर्यत्व के पोषक और प्रतिनिधि थे। 'आर्यसमाज' यह नाम इस भाव को सूचित करता है। यह नाम सभी भद्र पुरुषों के हृदय में ठीक जँचा, और आर्य-समाज बनाने की तय्यारियाँ होने लगीं।

हरेक समाज के लिये कोई न कोई आधार चाहिये। आर्यसमाज का मूल वेद हैं, परन्तु अभी तक वह अगम्य सागर थे, जिन तक पहुँचना किसी आर्य पुरुष की शक्ति में नहीं था। अभी वह समय नहीं आया था कि वेदों के आधार पर ही आर्यसमाज की स्थापना करदी जाती। आधार में रखने के लिये एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी, जो लोगों की समझ में आ सके, ताकि प्रत्येक आर्य पुरुष आर्यसमाज में आने से पूर्व जान सके कि किन सिद्धान्तों का मानने वाला पुरुष आर्यसमाज में प्रविष्ट हो सकता है। सौभाग्य से इस समय ऐसा ग्रन्थ भी तय्यार हो चुका था। जब स्वामी जी अलीगढ़ में प्रचार कर रहे थे, तब राजा जयकृष्णदास जी ने प्रार्थना की थी कि एक ऐसा ग्रन्थ प्रकाशित कर दिया जाय जिसमें सब सिद्धान्तों का समावेश हो। स्वामी जी ने उस प्रस्ताव को स्वीकार करके अपने व्याख्यानों का संग्रह करा लिया, और वह 'सत्यार्थ-प्रकाश' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस समय सत्यार्थ प्रकाश प्रथम बार प्रकाशित हो चुका था।

समय अनुकूल था परन्तु स्वामी जी को शीघ्र ही बम्बई से सूरत जाना पड़ा, इस से कुछ समय के लिये समाज की स्थापना विलम्बित होगई। २४ नवम्बर १८७४ से यह परामर्श आरम्भ हुआ था, लगभग ६० सज्जनों ने सभासद बनने की प्रतिज्ञा की थी। दिसम्बर में स्वामी जी को बम्बई से जाना पड़ा। ३ मास के लगभग गुजरात प्रान्त में प्रचार करने के अनन्तर जब जनवरी में फिर स्वामी जी बम्बई गए, तब आर्यसमाज की

स्थापना का प्रस्ताव अधिक उत्साह से उठाया गया। इस बार यत्न शीघ्र ही सफल होगया राजमान्य राजश्री पानाचन्द्र आनन्द जी सर्व सम्मति से नियमों का मसौदा बनाने के लिये नियत किये गये। उनके बनाये हुए मसौदे पर विचार करके चैत्र सुदी ५ सं० १९३२ तदनुसार १० अप्रील १८७५ के दिन, गिरगाव में, डा० मानिकचन्द्र जी की वाटिका में नियमपूर्वक आर्यसमाज की स्थापना हुई। आर्यसमाज के २८ नियम बनाये गये। वर्तमान १० नियम लाहौर में पीछे से बनाये गये थे। प्रारम्भिक २८ नियमों में सभा कुछ है, उद्देश्य, नियम, उपनियम आदि सब कुछ उनमें आगये हैं। यह पहला अवसर था कि स्वामी दयानन्द जिन सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहते थे, उनके माननेवाले लोग एक सूत्र में पिरोये जाकर सगठित हुए। आर्य समाज की नीव में कौन २ से विचार कार्य कर रहे हैं—यह जानना है। तो इन प्रारम्भिक २८ नियमों का विवेचन आवश्यक है। ऐसा विवेचन मनोरञ्जकता से भी खाली न होगा।

बम्बई आर्य समाज का पहला नियम बड़ी स्पष्टता से आर्य-समाज के उद्देश्य को प्रकाशित करता है। वह कहता है—'सब मनुष्यों के हितार्थ आर्यसमाज का होना आवश्यक है' आर्यसमाज का उद्देश्य सब मनुष्यों का हित करना है। यह विस्तृत उद्देश्य है, जिससे आर्यसमाज की स्थापना हुई है। ससार म इससे बढ़कर व्यापक उद्देश्य नहीं हो सकता। दूसरा नियम बताता है कि 'इस समाज म मुख्य स्वत प्रमाण वेदों को ही माना जायगा' इस वाक्य में, आर्यसमाज का धार्मिक आधार स्पष्ट रूप से बता दिया गया है। केवल वेद ही स्वत प्रमाण और धर्म के मूल आधार है—अन्य सब ग्रन्थ चाहे वह आर्ष ही क्यों न हों—जहा तक वेदानुकूल न हों, शब्दप्रमाण नहीं है। यह नियम बड़ा स्पष्ट है। यदि इसके महत्त्व पर पूरा ध्यान दिया जाय तो आर्यसमाज की कुटिया शाखाओं में बिखरने से बचाई जा सकती हैं। दूसरे और चौथे नियम म प्रधान और शाखाभेद से आर्यसमाजों के दो भेद किये गये हैं। इन नियमों म प्रतिनिधि सभा और सार्वदेशिक सभा आदि विस्तृत सगठना की कल्पना नहीं है। पाचवा नियम समाज में संस्कृत और आर्यभाषा के पुस्तकालय की आवश्यकता बताता है, और यह भी आशा दिलाता है कि समाज की ओर से 'आर्य-प्रकाश' नाम का साप्ताहिक पत्र निकलेगा। यह नियम—तथा आगे के कुछ और नियम भी—इन सम्पूर्ण नियमों को एक देशी बना देते है। इन नियमों को बनाते हुए बम्बई की दशाओं को विशेषतया ध्यान में रखा गया था। ७वें नियम में केवल दो अधिकारी नियत करने का निर्देश है। एक प्रधान—दूसरे मन्त्री। अभी उपप्रधान उपमन्त्री आदि की रचना की आवश्यकता नहीं समझी गई। इस नियम का दूसरा भाग बड़े महत्त्व का है। पुरुष और स्त्री—दोनों ही समाज के सभासद् बन सकेंगे। यह उदार नियम आर्यसमाजों म प्राय उपेक्षा की दृष्टि

से देखा जाता है। स्त्री समाजें जुदा खोल दी जायँ—इससे शायद उतनी न हानि हो, जितनी मुख्य आर्यसमाज से स्त्रियों का बहिष्कार करने से होती है। स्त्रियों का दृष्टिक्षेत्र बहुत संकुचित हो जाता है। उनका ज्ञान पूरी तरह बढ़ने नहीं पाता। वह अपनी परिधि से बाहिर नहीं निकलने पातीं। यदि पुरुष और स्त्री एक ही धार्मिक संगठन में शामिल हों, इकट्ठे बैठें, कार्यकारिणी में मिलकर इकट्ठे ही आवश्यक विषयों पर विचार करें, तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि स्त्रियों के ज्ञान में बहुत वृद्धि हो, आर्यसमाज की शक्ति दुगनी हो जाय, और कार्य को पुष्टि मिले।

आठवां नियम आर्यसमाज के सभासद् की योग्यता का वर्णन करता है। 'इस समाज में सत्पुरुष सदाचारी और परोपकारी सभासद् लिये जायगे' यद्यपि देखने में यह नियम छोटा और अपर्याप्त सा दिखाई देता है परन्तु आश्चर्य है कि इस नियम में ऋषि का हृदय स्पष्टता से प्रतिबिम्बित है। समाज का सभासद् सत्पुरुष हो, सदाचारी हो— अर्थात् आर्य आचरणोंवाला हो। आर्य समासद बनने के लिये श्रेष्ठ आचरण को मुख्य माना गया है। वर्तमान १० नियमों में सदाचार की चर्चा इतनी स्पष्टता से नहीं है। यही कारण है कि कभी २ 'करने' की अपेक्षा 'मानने' की महिमा अधिक बढ़ाई जाती है। प्रारम्भिक नियम 'करने' की महिमा अधिक मानते थे। दुराचारी, असत्पुरुष क्षण भर भी समाज का सभासद् नहीं रहना चाहिये—बम्बई वाले नियमों का यह सार है। १०वां नियम सातवें दिन सत्संग करने का आदेश करता है। पहले यह सत्संग शनिवार को होता था, पीछे से अधिक अनुकूलता देखकर रविवार के दिन होने लगा।

११ वां नियम कार्यक्रम का प्रतिपादन करता है। कार्यक्रम में गान मन्त्रपाठ मन्त्रों की व्याख्या आदि के अतिरिक्त परमेश्वर सत्यधर्म सत्य नीति सत्य उपदेश आदि का प्रतिपादन है। इस नियम में साप्ताहिक सत्संग के क्षेत्रविस्तार का दिग्दर्शन करा दिया गया है। सत्यधर्म और सत्य नीति को पृथक रखा गया है। सत्यधर्म सिद्धान्त रूपी धर्म है, और उसका व्यावहारिक प्रयोग सत्यनीति कहलाता है। आर्यसमाज में केवल सिद्धान्तों पर ही विचार न होगा, उनके व्यावहारिक प्रयोग पर भी विचार किया जायगा। जो लोग यह समझते हैं कि आर्यसमाज में केवल मूल सिद्धान्तों पर ही विचार होता रहे, उनके व्यावहारिक प्रयोग पर कोई ध्यान न दिया जाय, वह ११वें नियम पर ध्यान देंगे तो उनका संदेह दूर हो जायगा। १२वें नियम में आय का शतांश चन्दे के रूप में देने का विधान रखा गया है और बताया गया है कि चंदे की आमदनी से 'आर्यसमाज' 'आर्य-विद्यालय और आर्य-समाचार पत्र' चलाए जाय। 'आर्य विद्यालय' का विचार आर्यसमाज की आधार शिला रखने के साथ ही उत्पन्न होगया था, यह कोई नया समारोह नहीं है। स्वामी जी का यह दृढ़ आशय पुनीत होता है कि आर्य पुरुषों की सन्तान को शिक्षित करने के लिये आर्य-विद्यालय खोले जाय। १६ वां नियम आर्य विद्यालय

के उद्देश्य को और भी अधिक स्पष्ट करता है । उसमें आर्य-विद्यालय का यह कार्यक्रम बताया गया है 'आर्यविद्यालय में वेदादि सनातन आर्षग्रन्थों का पठन पाठन हुआ करेगा और वेदोक्त रीति से ही सत्य शिक्षा सब पुरुष और स्त्रियों को दी जायगी।' इस नियम का अभिप्राय स्पष्ट है । आर्यविद्यालय का उद्देश्य आर्यसन्तान को वैदिक शिक्षा देना समझा गया था, न कि केवल प्रचारक बनाना । १४ वें और १५ वें नियम में वैदिक स्तुति प्रार्थना उपासना के अतिरिक्त संस्कारों का करना आर्यमात्र के लिए आवश्यक बताया गया है । १७ वां नियम बड़े महत्व का है । उसमें एक बड़ा उच्च सिद्धान्त बतलाया गया है । इस समय और शायद सदा प्रत्येक देश में दो प्रकार के विचारक रहे हैं । एक वह जो अपने देश को सब भूमण्डल के देशों में ऊंचा मान कर केवल उसी की भलाई को अपने जीवन का लक्ष्य मान लेते हैं । दूसरे वह जो विश्वहित के विचार को ऊंचा रख कर देशहित को एक संकुचित भाव मानते हैं । १७ वें नियम में बड़ी सुन्दरता से दोनों को मिला दिया गया है । नियम यह है—

"इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जायगा एक परमार्थ, दूसरा व्यवहार, इन दोनों का शोधन तथा सब संसार के हित की उन्नति की जावेगी"

स्वदेश की उपेक्षा नहीं की गई, परन्तु उसका अन्तिम लक्ष्य संसार का हित करना रखा गया है । स्वदेश का हित प्रत्येक देशवासी का कर्तव्य है। उसके लिए निश्रेयस और अभ्युदय, परमार्थ और व्यवहार दोनों ही आवश्यक हैं । केवल भारतवासी नहीं, सभी देशों के निवासियों के लिये यह नियम रखा गया है । सब अपने देश के हित में यत्नवान हों—परन्तु देशहित का भी अन्तिम लक्ष्य विश्वहित हो । विश्वहित की भावना के विना स्वदेशहित एक निर्मूल ममता है और स्वदेशहित के विना विश्वहित के साधन का यत्न चांद को पकड़ने के यत्न के समान है । १८ से २५ तक के नियम कार्यकर्त्ताओं को प्रबन्धसम्बन्धी निर्देश करते हैं । २६ वें नियम में एक बहुत छोटी परन्तु *महत्त्वपूर्ण बात है । जब तक आर्य समाजस्थ नौकर मिलना सम्भव हो,* उससे बाहिर का नौकर न रखा जाय । शेष नियमों में कोई विशेष साम्प्रदायिक बू नहीं है, परन्तु इस नियम में कुछ थोड़ा सा साम्प्रदायिक भाव पाया जाता है । इतने उदार नियमों में यह नियम कुछ अनुदार सा प्रतीत होगा, परन्तु यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय, कि हिन्दू समाज में द्विजेतरों की कैसी दुर्दशा थी, और यह भी देखा जाय कि उनकी दशा के सुधारने का एक यह भी उपाय है, कि चाहे जाति में कोई हो, यदि वह आर्य बनगया तो उसे सेवक बनाने से किसी आर्य पुरुष को संकोच न हो तो समझ में आजायगा कि इसमें केवल साम्प्रदायिकता ही कारण नहीं है, सेवक-समाज

का हित भी कारण है। इस्लाम ने प्रारम्भ में गुलामों की दशा को सुधारने का जो उद्योग किया था, उसे दृष्टि में रखते हुए इस नियम पर विचार किया जाय तो नियम के औचित्य पर विधान करना कठिन नहीं होगा। २८ वें नियम में, नियमों के घटाने बढ़ाने के लिए सब श्रेष्ठ सभासदों का सलाह करना आवश्यक बताया गया है।

यह बम्बई के आर्यसमाज का संगठन है। इसमें सन्देह नहीं कि यह कई बातों में अपूर्ण है। विशेषतया कार्य में आने वाले व्यावहारिक नियमों का बहुत अभाव है। बहु सम्मति से निश्चय हो, या सर्वसम्मति से, नियम परिवर्तन के लिए कितना बहुमत होना आवश्यक है, चुनाव कितने समय पीछे हो, इत्यादि व्यावहारिक बातें नियमों में से छूट गई हैं। यह भी नहीं कि यह केवल शुद्ध उद्देश्यों या मूल सिद्धान्तों का ही वर्णन हो, कई एक व्यावहारिक नियम भी विद्यमान हैं, परन्तु वह अपूर्ण और अस्पष्ट हैं। यह ठीक है, तो भी यह कहने में कुछ अत्युक्ति नहीं है कि इन नियमों में स्वामी जी के हृदय का आशय अधिक स्पष्टता से प्रतिबिम्बित है। उद्देश्य का संक्षेप में परन्तु बड़ी स्फुटता से प्रतिपादन है। शेष नियम भी स्वामी जी के आशय को बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त करते हैं।

एक बात और है। इन नियमों पर ब्राह्मो समाज के संगठन का प्रभाव स्पष्ट है। सिद्धान्तों का नहीं अपितु कार्यसम्बन्धी व्यावहारिक संगठन का। इसमें कुछ आश्चर्य भी नहीं है। यह असन्दिग्ध बात है कि स्वामी जी के सिद्धान्तों का निर्माण बिल्कुल स्वतन्त्ररीति से हुआ था। वह किसी के अनुकरण में नहीं था—वह एक ज्ञानी और पर्युत्सुक हृदय का विकास था, परन्तु प्रतीत होता है कि समाज के संगठन का विचार उतना अपेक्षारहित नहीं था। बम्बई के निवासी स्वामी जी के पास गये, और समाज की स्थापना के सम्बन्ध में निवेदन किया। जिन लोगों ने स्वामी जी को दिल्ली में निमन्त्रण दिया था, उनमें बहुत से प्रार्थनासमाजी थे, और प्रार्थनासमाज ब्राह्मो समाज की एक शाखामात्र था। उन्हीं लोगों ने स्वामी जी से समाज बनाने की प्रार्थना की, और संगठन तय्यार किया। यह बातें ध्यान में रखें तो संगठन की कई विशेष बातें समझ में आ जाती हैं। साप्ताहिक सत्संग, गृहस्थी प्रचारक आदि संस्थायें, जो नई प्रतीत होती हैं, नई नहीं हैं। इन पर पहले का प्रभाव स्पष्ट है। कई लोगों का विचार होगा कि नियमों पहले समाजों की प्रचलित प्रथाओं के प्रभाव को मान लेने से समाज का या इस के संस्थापक महापुरुष का महत्त्व कम हो जायगा। यह भ्रममात्र है। संस्थायें और संगठन समय की सन्तानें हैं, वह वर्तमान प्रभावों से बिल्कुल स्वतन्त्र नहीं रह सकते। उनका

गौरव इसमें नहीं कि वह बिना जड़ के वृक्ष, बिना नींव के भवन या बिना ऋतु के फल है, बल्कि गौरव इसमें है कि यह समय की आवश्यकता को पूरा करते हैं, जाति की वास्तविक बीमारी का ठीक इलाज करते हैं, और समय का ठीक आलाप सुनाते हैं। यद्यपि आर्यसमाज के व्यावहारिक सगठन पर ब्रह्मो समाज का प्रभाव था, तो भी हम अगले पृष्ठ में देखेंगे कि आर्यसमाज ब्रह्मो समाज की अपेक्षा अधिक समयानुकूल, जाति की आवश्यकताओं को पूरा करने वाला और उपयोगी था, इस कारण जाति ने उसे अधिक व्यग्रता से देखा परन्तु उत्सुकता और उत्साह से ग्रहण किया।

काठियावाड़ और पूने में, इन लगभग ५ महीनों में खूब प्रचार हुआ। बम्बई तो स्वामी जी के प्रचार से हिल गई। वल्लभ सम्प्रदाय के गुरु, शकाओं से बचकर बम्बई छोड़ने तक को बाधित हो गये। मूर्ति पूजा के बेतरह खण्डन से ब्राह्मणमण्डली विचलित हो गई। प्रजा के तग करने से मण्डली को एक बार शास्त्रार्थ का आयोजन भी करना पड़ा। पहला शास्त्रार्थ बम्बई के पुस्तकालय में हुआ। दूसरा शास्त्रार्थ स्वामी जी के काठियावाड़ से लौटकर फिर बम्बई आने पर, होराभाई जीवन जी के मकान पर प० रामलाल जी शास्त्री के साथ हुआ। दोनों में विवाद का विषय यह था कि 'मूर्ति पूजा वेदों में है या नहीं'? जहां बनारस के पांव उखड़ गये, वहां बम्बई के शास्त्री क्या कर सकते थे? मूर्ति पूजा वेदों से सिद्ध न हो सकी। स्वामी जी जब बम्बई से कुछ दिनों के लिये बड़ौदे गये हुए थे तब प० कमलनयन शास्त्री ने शास्त्रार्थ का हल्ला किया। स्वामी जी बम्बई लौट आये। काउस जी फ्राम जी हाल में शास्त्रार्थ हुआ। बम्बई में ईसाइयों के साथ भी कुछ झपट हुई। बड़े पादरी विलसन साहब विद्वान पुरुष थे। स्वामी जी ने उन्हें धर्म विचार के लिये आमन्त्रित किया। कोई उत्तर न पाकर स्वामी जी स्वयं पादरी साहिब के पास पहुंचे परन्तु फिर भी उन्हें धर्म विचार के लिये तैयार न कर सके। बड़े आदमियों को कोई न कोई कार्य सदा रहा ही करते हैं। स्वामी जी के साथ धर्म विचार जैसी अप्रिय परीक्षा से, पादरी साहिब को वैसे ही एक आवश्यक कार्य ने छुटकारा दिला दिया।

गुजरात में भ्रमण करते हुए स्वामी जी ने सूरत, भरोच आदि में धर्म प्रचार किया, आर्य पुरुषों में नये जीवन का सचार किया। भरोच से स्वामी जी दिसम्बर मास में अहमदाबाद गये। साबरमती के किनारे मणिकेश्वर महादेव के मन्दिर में स्वामी जी का निवास स्थान था। अहमदाबाद में भी पण्डित मण्डली से शास्त्रार्थ हुआ। यहां उत्तम प्रभाव रहा, और शीघ्र ही यहां आर्यसमाज की स्थापना भी हो गई। ट्रेनिंग कालेज राजकोट के प्रिंसीपल श्री हरगोविन्द दास जी के आमंत्रण पर स्वामी जी राजकोट गये, राजकोट से फिर अहमदाबाद ठहरते हुए आप बलसार और बसई पधारे।

बम्बई में स्वामी जी राज्य के अतिथि थे। आपका आसन विद्यागिरी जी के निवास स्थान ही के मन्दिर में लगा। यहाँ आपके अनेक व्याख्यान हुए। व्याख्यानों में हजारों व्यक्ति उपदेश सुनने नियम से उपस्थित होते थे। पण्डित-मण्डली भी व्याख्यानों में आता था। ऐसा समां नित्य के होते थे। जब स्वामी जी देव भाषा का सरल उच्चारण करते थे, तब पण्डित लोग आश्चर्य में उंगली देकर आपस का मुख ताका करते थे। कहते हैं कि बम्बई में पण्डितों के साथ एक शास्त्रार्थ का प्रसंग आने पर, उसके दिन के लिए स्वामी जी ने कुछ समय एक कठिन संस्कृत भी बोली थी, जिसे पण्डित लोग न समझ सके। सामान्यतया स्वामी जी का संस्कृत बोलना बहुत ही सरल था। वे बड़ी सरल भाषा का प्रयोग किया करते थे। जिन्हें संस्कृत का कुछ भी ज्ञान होता था, वह उनके आशय को समझ जाते थे। पण्डितों के आग्रह पर वहां स्वामी जी ने कुछ समय तक कठिन संस्कृत का भी भाषण किया, जिससे नवीन वादियों के मुख बन्द हो गये। राजवैद्य माधवराव की प्रार्थना पर स्वामी जी ने राज भवन पर भी एक व्याख्यान दिया, जिसमें मराठी न जानने वाले पण्डितों के मुख से नाना प्रकार के गम्भीर सिद्धान्तों की व्याख्या सुनकर ऊंचे चकित ही रह गए। बड़ौदे से स्वामी जी को पं० कमलानयन से शास्त्रार्थ करने के लिये फिर बम्बई जाना पड़ा।

१८७५ ई० के जुलाई मास के प्रारम्भ में प्रसिद्ध सुधारक श्रीयुत महादेव गोविन्द रानडे के निमन्त्रण पर स्वामी जी पूना गये। पूना महाराष्ट्र का केन्द्र है, और सनातन धर्म का गढ़ है। पूने के अनेक शास्त्री यहां स्थापना कर चुके हैं, और गणपतियों का प्रसार कर चुके हैं। वहां जिनका प्रभाव था। पूना में स्वामी जी के १५ बड़े प्रभावशाली व्याख्यान हुए। ये व्याख्यान सम्पूर्ण रूप से छप भी चुके हैं। पूना गढ़ में इन व्याख्यानों के सहारे ने हलचल मचा दी। रानडे महाशय के उद्योग से शहर में

स्वामी जी की सवारी निकली। एक पालकी में रखे हुए वेद आगे २ थे, और स्वामी जी को लिये हाथी पीछे २ था। सवारी धूमधाम से निकली। इसके जवाब में विरोधियों ने, जिनमें कई महाराष्ट्र के रत्न भी शामिल थे, गर्दभानन्द आचार्य की सवारी निकाली। एक आदमी का मुंह काला करके गधे पर बिठा दिया, ताली पीटते और कीच फेंकते हुए लोग साथ जाने लगे। बड़ा हुल्लड़ मचता रहा। स्वामी जी और उनके साथियों पर कीच फेंका गया। रानडे महाशय पर भी बहुत सा कीच पड़ा। विरोधियों ने समझा कि वह इस प्रकार से सत्यवादी के मुंह को सी सकेंगे, परन्तु उन्हें पता नहीं था कि यह मोम नहीं था, जो हाथ से गल जाता। इस व्यवहार से स्वामी जी का तो क्या अपमान होना था, उलटा आज तक भी उन्हीं महानुभावों के शुभ्र कीर्तिचन्द्र पर कालिमा का एक धब्बा लगा हुआ है, जो और सब से प्रकार से आदर के योग्य हैं।

ग्यारहवां परिच्छेद ।

उत्तर दिशा में धर्म की गूंज ।

१ जनवरी १८७७ ई० को दिल्ली में महारानी विक्टोरिया के भारत की महाराणी उद्घोषित होने के उपलक्ष में भारी दरबार होने को था। उसकी तय्यारियां धूम धाम से हो रही थीं। दिल्ली में देशभर के राजा महाराजों के आने की आशा लग रही थी। स्वामी दयानन्द जी बम्बई से लौट कर संयुक्त प्रान्त में भ्रमण कर रहे थे, उन्हें दरबार के समाचार मिले। जो व्यक्ति संसार भर को सत्य की बात सुनाने का बीड़ा उठाये हुए हो, उसे इससे अच्छा अवसर कहां हाथ आ सकता था। स्वामी जी को खेंचनेवाले मुख्यतया दो प्रलोभन थे। एक तो उनकी प्रबल इच्छा थी कि वह आर्यावर्त के राजाओं के हृदयों में सच्चे आर्य धर्म के लिए प्रेम पैदा करने में सफल हों। उनकी भावना थी कि जब तक देश के रईस नहीं सुधरते तब तक प्रजा का सुधार नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार रईसों की दशा सुधारी जा सके तो सर्व साधारण की दशा में बिना विशेष परिश्रम के ही परिवर्तन पैदा किया जा सकता है। इस कारण उनकी अभिलाषा थी कि किसी प्रकार देश भर के नरेशों के कानों तक सत्य का सन्देश पहुंचाया जाय। दरबार की ओर खेंचनेवाला दूसरा प्रलोभन यह था कि स्वामी जी देश में काम करनेवाली अनेक शक्तियों का देख रहे थे। एक ओर ब्रह्मसमाज था, जिसकी बागडोर उस समय बा० केशवचन्द्र सेन के हाथ में थी। दूसरी ओर सर सय्यद अहमद की चलाई हुई लहर थी, जिसका उद्देश्य मुसल्मानों को जगाना था। शक्तियां अनेक थीं, परन्तु सब का उद्देश्य एक ही दिखाई देता था। एक ही सचाई का भिन्न २ रूप से प्रकाश हो रहा था - स्वामी जी की प्रतिभा केवल भेदों को देखनेवाली और काट छांट करने वाली न थी, वह बड़े से बड़े भेद में समानता देखने की भी शक्ति रखती थी। स्वामीजी भेद प्रवृति को ही उत्पन्न नहीं करना चाहते थे, बुराइयों के दूर हो जाने पर बची हुई भलाई के आधार पर सारी मनुष्य जाति को एकता के सूत्र में पिरो देने का भी सङ्कल्प रखते था। सत्यार्थ प्रकाश का निम्नलिखित उद्धरण स्वामी जी के आशय को प्रकट करेगा।

(जिज्ञासु) इसकी परीक्षा कैसे हो ?

(आप्त) तू जाकर इन २ बातों को पूछ सब की एक सम्मति हो जायगी।

तब वह उन सहस्रों की मंडली के बीच में खड़ा हो कर बोला कि 'सुनो सब लोगो ! सत्य भाषण में धर्म है या मिथ्या में ? सब एक स्वर हो कर बोले कि सत्य भाषण में धर्म और असत्य भाषण में अधर्म है। वैसे ही विद्या पढ़ने ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्य व्यवहार आदि में धर्म है या अविद्या ब्रह्मचर्य न करने, व्यभिचार करने, कुसंग, असत्य व्यवहार छल, कपट, हिंसा पर हानि करने आदि कार्मो में ? सबने एक मत होके कहा कि विद्यादि के ग्रहण में धर्म और अविद्यादि के ग्रहण में अधर्म। तब जिज्ञासु ने सब से कहा कि तुम इसी प्रकार सब जने एक मत हो सत्यधर्म की उन्नति और मिथ्यामार्ग की हानि क्यों नहीं करते हो ?'"

इससे स्पष्ट है कि स्वामी जी केवल मतमतान्तरों के भेद को दिखा कर विरोधात्मक संसार की रचना करनेवाले नहीं थे, उनका संकल्प था कि सर्वसम्मत व्यापक सचाइयों के आधार पर संसार भर का एक धर्म स्थापित किया जाय। दिल्ली के दरबार में भारत वर्ष के सब धार्मिक सुधारकों के इकट्ठे होने की आशा थी। स्वामी जी को यह अवसर बहुत उत्तम प्रतीत हुआ। जो लोग स्वामी जी को एक संकुचित सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में प्रगट करना चाहते हैं वह यदि इस उद्धरण और ऋषिजीवन के इस भाग को ध्यान से पढ़ेंगे तो उनका सन्देह दूर हो जायगा।

दिसम्बर मास के अन्त में स्वामी दयानन्द जी दिल्ली पहुँच गये, और शेरमल के अनारबाग में डेरा जमाया। मुंशी इन्द्रमणि आदि हितैषी लोग स्वामी जी के साथ ही ठहरे थे। इन दिनों स्वामी जी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पूर्ण कर चुके थे और वेद भाष्य लिखाते थे। प्रचार का कार्य प्रति दिन होता था। राजा महाराजाओं के पंडित स्वामी जी के पास आते रहते थे। स्वामी जी ने अपने विचारों की सूचना प्राय सब राजाओं के पास भेजदी थी। उन लोगों के हृदय में महात्मा के दर्शनों की इच्छा भी उत्पन्न होती थी, परन्तु ब्राह्मण लोग पीछे से रोकते रहते थे। वह बहकाने और स्वामी जी को नास्तिक बतलाकर दर्शनजन्य पाप के चित्र खेंचने में लगे रहते थे। इन्दौर नरेश ने यत्न किया था कि एक सभा में सब नरेश इकट्ठे हों और स्वामी जी के सिद्धान्तों का श्रवण करें। दिल्ली में राजा लोग सरकारी प्रोग्राम से ही छुट्टी नहीं पा सकते थे, उन्हें धर्मोपदेश सुनने की फुर्सत कहां। कभी लाट साहिब की हाजरी—कभी फौज का निरीक्षण—कभी जलूस—कभी थियेटर—इनसे फुर्सत पानी ही कठिन होती थी। राजाओं का जमाव न हो सका। स्वामी जी का विचार था कि देश के रईसों का कुछ सुधार कर सकें—कम से कम उनके कानों तक धर्म की ध्वनि पहुंचा दें, परन्तु कुछ देश का दौर्भाग्य और कुछ रईसों का कर्मफल विचार फलीभूत न हो सका।

दरबार के अवसर पर पहुंचने में स्वामी जी का दूसरा लक्ष्य यह था कि देश के भिन्न २ धार्मिक नेताओं को इकट्ठा करके परामर्श किया जाय और यदि सम्भव हो तो कोई एक ऐसा मार्ग ढूंढ लिया जाय, जिससे सब सम्प्रदायरूपी नाले मिला दिये जाय। सब सुधारक एक ही प्रकार से, एक ही स्वर से, सुधार का काम करें, ताकि जो लोग प्रजा का सुधार कर रहे हैं, वह आपस में ही मतभेद के कारण झगड़ते हुए दृष्टिगोचर न हों। स्वामी जी के निमन्त्रण पर बा० केशवचन्द्रसेन, सर सय्यद अहमद खां, मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, बा० नवीनचन्द्रराय, मुन्शी इन्द्रमणि और बा० हरिश्चन्द्र चिन्तामणि—यह महानुभाव स्वामी जी के स्थान पर एकत्र हुए। बा० केशवचन्द्र उस समय ब्रह्मोसमाज के चमकते सितारे थे। नवविधान अभी विख्यात नहीं हुआ था, परन्तु समाज की बागडोर उन्हीं के हाथों में थी। ब्रह्मसमाज के दूसरे प्रतिनिधि बा० नवीनचन्द्रराय थे। राय महाशय पञ्जाब के ब्रह्मोसमाज के प्राण थे। १९ वीं सदी में इस्लाम ने सर सय्यद की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली नेता उत्पन्न नहीं किया। सर सय्यद का बल तलवार का नहीं था—लेखिनी का था, जिह्वा का था, और बुद्धि का था। भारत के मुसलमानों को आपने नींद से उठाकर खड़ा कर दिया था। मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी सुधार का यत्न कर रहे थे, और मुन्शी इन्द्रमणि मुसल्मानों द्वारा हिन्दू धर्म पर किये हुए आक्षेपों का समाधान करके ख्याति पा रहे थे। बा० हरिश्चन्द्र चिन्तामणि उस समय बम्बई के प्रसिद्ध आर्य समाजी थे। इस प्रकार यह छोटी सी सभा प्रतिनिधिस्वरूप समझी जा सकती थी। इसमें बंगाल, बम्बई प्रांत, युक्त प्रान्त और पञ्जाब के और दूसरी तरफ इस्लाम ब्रह्मसमाज, हिन्दू समाज और आर्यसमाज के प्रतिनिधि विद्यमान थे। सभा में स्वामी जी ने अपना विचार उपस्थित किया। विचार का सार यह था कि देश का अभ्युदय, और मनुष्य का कल्याण तब तक नहीं हो सकता, जब तक देशभर का एक धर्म न हो जाय। वह एक धर्म वैदिक धर्म है। यदि उस पर कोई आक्षेप या शङ्का हो तो स्वामी जी ने उसके समाधान के लिये अवसर देने की इच्छा प्रगट की। दुःख है कि इस सभा की पूरी कारवाई कहीं भी प्राप्त नहीं होती। यह सभा 'गुप्त' ही समझी गई होगी, क्योंकि उस समय के समाचार पत्रों में भी इसका कोई विस्तृत वर्णन नहीं पाया जाता। प्रतीत होता है कि सभा का जहाज वेद की निर्दोषता पर आकर टकराया। ब्रह्मसमाजी और मुसलमान वेद की ईश्वरीयता और निर्दोषता को नहीं मान सके, इस कारण सभा विशेष परिणाम उत्पन्न किये बिना ही समाप्त होगई।

सभा के सन्मुख मुख्य कठिनाई वेद सम्बन्धी थी—यह अनुमान एक और घटना से भी पुष्ट होता है। बा० केशवचन्द्रसेन ने दिल्ली में ही स्वामी जी से यह भी कहा था कि यदि आप वेद के नाम से धर्मप्रचार करने की जगह यह कहा करें कि—

"मैं कहता हूँ कि यह धर्म है" तो लोग अधिक सुगमता से विश्वास करलें और आप को अधिक सफलता हो। स्वामीजी ने इसका जो उत्तर दिया होगा, उसकी कल्पना ही की जा सकती है। एक मुसल्मान और फिर कट्टर मुसल्मान यह मानले कि वेद ईश्वर की ओर से आये हैं और निर्दोष हैं—यह भी कैसे सम्भव था। यह समझ लेना कठिन नहीं है कि वेद के आधार पर धर्म की एकता करने के यत्न में बा० केशवचन्द्रसेन या सर सय्यद अहमदखां से सहायता पाने के उद्देश्य से जो सभा की गई थी, वह क्यों असफल हुई?

दरबार की समाप्ति पर स्वामीजी ने दिल्ली से प्रस्थान किया। आप मेरठ होते हुए सहारनपुर गये। वहां स्वामी जी को सूचना मिली कि चांदपुर जि० शाहजहांपुर में एक भारी धार्मिक मेला है, जिसमें ईसाई और मुसलमान विद्वान् भी आयेंगे, और निर्णय होगा कि कौन सा धर्म सच्चा है। मेले के संस्थापकों का निमन्त्रण पहुंचते ही स्वामी जी ने स्वीकार कर लिया।

मेला १८ मार्च सन् १८७७ से २० मार्च सन् १८७७ तक होने को था। मेले से ५ दिन पूर्व स्वामी जी चांदपुर पहुंच गये। १८ और १९ तारीख को मुसलमानों और ईसाइयों के प्रतिनिधि बड़े २ मौलवी और पादरी भी आ पहुंचे। इस मेले का नाम "आनन्द स्वरूप" मेला था, और उद्देश्य धर्माधर्म का निर्णय था। यहां के कई रईसों ने ईसाई पादरियों के आक्रमणों से तंग आकर इस मेले का संगठन किया था, ताकि सत्य और असत्य का निर्णय एक ही बार हो जाय। धर्म चर्चा आरम्भ होने से पहले कई लोग भी स्वामी जी के पास आकर निवेदन करने लगे कि उत्तम हो यदि मुसलमान और हिन्दू आपस में मिलकर ईसाइयों को नीचा दिखायें। स्वामी जी धर्म और सत्य में राजनीति और सुलहनामे की चालों को नहीं जानते थे। उनका उत्तर स्पष्ट था। उन्होंने कहा "उचित मालूम होता है कि कोई किसी का पक्षपात न करे, बल्कि मेरी समझ में तो यह अच्छी बात है कि हम और मौलवी साहिब और पादरी साहिब प्रीति से मिलकर सत्य का निर्णय करें। किसी से विरोध करना उचित नहीं है।" इस मेले में जहां अन्य सम्प्रदाय वालों का उद्योग था कि किसी प्रकार विरोधी को नीचा दिखाया जाय, वहां स्वामी जी के हृदय में यह इच्छा प्रज्वलित हो रही थी कि सब लोग सत्य धर्म को समझ जाय।

दो दिन तक शास्त्रचर्चा होती रही। मुसलमानों की ओर से देवबन्द के मदरसे के प्रसिद्ध मौलवी मुहम्मद कासिम और दहली के मौलवी सय्यद अब्दुल मन्सूर, ईसाइयों की ओर से पादरी स्काट, पादरी नवल, पादरी पार्कर, आर्य पुरुषों की ओर से स्वा० दयानन्द और मुन्शी इन्द्रमणि थे। कबीरपन्थी लोग तो इस मेले के सभापति ही थे। यह मेला एक अपूर्व ही ढंग का था। विचार भी उत्तम हुआ। पहले दिखाई देता था

दरबार के अवसर पर पहुंचने में स्वामी जी का दूसरा उद्देश्य यह था कि देश के भिन्न २ धार्मिक नेताओं को इकट्ठा करके परामर्श किया जाय और यदि सम्भव हो तो कोई एक ऐसा मार्ग ढूंढ लिया जाय, जिसमें सब सम्प्रदायवालों को मिला लिया जाय। सब सुधारक एक ही प्रकार से, एक ही स्वर से, सुधार का काम करें, ताकि जो लोग प्रजा का सुधार कर रहे हैं, वे आपस में ही मतभेद के कारण झगड़ते हुए दृष्टिगोचर न हों। स्वामी जी के निमन्त्रण पर बा० केशवचन्द्रसेन, सर सय्यद अहमद खां, मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, बा० नवीनचन्द्रराय, मुंशी इन्द्रमणि और बा० हरिश्चन्द्र चिन्तामणि—यह महानुभाव स्वामी जी के स्थान पर एकत्र हुए। बा० केशवचन्द्र उस समय ब्रह्म समाज के प्रधान नेता थे। नवविधान अभी विख्यात नहीं हुआ था, परन्तु समाज की बागडोर उन्हीं के हाथों में थी। ब्रह्मसमाज के दूसरे प्रतिनिधि बा० नवीनचन्द्रराय थे। राय महाशय पंजाब के ब्रह्मसमाजों के प्राण थे। १९ वीं सदी में इस्लाम ने सर सय्यद की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली नेता उत्पन्न नहीं किया। सर सय्यद का बल तलवार का नहीं था—लेखिनी का था, जिह्वा का था, और बुद्धि का था। भारत के मुसलमानों को आपने नींद से उठाकर खड़ा कर दिया था। मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी सुधार का यत्न कर रहे थे, और मुंशी इन्द्रमणि मुसलमानों द्वारा हिन्दू धर्म पर किये हुए आक्षेपों का समाधान करके ख्याति पा रहे थे। बा० हरिश्चन्द्र चिन्तामणि उस समय बम्बई के प्रसिद्ध आर्य समाजी थे। इस प्रकार यह छोटी सी सभा प्रतिनिधिस्वरूप समझी जा सकती थी। इसमें बंगाल, बम्बई प्रांत, युक्त प्रान्त और पंजाब के और दूसरी तरफ इस्लाम, ब्रह्मसमाज, हिन्दू समाज और आर्यसमाज के प्रतिनिधि विद्यमान थे। सभा में स्वामी जी ने अपना विचार उपस्थित किया। विचार का सार यह था कि देश का अभ्युदय, और मनुष्य का कल्याण तब तक नहीं हो सकता, जब तक देशभर का एक धर्म न हो जाय। वह एक धर्म वैदिक धर्म है। यदि उस पर कोई आक्षेप या शंका हो तो स्वामी जी ने उसके समाधान के लिये अवसर देने की इच्छा प्रगट की। दुःख है कि इस सभा की पूरी कार्यवाई कहीं भी प्राप्त नहीं होती। यह सभा 'गुप्त' ही समझी गई होगी, क्योंकि इस समय के समाचार पत्रों में भी इसका कोई विस्तृत वर्णन नहीं पाया जाता। प्रतीत होता है कि सभा का जहाज वेद की निर्दोषता पर आकर टकराया। ब्रह्मसमाजी और मुसल्मान वेद की ईश्वरीयता और निर्दोषता को नहीं मान सके, इस कारण सभा विशेष परिणाम उत्पन्न किये बिना ही समाप्त होगई।

सभा के सन्मुख मुख्य कठिनाई वेद सम्बन्धी थी—यह अनुमान एक और घटना से भी पुष्ट होता है। बा० केशवचन्द्रसेन ने दिल्ली में ही स्वामी जी से यह भी कहा था कि यदि आप वेद के नाम से धर्मप्रचार करने की जगह यह कहा करें कि—

विद्रोहभाव, जिसने पीछे से बड़ा भयानक रूप पकड़ा, और गम्भीर परिणाम उत्पन्न किये, इसी समय से आरम्भ होता है। ईसाई पादरी आर्यसमाज की बढ़ती को न सह सके, उन्होंने समझा कि आर्यसमाज उनके मुह में से ग्रास छीन कर लेगया। पजाब में स्वामी दयानन्द जी के आने और सफलता पाने के विषय में सब से उत्तम यही वाक्य प्रयुक्त किये जा सकते हैं कि 'वह आये, उन्होंने देखा, और जीत लिया'।

स्वामी जी के हृदय में सत्य का जो स्थान था, वह दूसरी किसी वस्तु का नहीं था। जिसे वह सत्य समझते थे, उस पर सब कुछ न्योछावर करने को तय्यार थे। आप पहले दीवान रत्नचन्द के बगले में ठहराये गये—स्वामी जी के व्याख्यानों से दीवान साहिब असन्तुष्ट होगये। स्वामी जी ने उनका स्थान छोड़ दिया, परन्तु बात नहीं छोड़ी। आपको लाहौर में निमन्त्रित करने वालों में बहुत से ब्राह्मोसमाजी सज्जन थे। स्वामी जी के वेद सम्बन्धी व्याख्यानों से ब्राह्मोसमाजी असन्तुष्ट होगये। प० शिवनारायण अग्निहोत्री, जो पीछे से सत्यानन्द अग्निहोत्री बनकर, और सन्यस्त दशा में ही नया विवाह करके, ईश्वर के स्थानापन्न 'देव गुरु भगवान्' होने का दावा करनेवाला बना, वह उस समय ब्राह्मोसमाज का प्रचारक था। वह वेदों के विषय में निर्मूल आक्षेप करने में अगुआ था। एक दिन कई सज्जनों की उपस्थिति में वह स्वामी जी से कहने लगा कि 'सामवेद ईश्वरीय नहीं हो सकता—उसमें तो उल्लू की कहानी लिखी है' स्वामी जी ने सामवेद की पुस्तक सामने रखकर कहा कि 'इसमें से उल्लू की कहानी निकाल कर दिखाओ' ब्राह्मोसमाजी वेदों को निर्भ्रान्त नहीं मानते थे, परन्तु उनकी पाश्चात्य विद्वानों की की हुई टीकाओं को अवश्य निर्भ्रान्त मानते थे। अग्निहोत्री जी ने निर्भ्रान्त टीका के आधार पर ही वेदों को भ्रान्त बतलाया था, मूल वेद में से वह कुछ भी न निकाल सके—केवल पन्ने पलटने लगे। स्वामी जी ने उन्हें शर्मिन्दा किया। ऐसी बातों से ब्राह्मो समाजी असन्तुष्ट होगये, और स्वामी जी के डेरे को आर्थिक सहायता बन्द करदी। तब प० मनफूलजी की ओर से टहल सेवा होने लगी। प० मनफूल जी के विचार तो उत्तम थे परन्तु स्वामी जी के मूर्तिपूजा खण्डन से वह भी कुछ घबरा गये। उधर काश्मीर नरेश की ओर से स्वामी जी को फिर संदेसा आया। दिल्ली में भी उन्हें संदेसा मिला था। नरेश ने स्वामी जी को काश्मीर में निमन्त्रण दिया था। स्वामी जी ने उत्तर में कहा भेजा था कि "काश्मीर के राज्य में राजा की ओर से बनवाये हुए बहुत से मन्दिर हैं। मैं मूर्तिपूजा का खण्डन करूंगा, इससे राजा को दुःख होगा।" लाहौर में प० मनफूल जी ने फिर स्वामी जी के सन्मुख वही विषय रखा। निवेदन किया कि यदि आप मूर्तिपूजा का खण्डन छोड़दें तो महाराज काश्मीर भी आप को बुलालें। उस समय स्वामी जी ने जो उत्तर दिया, वह उनके महत्व का सूचक है। उससे ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द साधारण मिट्टी से नहीं बने थे, वह उसी

कि चर्चा के केन्द्रभूत ईसाई पादरी होंगे। समझा जाता था कि बेचारा हिन्दू-धर्म क्या खड़ा हो सकता है ? परन्तु स्वामी जी की एक चौमोहरी चलते ही जनता की आंखें उधर फिर गई, सबने समझ लिया कि इस अखाड़े का प्रधान मल्ली यह सन्यासी ही होगा। सर्वसाधारण पर स्वामी जी के प्रमाण और युक्तियों से सुभूषित भाषणों का खूब ही असर हुआ। पादरियों और मौलवियों को उस मेले में चेतावनी मिल गई कि आर्यधर्म एक जीवित पदार्थ है, मुर्दा नहीं।

इस मेले पर धर्म की तुरही सुनाकर धर्म-युद्ध के महारथी ने पंजाब की ओर प्रस्थान किया। पहला पड़ाव लुध्याने में हुआ, ३१ मार्च से १८ अप्रैल तक लुध्याने में धर्मोपदेश करके स्वामी जी १९ अप्रैल को लाहौर पहुंचे और दीवान रामचन्द्र के बाग में डेरा जमाया। सायंकाल के समय बावली साहिब में वैदिकधर्म पर व्याख्यान हुआ। उस व्याख्यान में पौराणिक लोगों के लिये बहुत कुछ गर्म मसाला था—वह लोग बहुत असन्तुष्ट हुए, और दीवान रत्नचन्द्र पर दबाव डाला गया कि वह स्वामी जी को अपने बाग से उठा दें। स्वामी जी को एक हिन्दू कुलोत्पन्न व्यक्ति का स्थान छोड़कर डा० रहीम खां की कोठी पर आसन जमाना पड़ा। इसके पीछे खूब प्रचार हुआ। पंजाब का हृदय नर्म है, उस पर प्रभाव डालना सहल है। गुरु नानक को पंजाब के सर कर लेने में अधिक कष्ट नहीं था। पंजाबियों के हृदय प्रभाव को शीघ्र लेलेते हैं—और फिर उसके अनुसार क्रिया और प्रतिक्रिया के आरम्भ होने में भी देर नहीं लगती। पंजाबी के सोचने और करने में थोड़ा ही अन्तर है। अन्य प्रान्तों के लोग समझ ही नहीं सकते कि एक पंजाबी ने कब सोचा, कब कहा और कब किया। जितनी देर में उनका सोचना समाप्त होता है, उतने में पंजाबी कर डालता है। एक सुधारक को इससे अच्छा मैदान कहां मिल सकता है। स्वामी जी पंजाब में बहुत पीछे गये, परन्तु उन्हें वहां आशातीत सफलता हुई, उस सफलता में पहला कारण पंजाबियों के हृदयों की ग्रहणशीलता थी। दूसरा कारण यह भी था कि भारत के सीमा प्रांत पर होने के कारण अधिक कट्टरपन—या सकुचितता—उनमें पहले से नहीं थी। स्वामी जी की दिव्यवाणी ने पंजाबियों के नर्म हृदयों पर बिजली का सा असर किया। अन्य प्रान्तों में जो कार्य महीनों न कर सके, पंजाब में वह सप्ताहों ने कर दिया।

जिस समय स्वामी जी पंजाब में आये, ईसाई पादरी पकी खेती को दोनों हाथों काट रहे थे। पंजाब का शिक्षित समाज ईसाइयों के पंजे में पड़ रहा था। थोड़ा २ काम ब्रह्मसमाज भी कर रहा था। कुछेक पठित लोग इकट्ठे होकर ब्रह्मोपार्थना भी कर लेते थे। स्वामी जी को पंजाब में विशेष युद्ध ईसाइयों से ही करना पड़ा। जहां कहीं भी वह गये, कई हिन्दू युवकों को ईसाई होने से बचाया। आर्यसमाज से ईसाइयों का

बारहवाँ परिच्छेद

नियमों की दृढ़ नींव

आर्यसमाज के नियमों का दुबारा संस्करण करने का क्या निमित्त था? यह एक आवश्यक प्रश्न है। ऋषि दयानन्द ने बम्बई के नियमों में परिवर्तन की आवश्यकता समझी, यह बात बिना निमित्त के नहीं हो सकती। परिवर्तन की आवश्यकता का प्रथम प्रयोजन यह प्रतीत होता है कि नियमों को कुछ अधिक स्पष्ट कर दिया जाय। बम्बई के नियमों में न जाने क्या क्या मिला हुआ है? आर्यसमाज का उद्देश्य, सभासदों की योग्यता, समाज का संगठन, अधिकारियों की कार्यवाही, समाचार पत्रों का निकालना आदि गौण और मुख्य, व्यापक और स्थानीय सभी प्रकार की बातें मिलाकर धर दी गई थीं। आवश्यक था कि मुख्य को गौण से तथा व्यापक को स्थानीय से पृथक कर दिया जाय। लाहौर के दस नियमों में केवल उन्हीं बातों के समावेश का यत्न किया गया है, जो मुख्य और व्यापक हैं। बम्बई के नियमों का १९ वां नियम कहता है कि 'इस समाज की ओर से श्रेष्ठ विद्वान् लोग सर्वत्र सदुपदेश करने के लिए भेजे जायेंगे' यह एक गौण नियम है। यह प्रत्येक समाज की शक्ति पर अवलम्बित है कि वह प्रचार के लिए उपदेशकों को बाहिर भेज सकता है या नहीं? हरेक समाज के लिए यह नियम नहीं बन सकता कि वह उपदेशक रखकर प्रचार करावे। इस प्रकार के नियम लाहौर में स्वीकृत नियमों में से निकाल दिए गये हैं।

लाहौर में स्वीकृत नियम अधिक व्यापक हैं। उन में विचारों की अधिक उदारता पाई जाती है। उनके निर्माता का दृष्टिक्षेत्र विस्तृत हो गया है। बम्बईवाले नियम बम्बई के उस समय के सामान्य विचारों के प्रतिबिम्ब थे, लाहौर वाले नियम हृदय तथा प्रतिभा के विकास को सूचित करते हैं। बम्बई वाले नियमों में ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं। लाहौरवाले नियम वस्तुतः ईश्वर विश्वास को ही सब विश्वासों का आधार मान कर चले हैं। उनमें आर्यसमाज का भवन ईश्वर विश्वास की मजबूत नींव पर रक्खा गया है। लाहौर के स्वीकृत नियम सिद्ध करते हैं कि ऋषि दयानन्द अन्य सब विश्वासों की अपेक्षा ईश्वर विश्वास को अधिक आवश्यक समझते थे। बहुत सी बुराइयों की जड़ वह ईश्वर सम्बन्धी उल्टे विचारों को ही मानते थे। उन्होंने अपने जीवन का एक विशेष उद्देश्य यह बना रखा था, कि लोगों के ईश्वरसम्बन्धी

कौतार में रहते थे, जिनसे कुछ दिन पहले उनका विवाद हुआ था। आपने कहा—'मैं तो ईश्वर की या महाराजा काश्मीर की प्रजा हूँ या ईश्वर की आज्ञा का पालन करूं।' इस उत्तर से पं० मनफूल जी का सङ्कुचित हृदय और भी खिन्न होगया—स्वामी जी के हृदय की गहराई को पहचानने के स्थान में उन्होंने इस उत्तर में अपना अधिक्षेप समझा।

शीघ्र ही शहर के शिक्षित समाज में हलचल पैदा होगई। पञ्जाबियों के कोमल हृदयों पर ऋषि की दी हुई चोटों का असर होने लगा। आर्यसमाज की स्थापना का निश्चय होगया। यहां बम्बई में प्रचारित किए हुए नियमों का संशोधन किया गया, और नियम तथा उपनियम जुदा कर दिये गये। आर्यसमाज के सभासद बनने का नियम केवल १० नियमों का मानना ही पर्याप्त समझा गया। बम्बई के नियम बहुत विस्तृत थे, लाहौर के नियम बहुत संक्षिप्त बनाये गये।

१० नियमों का निर्माण आर्यसमाज की स्थापना और वृद्धि का एक खास पहलू है। यह नहीं समझना चाहिये कि इस नए नियम-संस्कार में कोई विशेष कारण या उद्देश्य नहीं था। इतना समझ लेने से पूरा महत्त्व सूचित नहीं होता कि किन्हीं एक या एक से अधिक व्यक्तियों ने अपनी सम्मतियों का प्रभाव डालकर यह परिवर्तन करवाया। नियमों का संस्करण समाज की एक विशेष मञ्जिल है—वह एक विशेष घटना है, जिस के कारणों और फलों पर विचार करना चाहिये। ऋषि दयानन्द के जीवन में यह नियम-संस्करण एक विशेष मञ्जिल का सूचित करते हैं—और इस ग्रन्थ के लेखक का विचार है कि इस घटना को ध्यान में रखते हुए स्वामी दयानन्द को केवल सुधारक सन्यासी न समझकर आर्यों का मार्गदर्शक, धर्माचार्य के सार्वभौम सत्य का सुनने वाला 'ऋषि' माना जाय और स्वामी जी के लिये इसी शब्द का प्रयोग किया जाय।

उदार नियमों का भी निर्माण कर सकता है ?

(१०) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सब की उन्नति म अपनी उन्नति समझनी चाहिए ?

लाहौर वाले दसों नियमों में एक असीम सत्य प्रेम, एक अनन्त उदार-हृदयता और एक व्यापक उद्देश्य की सूचना मिलती है। जिस आत्मा में इन तीनों गुणों का निवास हो यदि उसे 'ऋषि की आत्मा' न कहें तो और किसे कहें ?

लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना हो गई। समाज के अधिवेशनों के लिए एक मकान किराये पर ले लिया गया। ऋषि दयानन्द उस में प्रतिसप्ताह धर्मोपदेश किया करते थे। समाज के प्रधान ला० मूलराज जी एम ए और मन्त्री ला० साईंदास जी नियत हुए। कई भक्तों ने ऋषि से प्रार्थना की कि आप 'आर्यसमाज के गुरु या आचार्य पद का ग्रहण करें' ऋषि ने उत्तर दिया कि 'इस प्रस्ताव से गुरुपन की बू आती है। मेरा उद्देश्य तो गुरुपन की जड़ काटना है, जिस से मुझे घृणा है' तब दूसरे भक्त ने प्रस्ताव किया कि यदि स्वामी जी आचार्य या गुरु नहीं बनना चाहते तो कम से कम 'आर्यसमाज के परम सहायक' की पदवी को तो अवश्य ही स्वीकार करें। ऋषि का उत्तर प्रश्न के रूप में था। आपने पूछा कि 'यदि मुझे आर्यसमाज का परम सहायक कहोगे तो परमात्मा को क्या कहोगे ?' फिर यह विचार कर कि आर्यपुरुष सर्वथा इन्कार से उदास न हों, समाज के सहायकों में नाम लिखाना अंगीकार कर लिया। यही ऋषि दयानन्द का ऋषिपन था। जिन लोगों को मौका मिला, वह पैगम्बर और रसूल बनने से नहीं कतराये, जिन्हें इतनी बड़ी हिम्मत न हुई, वह आचार्य, या नबी बन गये। ऋषि का ही हृदय था कि आचार्य गुरु या परम सहायक तक के पदों को न स्वीकार किया। कारण यही था कि ऋषि दयानन्द अपने को परमात्मा के ज्ञान का प्रचारक, सत्य का साधन मात्र समझते थे, इस से अधिक कुछ नहीं। वहां न बड़प्पन की चाह थी, और न गुरुपन की बू। वहां तो एक ईश्वर पर विश्वास था और सत्य पर अटल श्रद्धा थी। यही कारण था कि इस वीर की एक ही गरज से सदियों के खड़े किए हुए गुरुडम के गढ़ हिल जाते थे, झुक जाते थे, और गिर कर चकनाचूर हो जाते थे। यदि ऋषि में अपनी बड़ाई या लौकिक बड़ती की कुछ भी कामना होती तो उन्हें ऐसी अद्भुत सफलता कभी प्राप्त न होती।

लाहौर में नियम और उपनियम जुदा कर दिए गये थे। उपनियम अन्तरंगसभा ने बनाए थे। जिस समय अन्तरंग सभा में उपनियमों पर विचार हो रहा था, स्वामी जी अकस्मात् वहां पहुंच गये। सभासदों ने प्रस्तुत विषय पर स्वामी जी की सम्मति मांगी। ऋषि ने कहा कि 'मैं आप की अन्तरंगसभा का सभासद नहीं हूं इस लिए

विचारों का सुधार किया जाय। बम्बई में बने नियमों में यह बात अस्पष्ट तौर से सूचित होती थी। लाहौर में यह त्रुटि दूर कर दी गई। उद्देश्य पर ध्यान दें तो भी व्यापकता की वृद्धि पाई जाती है। छठा नियम यह है 'संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना'। उद्देश्यों में से स्थानीयता निकल गई है—वृत्ति का दृष्टिपात विस्तृत हो गया है। यह आर्य जाति का सुधार इस लिए नहीं करना चाहता, कि यह केवल आर्यजाति की भलाई चाहता है, वह आर्यजाति को सुधार कर संसार के उपकार का साधन बनाना चाहता है।

तीसरा भेद, जिसकी ओर ध्यान देना आवश्यक है, यह है कि ईश्वरीय ज्ञान की व्याख्या अधिक विस्तृत और उदार हो गई है। पहला नियम बताता है कि 'सब सत्य विद्या और जो पदार्थ सत्य विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है' कितनी उदार और सर्वोपयोगी व्याख्या है। ईश्वर के ज्ञान की सीमायें नहीं बांधी गईं। सर्वज्ञ और असीम भगवान् के ज्ञान के चारों ओर रेखा खींची भी नहीं जा सकती। 'सब सत्य विद्या का आदि मूल परमेश्वर है' विद्यारूपी वृक्ष का तना है, शाखायें हैं, हैं, पत्ते फूल और फल सब हैं, परमात्मा उनका आदि मूल है। आदि मूल तभी हो सकता है, जब वृक्ष की सम्भावना मान ली जाय। इस प्रकार अपरिमित ज्ञान रूपी कल्पवृक्ष का मूल परमात्मा को माना गया है। परमात्मा का ज्ञान भी अपरिमित है। अपरिमित का मूल अपरिमित ही हो सकता है। जो मतवादी ईश्वर के असीम ज्ञान भण्डार को एक दो या अधिक कमरों में बन्द समझना चाहते हैं, उन्हें स्वामी दयानन्द के उदार विचार पर ध्यान देना चाहिए। पहला नियम अनुदारता की जड़ पर कुठाराघात करता है। वह पक्षपाती पन का परम शत्रु है। वह उन लोगों के दावे को छिन्नभिन्न कर देता है, जो ईश्वरीय ज्ञान के ठेकेदार बनना चाहते हैं।

कई महानुभावों का यह दावा है कि स्वामी जी को उन्होंने नियमपरिवर्तन में प्रेरित किया, और जो भेद दिखाई देता है वह उन्हीं की उदारता का फल है। प्रेरणा किसी की ओर से हो, इस में सन्देह नहीं कि जो भी परिवर्तन किया गया वह स्वामी जी की अनुमति से किया गया। यदि उन नियमों में अधिक उदारता है तो ऋषि दयानन्द के विचारों की उदारता ही उस में कारण है। यदि किसी को ऊपर दिये नियमों से उदारता का भलीभांति पता न लगे तो वह निम्न लिखित नियमों पर भी दृष्टिपात करे। निश्चय है कि उसका भ्रम दूर हो जायगा—

(४) सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

क्या एक धर्म का संस्थापक अपने अनुयायियों के लिए इस से अधिक

तब स्वामी जी ने कहा कि 'यदि आप निश्चय ही करना चाहते हैं तो केशवचन्द्र जी को बुलाकर बातचीत करा दीजिये'।

गुरुदासपुर में ऋषि दयानन्द के व्याख्यान सुनने इन्जिनियर मि० क्लार्क भी आया करते थे। एक दिन व्याख्यान देते हुए आपने कहा कि—

"अंग्रेज लोगों को इस देश में आये बहुत चिर होगया है परन्तु इन लोगों ने अपने उच्चारण को अब तक नहीं सुधारा। तकार के स्थान में टकार ही बोलते हैं" क्लार्क महाशय रुष्ट होगये और यह कहते हुए चले गये कि 'यदि तुम पश्चिम में पशावर की ओर चले जाओ तो तुम्हें मना आ जाय' क्लार्क महाशय का अभिप्राय शायद यह था कि स्वतन्त्रता से बोलना केवल अंग्रेज़ी राज्य में ही सम्भव है। ऐसा तर्क प्रायः किया जाता है, परन्तु तर्क करने वाले लोग भूल जाते हैं कि अंग्रेजी राज्य से पूर्व भी भारतवर्ष में स्वाधीन शिक्षा के लिये बहुत अधिक रास्ते खुले थे। पहले तो अंग्रेजी राज्य में वाणी की स्वाधीनता बहुत परिमित है, और फिर कौन कह सकता है कि वाणी की थोड़ी सी स्वाधीनता शिक्षा, हथियार और राजकीय स्वाधीनता से बढ़कर श्रेष्ठ है।

जालन्धर में ऋषि दयानन्द सर्दार विक्रमासिंह के यहां ठहरे हुए थे। सर्दार जी ने स्वामी जी से ब्रह्मचर्य के बल की बाबत पूछा। स्वामी जी ने बतलाया कि ब्रह्मचर्य से अतुल बल की प्राप्ति हो सकती है। सर्दार साहिब को विश्वास न हुआ, और सबूत मांगने लगे। स्वामी जी उस समय चुप रहे। सायं के समय सर्दार साहिब अपनी गाडी में बैठकर बाहिर चले। गाडी में बड़ी बढ़िया जोडी जुती हुई थी। कोचवान ने लगाम सम्भाला और चाबुक हिलाया जो जोडी इशारा पाते ही हवा से बातें करने लगती, वह केवल अगले पांव उठाकर रह जाती थीं। कोचवान झुंझला गया, सर्दार साहिब आश्चर्य से इधर उधर देखने लगे। पीछे दृष्टि पड़ी तो देखा कि स्वामी जी गाडी को पकड कर मुस्करा रहे हैं। सर्दार साहिब को ब्रह्मचर्य के बल का एक नमूना मिल गया और स्वामी जी ने हंसकर गाडी को छोड दिया। *

पंजाब में भ्रमण के समय ऋषि दयानन्द वेदभाष्य लिखाया करते थे, इस कारण उनके साथ दो तीन पण्डित रहते थे। पत्र व्यवहार के लिए एक लेखक रहता था। आप प्रायः आर्योद्देश्य रत्नमाला में क्रम से दिए हुए लक्षणों में से एक २ को लेकर उसकी व्याख्या किया करते थे। सब व्याख्यान शास्त्रीय होते थे। शास्त्रीय विषय के प्रसंग से समय के दोषों का भी खण्डन करते जाते थे। धार्मिक, सामाजिक या राजनी-

* यह घटना जालन्धर की है। कई लेखकों ने इसे रावलपिंडी की घटना बतलाया है। यह भूल है।

मुझे सम्मति देने का अधिकार नहीं है।' सवसम्मति से स्वामी जी का इसी अन्तरंग सभा का प्रतिष्ठित सभासद बना लिया। उपनियम स्वीकार होजाने पर स्थानीय समाज का संगठन पूरा होगया। समाज मन्दिर में नियमपूर्वक अधिवेशन होने लगे। इस प्रकार लाहौर के कार्य से निश्चिन्त होकर ऋषि ने प्रान्त का भ्रमण आरम्भ किया। आप ने अमृतसर, गुरुदासपुर, जालन्धर, फीरोजपुर छावनी, रावलपिण्डी, गुजरात, वजीराबाद, गुजरांवाला, तथा मुल्तान छावनी आदि में पधार कर सदुपदेश दिये। प्राय आप के पहुंचते ही आर्यसमाज की स्थापना होजाती थी। आर्यसमाज की स्थापना से पौराणिक दल में और पादरी दल में भी हलचल पैदा होजाया करती थी। स्थानों पर इधर पौराणिकों से और उधर पादरियों से सामना करना पड़ता था। पञ्जाब का पौराणिक दल पंडितों से नितान्त शून्य था। प्रान्त में कोई भी अच्छा पंडित नहीं था। वेद का ज्ञाता तो क्या, अर्वाचीन संस्कृत का भी कोई अच्छा ज्ञाता मिलना कठिन था। यही कारण था कि पञ्जाब में पौराणिक दल की ओर से अधिक असभ्यता का व्यवहार होता था। वह लोग पाण्डित्य का स्थान भी गाली गलौच और ईंट पत्थर से पूरा करना चाहते थे। अमृतसर वजीराबाद आदि शहरों में व्याख्यानों या शास्त्रार्थों के स्थान में गाली और युक्तियों के प्रमाणों के स्थान में पत्थर को पर्याप्त समझा गया। पादरियों के साथ शास्त्रार्थ कम हुए परन्तु उन के चुंगल में फंसे हुए बहुत से अज्ञान बटेर ऋषि दयानन्द ने बचाये।

पञ्जाब के दौरे की कुछेक घटनायें ऋषि दयानन्द के चरित्र का अच्छा चित्रण करती हैं। जब वह अमृतसर में उपदेश कर रहे थे, उन दिनों पादरी हूपर उन के पास आये। पादरी साहिब ने स्वामी जी को एक ही मेज पर इकट्ठे भोजन करने के लिये निमन्त्रित किया। स्वामी जी ने पूछा कि इकट्ठे भोजन करने में क्या लाभ होगा? पादरी महाशय बोले कि इकट्ठे खाने से परस्पर प्रीति बढ़ जायगी।' इस पर स्वामी जी ने कहा कि—

'शीया और सुन्नी एक ही बर्तन में खाते हैं। रूसी और अंग्रेज इसी तरह प्रोटेस्टेंट और रोमन कैथोलिक ईसाई एक ही मेज पर जीम लेते हैं परन्तु यह सब जानते हैं कि इन में परस्पर कितना वैर विरोध है। एक दूसरे के साथ कितनी शत्रुता है।'

सरदार दयालसिंह मजीठिया अमृतसर के प्रसिद्ध रईस थे। वह ब्राह्मो थे। वह प्रायः वेदों पर शंकायें किया करते थे। बातचीत करने में वह प्रायः आपे से बाहिर हो जाते, और किसी नियम का पालन नहीं करते थे। एक वार बातचीत में वह बहुत तेज होगये। स्वामी जी ने उन्हें बार २ समझाया कि आप निश्चित समय तक बोला कीजिए और प्रतिवादी को भी बोलने का मौका दीजिये, तब भी सर्दार साहिब शान्त न हुए।

तेरहवां परिच्छेद

आर्यसमाज का विस्तार

बम्बई, युक्तप्रान्त और पंजाब में आर्यसमाजों की स्थापना हो चुकी थी। आर्यसमाज के सभासद् हजारों की संख्या तक पहुंच चुके थे। जितने सभासद् थे, ऋषि दयानन्द के भक्त और अनुयायी उनसे बहुत अधिक थे। बहुत से लोग समझते थे कि "यह सुधारक कहता तो ठीक है, परन्तु यह सन्यासी है, निर्भय है, निशंक है, हम इतना त्याग नहीं कर सकते, इस कारण सच्ची बात भी मुंह पर नहीं ला सकते।" ऐसे लोग आर्यसमाजी न हों, परन्तु वह ऋषि के भक्त थे—और उसे आर्यजाति का रक्षक समझते थे।

इस समय उत्तरीय भारत में स्वामी जी की अपूर्व स्थिति थी। वह आर्य जाति (हिन्दू जाति) के नेता सुधारक और रक्षक माने जाते थे। आर्यजाति का प्राण गो जाति है। उस समय गोरक्षा के लिए ऋषि दयानन्द से बढ़ कर ऊंची आवाज उठाने वाला कोई नहीं था। ऋषि ने गोकरुणानिधि लिखकर आर्यजाति की आंखें खोलने का यत्न किया था। वह जिस किसी भी सरकारी अफसर से मिले उसके सन्मुख भारत में गोहत्या बन्द कराने पर जोर दिया। इतना ही नहीं। ऋषि के सिंहनाद से पहले ईसाई पादरी और मुसलमान मौलवी हिन्दू धर्म पर गहरी चोटें पहुंचा रहे थे। बेचारे हिन्दू पंडित मूर्तियों और पुराणों के बोझ से दबे हुए होने के कारण अपनी पीठ भी सीधी न कर सकते थे, शत्रुओं के प्रहारों का क्या उत्तर देते? पादरी और मौलवी हिन्दू क्षेत्र में से खूब फसल काट रहे थे। ऋषि दयानन्द ने जहां एक ओर आर्य जाति की पीठ पर से पत्थर और पानी का बोझ उठा कर उसकी कमर सीधी करदी, वहां दूसरी ओर पादरियों और मौलवियों के तीरों के रोकने के लिये तर्क की ढाल खड़ी करदी। न केवल इतना ही। ऋषि दयानन्द प्रतिभाशाली योद्धा था। वह जानता था कि जो आत्मा केवल गढ़ की ओट से दुश्मन के वार रोकता है, वह कभी दुश्मन को हरा नहीं सकता। दुश्मन की हिम्मत तोड़ने के लिये उल्टा आक्रमण भी चाहिये। पादरी और मौलवी पुराणों की कथाओं के हवाले दे २ कर आर्य जाति को लिज्जित कर रहे थे। पुराणों का त्याग करके मूर्तिपूजा को वेद विरुद्ध बतला कर ऋषि ने वह छिद्र बन्द कर दिये, जहां से होकर दुश्मन के गोले आर्यदुर्ग में आ रहे थे। इस प्रकार घर की रक्षा का पूरा प्रबन्ध करके उस चतुर सेनानी ने अपनी समालोचनारूपी सेना का

तिक सभी प्रकार के दोषों की मीमांसा हो जाती थी। सभी प्रकार की बुराइयों पर सुद- चक्र घूम जाता था। किसी भी जीवित शक्ति का लिहाज नहीं किया जाता था। उन की दृष्टि में दो ही वस्तुयें थीं—एक सत्य, दूसरी असत्य। सत्य का मण्डन और अ त्य का खण्डन—यह उनका धर्म था। वहां न प्रजा का लिहाज था न राजा का भय। संसार की हर प्रकार की भलाई करना उनका लक्ष्य था।

अपने निवास स्थान पर स्वामी जी साधारण वेष में रहते थे, परन्तु व्याख्यान समय सिर पर रेशमी पीताम्बर, नीचे पीली रेशमी धोती, और ऊपर ऊनी चोगा प नते थे। शरीर सुडौल और लम्बा था। चेहरा पूर्ण चन्द्र के समान भरा हुआ व तेजस्वी था। आंखों से तेज बरसता था। यह प्रभावयुक्त मूर्ति थी, जिसने थोड़े दिनों में पञ्जाब भर में धार्मिक हलचल पैदा करदी, और अनात्मक विचारों को म हिला दिया।

शुभग्नि वहां भी आर्यसमाज की स्थापना होगई। मेरठ के उत्साही आर्यपुरुषों के यत्न से यह समाज शीघ्र ही युक्तप्रान्त के समाजों में मुख्य होगया। मेरठ से स्वामी जी दिल्ली पहुंचे। यहां भी प्रचार के अनन्तर आर्यसमाज की स्थापना हुई।

दिल्ली से चल कर स्वामी जी ने छः सात महीनों तक बड़ी भाग दौड़ का दौरा लगाया। अजमेर, नसीराबाद, जयपुर, रिवाड़ी, दिल्ली, मेरठ, हरिद्वार, देहरादून आदि में प्रचार और सुधार का कार्य करते हुए आप आर्यपुरुषों को नया जीवन प्रदान करते रहे। मई (१८७८) मास में आप मुरादाबाद पहुंचे। मुरादाबाद में मुंशी इन्द्रमन आदि भक्तों के आग्रह से स्वामी जी ने देर तक निवास किया। आपके व्याख्यानों का विषय धार्मिक होता था, परन्तु आपकी दृष्टि में धर्म इतना विस्तृत था कि मनुष्य जाति से सम्बन्ध रखने वाला शायद ही कोई ऐसा विषय हो, जिस पर आप प्रकाश न डालते हों। परमात्मा और आत्मा पर गहरे विचार, मानव की समस्याएं, विवाह आदि सामाजिक प्रश्न, देश की दशा, राजा के कर्तव्य आदि सभी विषयों पर ऋषि दयानन्द अपनी सम्मति प्रकाशित किया करते थे। आपका 'धर्म' बड़ा विस्तृत था। वह केवल 'ईश्वरपूजा' तक परिमित नहीं था, और न ही डर या नीति की दृष्टि से आप उसके बीच में लकीरें डालने को तय्यार हो जाते थे। 'धर्म' एक था, व्यापक था, सर्वतोगामी था, मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार में 'धर्म' को कुछ वक्तव्य है, यह ऋषि दयानन्द का सिद्धान्त था। आपके व्याख्यान, और आपका प्रधान ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश,—यह प्रमाणित करते हैं कि 'धर्म' को आप एक मजहब, ईमान या Religion नहीं समझते थे, बल्कि एक व्यापी नियम मानते थे। यही कारण था कि ऋषि ने आर्यावर्त के प्राचीन गौरव पर बीसियों व्याख्यान दिये, अनेक प्रार्थनाओं में आर्य जाति के चक्रवर्ती राज्य की प्रार्थना की, और राजा तथा प्रजा का धर्म बताते हुए भारत के विदेशी शासन की कमियां दिखाईं। मुरादाबाद में आपके व्याख्यानों के समय अन्य लोगों के साथ स्थानीय कलेक्टर मि० स्पेडिंग भी आया करते थे। उनके कहने पर एक दिन स्वामी जी ने राजधर्म पर ही व्याख्यान दिया। ऋषि ने वेदों तथा स्मृतियों के प्रमाणों से राजनीति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए निर्भयता से राज्य के दोष दिखलाये। व्याख्यान घण्टों तक होता रहा। व्याख्यान के अन्त में कलेक्टर महाशय ने स्वामी जी का धन्यवाद किया, और कहा कि यदि राजा और प्रजा के सम्बन्धों की ऐसी ही स्थिति रहती तो जो राजविप्लव हो चुका है, वह कभी न होता।

मुरादाबाद से चल कर बदायूं होते हुए स्वामी जी बरेली पहुंचे। बरेली के रईस ला० लक्ष्मीनारायण की कोठी पर आप का आसन जमाया गया। व्याख्यान आरम्भ होगये। स्वामी जी व्याख्यान के स्थान पर ठीक समय से पूर्व ही पहुंच जाते थे, और

मुंह बाहिर को मोड़ा, और उन्हें संसार में प्रत्याक्रमण कर दिये। ऋषि ने इंजील और कुरान हाथ में लिये, और ईसाइयों और मुसलमानों को बताया कि तुम दूसरों की आंखों में तिनका ढूंढ रहे हो, पहले अपनी आंख का शहतीर तो सम्भाल लो। ईसाइयों और मुसलमानों को कोमल प्रकृति हिन्दू से कभी प्रत्याक्रमण की आशा न थी। वह स्वप्न में भी यह आशंका न करते थे कि यह शेर जागेगा। पादरी और मौलवी इस आकस्मिक प्रत्याक्रमण से झुंझला उठे। उधर आर्यजाति का हृदय फूल उठा। आर्यधर्म और आर्यसभ्यता की रक्षा भी हो सकती है, आर्यजाति के इतिहास का भी कोई रखवाला है, आर्यजाति भी अपने सिर को ऊंचा रख सकती है—इन विचारों से, आर्यपुरुषों का साहस प्रसन्नताभरी आशा से भरपूर होकर जोर से चलने लगा। जो आर्यजन ऋषि के कार्य के महत्त्व को समझ सकते थे, प्रसन्न थे कि परमात्मा ने आर्यजाति आर्यधर्म और आर्यसभ्यता का रक्षक भेज दिया है। जो लोग ऋषि दयानन्द के खण्डनों को देख कर घबराते हैं, वह कभी उस स्थिति पर विचार नहीं करते, जिस में ऋषि को काम करना पड़ा। स्थिति यह थी। आर्यधर्म पर ईसाइयों और मुसलमानों के भयंकर आक्रमण हो रहे थे। उन्हें सफलता भी प्राप्त हो रही थी। सफलता के दो कारण थे। एक तो आर्यजाति में आई हुई बुराइयों के कारण घर की निर्बलता—और दूसरा विरोधियों की निठुरता से आक्रमण। ऋषि ने स्थिति को पहिचान कर ठीक उपाय का प्रयोग किया। घर में सुधार—और आक्रमण करने वालों पर प्रत्याक्रमण—यह दो ही उपाय थे। वह स्थिति खतरे से भरी हुई थी, इस कारण धर्म के सेनापति को युद्ध के नियमों के अनुसार कठोर साधनों का प्रयोग करना पड़ा। इस में अनुचित क्या था?

ऋषि दयानन्द उत्तरीय भारत में आर्यजाति के मान्य नेता थे। वह आर्यसमाजों के संस्थापक गुरु और आचार्य थे। राजा और प्रजा की दृष्टि में वह भारत के अगुआओं में से एक थे। यह स्थिति थी, जब वह पंजाब का दौरा लगा कर १८७७ ई० के जुलाई मास में युक्त प्रान्त में वापिस गये। लगभग दो वर्ष तक आप बराबर युक्त प्रान्त में ही भ्रमण करते रहे। इस दौरे में प्रचार हुआ, नये आर्यसमाजों की स्थापना हुई, और मौलवियों तथा पादरियों से शास्त्रार्थ हुए। २६ जुलाई १८७८ ई० को ऋषि दयानन्द रुड़की पहुंचे। वहां आप के व्याख्यानों में इञ्जिनियरिंग कालेज के विद्यार्थी और प्रोफेसर लोग आया करते थे। उन लोगों के प्रश्न प्रायः विज्ञान के विषय पर होते थे। स्वामी जी ने एक दिन इसी विषय पर बातचीत की कि प्राचीन भारत में विज्ञान था या नहीं? आपने वेदों तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों के प्रमाण देकर बताया कि प्रायः सभी मुख्य २ वैज्ञानिक सिद्धान्त, जिन पर नये विज्ञान का गर्व है, हमारे साहित्य में विद्यमान हैं। रुड़की से अलीगढ़ होते हुए स्वामी जी अगस्त मास के अन्त में मेरठ पहुंचे। मेरठ में उस समय विशेष जागृति थी। १६ सितम्बर १८७८ ई० के

पर लगाते और ऐसा घोर पाप करते हुए तनिक भी लज्जित नहीं होते।" इतना कहना ही था कि साहिब कलेक्टर और साहिब कमिश्नर के चेहरे मारे गुस्से के लाल होगये, लेकिन स्वामी जी का व्याख्यान उसी जोर से जारी रहा। उस रोज ईसाई मत का व्याख्यान की समाप्ति तक खण्डन करते रहे। दूसरे रोज सुबह को ही खजाञ्ची लक्ष्मीनारायण की साहिब कमिश्नर बहादुर की कोठी पर तलबी हुई। साहिब बहादुर ने फरमाया कि अपने पण्डित साहिब को कह दो कि बहुत सख्ती से काम न लिया करें। हम ईसाई लोग तो सभ्य हैं। हम तो महज मुबाहिसा में सख्ती से नहीं घबराते, लेकिन अगर जाहिल हिन्दू और मुसलमान बिगड़ गये तो तुम्हारे स्वामी पण्डित के व्याख्यान बन्द हो जायेंगे। खजाञ्ची साहिब यह पैगाम स्वामी जी के पास पहुंचाने का वादा करके बाहिर चले आये। लेकिन स्वामी जी तक यह मजमून पहुंचाने वाला बहादुर कहां से मिलता? कई एक ड्योढी दरबान से प्रार्थना की, लेकिन कोई भी आगे बढ़ने की हिम्मत न कर सका। आखिरकार चिट्ठी एक नास्तिक पर पड़ी, और उस का जिम्मा ठहराया गया, कि वह मामला पेश कर देवे। खजाञ्ची साहिब मय उस नास्तिक और चन्द एक दीगर आदमियों के कमरे में पहुंचे। जिस पर नास्तिक ने सिर्फ यह कहकर कि 'खजाञ्ची साहिब कुछ अर्ज करना चाहते हैं, क्योंकि उन्हें कमिश्नर साहिब ने बुलाया था' किनारा किया, और कुल मुसीबत खजाञ्ची साहिब पर टूट पड़ी। अब खजाञ्ची साहिब कहीं सिर खुजलाते हैं, कहीं गला साफ करते हैं। आखिर पांच मिनट तक विस्मय से देख कर स्वामी जी ने फर्माया 'भाई तुम्हारा तो कोई काम करने का समय ही नहीं है, इस लिए तुम समय की कीमत नहीं समझ सकते मेरा समय अमोल है, जो कुछ कहना हो, कह दो।' इस पर खजाञ्ची साहिब बोले, "महाराज अगर सख्ती न की जाय तो क्या हर्ज है? इस से असर भी अच्छा पड़ता है और अंग्रेजों को नाराज करना भी अच्छा नहीं है इत्यादि' यह बात अटक अटक कर और बड़ी मुश्किल से खजाञ्ची साहिब के मुंह से निकली। इस पर महाराज हंसे और फरमाया "अरे बात क्या थी, जिस के लिए गिड़गिड़ाता है, और हमारा इतना समय खराब किया, साहिब ने कहा होगा, तुम्हारा पण्डित सख्त बोलता है, व्याख्यान बन्द हो जावेंगे, यह होगा, वह होगा। अरे भाई मैं हव्वा तो नहीं कि तुझे खाजाऊंगा। उसने तुझ से कहा, तू मुझ से सीधा कह देता। व्यर्थ इतना समय क्यों गंवाया" एक निवासी पौराणिक हिन्दू बैठा था, बोला 'देखा, यह तो कोई अवतार है, दिल की बात जान लेते हैं'

खैर, यहां तो जो कुछ हुआ सो हुआ। अब व्याख्यान का हाल काबिल जिक्र है। बाबू केशवचन्द्रसेन लाला मोहन घोष सुरेन्द्रनाथ बनर्जी एन्ना बेसेन्ट और अन्य बहुत से

निश्चत समय पर व्याख्यान शुरू कर देते थे। व्याख्यान का स्थान उनके घर से दूर था, इस कारण ला० गङ्गाराम जी गाड़ी तैयार कर लाते थे, और प्रायः वह स्वामी जी को पहुंचा आती थी। एक दिन गाड़ी के आने में देर हुई, स्वामी जी व्याख्यान मण्डप में नियत समय से पीछे पहुंचे। समय का अतिक्रमण स्वामी जी के स्वभाव में नहीं था। उन्हें विलम्ब से पहुंचने का बड़ा दुःख हुआ। व्याख्यान के प्रारम्भ में ही आपने कहा—

"मैं तो समय का पाबन्द था, परन्तु गाड़ी नहीं पहुंच सकी। पहले मैं पैदल चल कर आ सकता था कि समय न टूटे। समय के अतिक्रम में मेरा दोष नहीं है, किन्तु बच्चों के बच्चों का है। बाल विवाह की सन्तान में ऐसी निर्बलता का होना आश्चर्य नहीं है"

व्याख्यानों में सभी ऊंचे राज्याधिकारी आया करते थे। स्वामी जी बिना भय के निःसङ्कोच वैदिक धर्म का प्रचार करते थे। बरेली में एक ऐसी घटना हुई, जिस से स्वामी जी के चरित्र का भाव प्रकट विदित होता है। घटना को चरित्र लेखकों ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार भिन्न २ भाषाओं में वर्णन किया है। मैं यहां पर महात्मा मुन्शीराम जी का लिखा वर्णन उद्धृत करता हूं, जो पं० लेखराम जी के लिखे जीवन चरित की भूमिका में दिया गया है। महात्मा जी व्याख्यान में वहां स्वयं उपस्थित थे, अतः उन का लिखा वर्णन अधिक यथार्थ है।

"एक रोज व्याख्यान देते हुए श्री स्वामी जी महाराज पुराणों की असम्भव बातों का खण्डन करते करते उनकी सदाचार शिक्षा का खण्डन करने लगे। उस समय पादरी स्काट मिस्टर रेड कलेक्टर जिला और मि० एडवर्ड साहिब कमिश्नर डिवीजन पन्द्रह बीस और अंग्रेजों के साथ विद्यमान थे। स्वामी जी ने पुराणों की पञ्च कुमारियों का चर्चा करते हुए एक २ के गुण बयान करने आरम्भ किये, और पौराणिकों की बुद्धि पर शोक प्रकाशित किया, कि द्रौपदी को ५ पति करा कर उसे कुमारी करार दिया, और इसी तरह कुन्ती तारा मन्दोदरी आदि को कुमारी कहना पौराणिकों की आचार सम्बन्धिनी शिक्षा को निकम्मा सिद्ध करता है। स्वामी जी की कथा शैली ऐसी परिहास युक्त थी कि श्रोता थकने का नाम नहीं लेते थे। इस पर साहिब कलेक्टर और साहिब कमिश्नर आदि हंसते और प्रसन्नता प्रकाशित करते थे। किन्तु इस विषय को समाप्त कर के स्वामी जी महाराज बोले—

'पुराणियों की तो यह लीला है, अब किरानियों की लीला सुनो। यह ऐसे भ्रष्ट हैं कि कुमारी के पेट से बच्चा होना बतलाते, फिर दोष सबका शुद्ध स्वरूप परमात्मा

प्रगट करना, और युक्ति द्वारा उत्तर देना—यह शास्त्रार्थ के स्वर्णीय नियम ऋषि दयानन्द को मान्य थे। केवल शब्दों से ही मान्य नहीं थे—व्यवहार में भी मान्य थे।

[illegible] वर्ष छ कई मास तक संयुक्त प्रांत का भ्रमण जारी रहा। शाहजहांपुर, लखनऊ, [illegible]ाबाद, कानपुर, इलाहाबाद और मेरठ आदि नगरों में ऋषि धर्म का प्रचार करते रहे। जहां आर्यसमाज नहीं बने थे, वहां उनकी स्थापना कर देते, और जहां समाज की स्थापना हो चुकी थी, वहां उनके पुष्ट करने का उद्योग करते थे। धर्म-चर्चा का समारोह भी सभी जगह होता रहा। मेरठ से देहरादून और वहां से फिर मेरठ होते हुए स्वामी जी आगरे पहुंचे। आगरा संयुक्तप्रांत का अन्तिम नगर था, जिसमें ऋषि दयानन्द ने धर्मप्रचार करके आर्यसमाज की स्थापना की। आगरे से संयुक्तप्रांत से विदाई लेकर ऋषि राजपूताने की ओर प्रस्थित हुए।

प्रसिद्ध व्याख्याताओं के भाषण सुन चुके थे, और आज भी उनकी जनता के समय में। लेकिन मैं सच्चे दिल से कहता हूं कि जो असर मुझ पर उस रात के व्याख्यान ने किया, और जो करामात मुझे उन रात के सो' शब्दों में मालूम हुई, वह अब तक तो दिखाई नहीं दी। आगे भी ईश्वर जाने। उनका भाषण आत्मा के स्वरूप पर व्याख्यान था। इसी प्रकरण में महाराज ने सत्य के बल पर बोलना प्रारम्भ किया। पादरी स्काट को छोड़कर पहले दिन के सब अंग्रेज सज्जन विद्यमान थे। कोई आदमी नहीं हिलता था। सब चुपचाप एकाग्र होकर व्याख्यान सुन रहे थे। मुझे पूरा व्याख्यान तो याद नहीं, यद्यपि उसके असर का अब तक अनुभव करता हूं, किन्तु कुछेक शब्द मुझे मरते दम तक याद रहेंगे। ऋषि ने कहा 'लोग कहते हैं कि सत्य का प्रगट न करो। कलेक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे चक्रवर्ती राजा क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।'' इसके बाद उस उपनिषद्वाक्य को पढ़कर जिसमें लिखा है कि आत्मा को न कोई हथियार छेदन कर सकता है, और न उसे आग जला सकती है, गर्जती हुई आवाज में बोले ''यह शरीर तो अनित्य है। इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है। इसे जिस मनुष्य का जी चाहे नष्ट करे' फिर चारों ओर अपनी तीक्ष्ण आंखों की ज्योति डालकर सिंहनाद करते हुए फरमाया 'लेकिन वह सूरमा वीर पुरुष मुझे दिखलाओ, जो यह दावा करता है कि वह मेरा आत्मा का नाश कर सकता है। जब तक ऐसा वीर इस संसार में दिखाई नहीं देता, मैं यह सोचने के लिए भी तय्यार नहीं हूं कि मैं सत्य को दबाऊं या नहीं ?''

लम्बे उद्धरण के लिये पाठक क्षमा करें। यह ऋषि दयानन्द की व्याख्यानशक्ति और निर्भयता का एक अच्छा दृष्टान्त है। जिन लोगों को ऋषि के व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उन पर व्याख्यानों का बड़ा गहरा प्रभाव होता था। ऋषि की भाषण शक्ति स्वाभाविक थी, उसमें बनावट या तकल्लुफ भाषणशैली का नाम नहीं था। जो कुछ था, हृदय का शब्द था, एक निर्भय आत्मा का उद्गार था। यही कारण था कि ऋषि का भाषण सदा नया, सदा मनोरंजक और सदा शिक्षाप्रद रहता था।

ऋषि पूरी तरह निर्भय थे। उनके जीवन की घटनाएं निर्विवाद रीति से सिद्ध करती हैं कि किसी शारीरिक या मानसिक खतरे से घबराना उनके लिये असम्भव था। 'भय' यह शब्द उनके शब्द शास्त्र से निर्वासित हो गया था।

बरेली में ऋषि दयानन्द का पादरी स्काट से शास्त्रार्थ हुआ था। शास्त्रार्थ बड़ी शांति से हुआ। जनता पर उत्तम प्रभाव पड़ा। शास्त्रार्थ में आप बड़ी स्पष्टवादिता से काम लेते थे, परन्तु कभी प्रस्तुत विषय, सभ्यता की सीमा, और सत्य प्रियता का साथ नहीं छोड़ते थे। प्रतिपक्षी के पक्ष को समझना, समझकर उसे ठीक रूप में

साहसिक व्यवहार ने कुदरतन उनकी ओर सर्व साधारण का ध्यान खींचा है और उन समाचार पत्रों तथा व्यक्तियों की ओर से, जिनके दुनियावी हित या निजू सम्कार पहले से विद्यमान स्थिति के साथ बने हुए हैं, उनका विरोध किया गया है।

हमें नास्तिक अविश्वासी और धर्महीन कहा गया। हम केवल युवक और जोशीले लोगों की ही सहायता नहीं चाहते, बुद्धिमान् और सम्मानित लोगों की सहायता भी चाहते हैं। इस कारण हम आपके चरणों में इस प्रकार आते हैं, जैसे पिता के चरणों में पुत्र आता है, और कहते हैं कि हमारे गुरु महाराज! हमारी ओर देखिये, और बताइये कि हमें क्या करना चाहिये।

देखिये, कि हम आपकी सेवा में अभिमान से नहीं अपितु नम्रता से आते हैं, और हम आपकी सलाह लेने और दिखाये हुए मार्ग पर चलकर कर्तव्य पालने के लिये उद्यत हैं।

(हस्ताक्षर) हैनरी अल्काट

प्रेसीडेण्ट, थ्योसाफिकल सोसाइटी

यह पत्र थ्योसाफिकल सोसाइटी के प्रधान की ओर से था। यह सोसाइटी १८७५ई० के नवम्बर मास की १७ तारीख को अमरीका में स्थापित हुई थी। सोसाइटी की संस्थापना मैडेम ब्लैवेट्स्की और कर्नल अल्काट के उद्योग से हुई थी। मैडेम ब्लैवेट्स्की रूस में बसे एक जर्मन परिवार में उत्पन्न हुई थी। १७ वर्ष की आयु में उसका एन बी ब्लैवेट्स्की के साथ विवाह हुआ। विवाह के तीन महीने पीछे मैडम ब्लैवेट्स्की पति को छोड़ कर भाग निकली। भाग कर बरसों तक मैडेम ने सन्दिग्ध जीवन व्यतीत किया, और अपने पति के जीवित रहते ही मैट्रोविच नाम के एक पुरुष से सम्बन्ध स्थापित किया। बहुत समय तक अपना नाम बदल कर, और उसकी विवाहिता स्त्री की भांति बन कर मैडेम ब्लैवट्स्की मैट्रोविच के साथ रही। इसी सम्बन्ध से एक लड़का भी उत्पन्न हुआ, जिस के बाद में पीछे से मैडेम ने बहुत सी आध्यात्मिक कल्पनायें कर के लोगों को समझाने का यत्न किया। मैट्रोविच का साथ छोड़ने पर मैडम बहुत समय तक मिसर की राजधानी कैरो में रही। वहां पर मैडम को बहुत से जादूगरों और जोगियों से मिलने का मौका मिला, जिन से उसे चमत्कारों का रहस्य पता चला, और स्वयं भी बहुत से हस्तलाघव करने लगी। १८७३ में मैडम मिसर से अमरीका में आई, और आध्यात्मिक विद्या के विषय में लिखकर अपना निर्वाह करने लगी। मिसर में सीखा हुआ जादू यहां मैडम के बहुत काम आया। Spiritualism पर लेख लिख कर वह अपना पेट पालना कर लेती थी।

चौदहवाँ परिच्छेद

थियासोफी से सम्बन्ध।

[सन् १८७८ ई० के जनवरी मास में ऋषि दयानन्द को अमेरिका से आया हुआ निम्न लिखित पत्र मिला —

To the Most Honourable Pandit Dayanand Saraswati, India.

Venerated Teacher—A Number of American and other students who earnestly seek after spiritual Knowledge, place themselves at Your feet and pray you to enlighten them. The boldness of their conduct naturally drew upon them public attention and reprobation of all influential organs and persons whose worldly interests or private prejudices were linked with the established order.

We have been called Atheists, infidels and pagans.

We need the assistance not only of the young and enthusiastic, but also of the wise and venerated. For this reason we come to your feet as Children to a parent and say look at us, our teacher teach us what we aught to do. Give us your council, your aid.

See that we approach ye not in pride but humility, that we are prepared to receive your counsel and do our duty as it may be shown to us.

(Sd.) Henry Olcott,

President of the Tueosophical Soceity,

सेवा में परम सम्मानित पण्डित दयानन्द सरस्वती, भारतवर्ष।

सम्मानित गुरो!

आध्यात्मिक विद्या में प्रेम रखनेवाले कुछ अमेरिकन तथा अन्य विद्यार्थी, अपने को आपके चरणों में रखते हैं और प्रकाश की याचना करते हैं। उन लोगों के

१८७७ में मैडम ब्लैवट्स्की की प्रसिद्ध पुस्तक Isis unveiled प्रकाशित हुई। पुस्तक में १२०० पृष्ठ का मसाला था। उसमें प्राचीन धर्मों का समर्थन था, ईसाइयों पर बहुत आक्षेप थे, और जादू तथा चमत्कार की सम्भावना दिखाई गई थी। उस पुस्तक पर वैज्ञानिक और दार्शनिक लोगों ने अविश्वास भरी दृष्टि डाली, और ईसाई चिढ़ गये, परन्तु सर्वसाधारण को नयेपन ने बहुत खेंचा। लोगों को उस पुस्तक-लेखिका की लेख शैली अद्भुत मालूम हुई। आशा हुई कि समय और श्रम की कीमत निकल आयेगी, परन्तु दैव को कुछ और ही मंज़ूर था। Isis के छपने के कुछ समय पीछे मि० कोलमन ने Isis की आलोचना की, जिस में यह सिद्ध किया कि मैडम की पुस्तक में कुछ भी नवीनता नहीं है, सब कुछ लगभग सौ पुस्तकों से उद्धृत किया हुआ है। उन्हीं दिनों में मि० होम की Light and Shadows of Spiritualism नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई, जिस में थ्यासोफ़ी के लीडरों की पोल खोलने का यत्न किया गया। मि० कोलमैन की आलोचना और मि० होम के आक्रमणों ने थ्यासोफ़ी के नेताओं की स्थिति असम्भव बना दी। ईसाई पहले ही चिढ़े हुए थे। Isis की पोल खुल जाने से थ्यासोफ़ी के संस्थापक बड़ी विपदा में पड़े। अब तक कर्नल अलकाट और मैडम ब्लैवेट्स्की यदि कुछ थे तो Spiritualist थे—और कुछ नहीं थे। न वह हिन्दू थे, न बौद्ध थे। यदि आत्मा उन से बात करती थीं तो किस जाति की। अमेरिका में उन की स्थिति बहुत बिगड़ गई। उन के लिये उस देश में रहना असम्भव होगया। यह दशा १८७७ में हुई। मैडम ब्लैवट्स्की ने उस समय एक पत्र लिखा, जिस का निम्न लिखित उद्धरण लेखिका की मानसिक दशा को चित्रित करके बताता है कि युगल को भारत की ओर प्रेरित करने का क्या कारण हुआ, और १८७८ में ऋषि दयानन्द को कर्नल अल्काट की जो चिट्ठी मिली, उस की तह में क्या बात थी? पत्र में मैडम लिखती है—

"It is for this that I am going for ever to India, and for very shame and vexation I want to go where no one will know my name Home's malignity has ruined me for ever in Europe"*

"मैं इसी लिये भारत को जारही हूं। लज्जा और खिझलाहट से तंग आकर मैं ऐसी जगह जाना चाहती हूं जहां मेरा नाम कोई न जानता हो। होम के द्वेष ने योरप में सदा के लिये मेरा नाश कर दिया।"

इस प्रकार अमरीका और योरप में बेइज़्ज़त और बदनाम होकर थ्यासोफ़ी के संस्थापकों ने भारत के भोले निवासियों का उद्धार करने का निश्चय किया। इतनी प्रस्तावना

१ मैडम के पत्रों के उद्धरण जे० एन० फार्कुहर की Modern Religous Movements In India नाम की पुस्तक से लिये गये हैं।

१८७५ के करीब मार्च में मैडम ने माइकेल बैटेलि नाम के आर्मीनियन विवाह कर लिया था। इस विवाह के समय मैडम ने दो झूठ बोले। उसका पति जीता था, तो भी उसने अपने को विधवा प्रसिद्ध करके दूसरे पुरुष से वि लिया। वह उस समय ४३ वर्ष की थी परन्तु उसने अपने को ३६ वर्ष क था। यह विवाह भी देर तक स्थिर न रह सका। शीघ्र ही दोनों में म गया, और तलाक ने असत्यमूलक सम्बन्ध का विच्छेद कर दिया।

रूस में बदनाम होकर मैडम ने अमरीका में आश्रय लिया और आ विषयक लेख लिखकर अपना निर्वाह जारी रखा। १८७४ में मैडम का कर्नल से परिचय हुआ। कर्नल अलकाट पहले सिपाही था, परन्तु उस समय एक पत्र के संवाददाता के रूप में एक आध्यात्मिक घटना की छान लगा हुआ था। दोनों आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा से निवाह क चिटेंडन नाम के नगर में मिले, और मिल कर दोनों ने अनुभव किया एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं। दोनों ने मिलकर आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा का यत्न करने का निश्चय किया। दोनों पुस्तकें लिखते और उनकी आय से निर्वा परन्तु फिर भी अमरीका के लोग उनके दिए हुए ज्ञान को इतना मूल्यवान् नहीं थे कि उस सन्था से दोनों का गुजारा भली प्रकार हो सके। १८ जुलाई १८ मैडम का एक पत्र है जिस में वह लिखती है—

"Here, you see, is my trouble Tomorrow there will thing to eat Something quite out of the way must be in It is doubtful if Olcotts 'Miracle Club' will help I will the last"

"मेरी कठिनाई यह है। कल के खाने के लिए कुछ नहीं है। कोई बिल्कुल बनाना चाहिए। यह सन्दिग्ध है कि अल्काट का चमत्कार सभा कुछ सहायता द मैं आखीर तक लडूंगी।"

भोजन की भी दिक्कत थी। उस दिक्कत को दूर करने के लिए कर्नल अ 'मीरेकल्स क्लब' नाम से एक चमत्कार दिखानेवाली सभा बनाई थी, परन्तु कामों में सफलता हुई। कुछ पुस्तकें लिखी गईं—उनसे भी कष्ट दूर न हुआ। त ता आकर इस युगल ने थ्योसोफिकल सोसाइटी बनाने का निश्चय किया। १८ १८७५ को सोसाइटी की स्थापना हुई। कर्नल प्रधान बने और मैडम ने मन्त्री सम्भाला। खजांची का काम एक सज्जन को सौंपा गया, जिस से सो अधिकारियों का बहुत भी निस्तार दूर होगए।

थे। अन्त को, बहुत से पत्र व्यवहार के पीछे, थ्यासोफिकल युगल १८७९ के जनवरी मास में बम्बई पहुंच गया, और जिसे गुरु माना था, उसके चरणों में भेंट रखने की उत्सुकता प्रगट करने लगा।

पहले पहल यह युगल स्वामी जी से सहारनपुर में मिला। इसके पीछे कई स्थानों पर स्वामी जी के साथ यह युगल घूमता रहा। स्वामी जी के शिष्य इन अपने को आर्यसमाजी कहने वाले थ्योसोफिस्टों के व्याख्यान कराने लगे, और उनका आदर सत्कार करने लगे। लगभग एक साल तक यही प्रेमसम्बन्ध स्थापित रहा, और थ्यासोफिस्टों की भक्ति उमड़ती रही। इतना समय भारत में पांव जमाने और बहुत से शिष्य इकट्ठे करने के लिये पर्याप्त था। अंग्रेजी पढ़े लिखे भारतवासी युगल की बातों को सुनने और पसन्द करने लगे। लगभग साल तक प्रेम सम्बन्ध जारी रहा, और इस के पीछे नये रंग दिखाई देने लगे।

झगड़े के मुख्य कारण तीन हुए। भारतवर्ष में आकर थ्यासोफिस्ट युगल को ज्ञात हुआ कि जिस व्यक्ति को वह गुरु बनाकर आये हैं, वह गुरु बन कर ही रहेगा, शिष्य नहीं बन सकता। युगल समझता था कि वह प० दयानन्द को अपना वृद्धि का साधन बना सकेगा, परन्तु उसे शीघ्र ही ज्ञात हुआ कि यह भारतीय पण्डित ऐसा भोला नहीं कि हथियार बन सके।

दूसरी ओर युगल ने देखा कि भारत वर्ष में अज्ञान और श्रद्धा की मात्रा बहुत अधिक है। कोई भी आदमी आकर गुरु बनना चाहे तो बिल्कुल निराश नहीं होगा, कुछ न कुछ शिष्य उसे मिल ही जायगे। ऐसी दशा में थ्यासोफी के संस्थापकों ने यही उत्तम समझा कि अपनी दूकान जुदा ही खड़ी की जाय। आने से पूर्व वह आर्य समाजी थे, आकर शीघ्र ही उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके सिद्धान्त आर्यसमाज की अपेक्षा बौद्धों के साथ अधिक मिलते हैं।

तीसरी शिकायत इन्हीं दो शिकायतों की परिणामरूप थी। थ्यासोफी आर्यसमाज की शाखा थी। जो लोग थ्यासोफी के सभ्य थे, वह वस्तुतः आर्यसमाज के ही सभ्य समझे जा सकते थे। ऐसी दशा में यह सोचना भी असंगत था कि आर्यसमाज के सभासद् थ्यासोफी के सभासद् बनाये जाय। जो मूल संस्था का सभ्य है, उस शाखा का सभ्य बनने की क्या आवश्यकता है? परन्तु कर्नल अल्काट तथा मैडम ब्लैवेट्स्की ने आर्यसमाज के सभासदों को अपने सभासद बनाना प्रारम्भ किया। इस व्यवहार को स्वामीजी ने अनुचित समझा।

[illegible] पठक [illegible] थियोसोफिकल [illegible] स्वामी दयानन्द [illegible] । ऐसे [illegible] पर [illegible] स्वामी [illegible] को [illegible] नियुक्त [illegible] सहयोग [illegible] था कि [illegible] शक्तिशाली व्यक्ति का [illegible] किया जाए। [illegible] हरिश्चन्द्र चिन्तामणि [illegible] [illegible] का [illegible] परिचय [illegible] उसी [illegible] थियोसोफी के प्रेसीडेन्ट ने ऋषि दयानन्द को [illegible] ।

इस परिच्छेद के प्रारम्भ में जो पत्र दिया गया है, उसके पीछे थियोसोफी की [illegible] से हरिश्चन्द्र चिन्तामणि द्वारा स्वामी जी के पास [illegible] पत्र [illegible] १६ । २१ मई १८७८ के पत्र में कर्नल [illegible] लिखते हैं —

"अब मैं यह [illegible] देता हूँ कि हमारी सोसाइटी प० दयानन्द सरस्वती की [illegible] [illegible] में आर्यसमाज की शाखा [illegible] दी जाय, तब मैं उस बुद्धिमान और पवित्र मनुष्य को शिक्षक और मार्गदर्शक [illegible] अनुभव करता हूँ।'
२२ मई सन् १८७८ के पत्र में थियोसोफिकल सोसाइटी के [illegible] सेक्रेटरी [illegible] लिखते हैं —

"आर्यसमाज के मुखिया, के नाम

आपको आदरपूर्वक सूचना दी जाती है कि २२ मई १८७८ को न्यूयार्क में थियोसोफिकल सोसाइटी की कौंसिल का जो अधिवेशन प्रेजीडेण्ट की अध्यक्षता में हुआ था, उसमें वाइस प्रेसीडेण्ट [illegible] के प्रस्ताव और [illegible] एच पी ब्लैवेट्स्की के अनुमोदन पर सर्वसम्मति से यह निश्चय किया गया कि सोसाइटी मिल जाने के प्रस्ताव को स्वीकार करती है और यह भी स्वीकार करती है कि इस सोसाइटी का नाम 'दि थियोसोफिकल सोसाइटी आफ दि आर्यसमाज आफ इण्डिया' रख दिया जाय।

निश्चय हुआ कि थियोसोफिकल सोसाइटी अपनी और योरप तथा अमरीका में [illegible] अपनी शाखाओं के लिए आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती को नियमानुसार पथदर्शक या मुखिया स्वीकार करे।'

इस प्रकार थियोसोफिकल सोसाइटी ने आर्यसमाज से उस समय सम्बन्ध स्थापित किया, जिस समय अमरीका के निवासी सोसाइटी के संचालकों को यह पता नहीं था कि 'ऊँट किस करवट बैठेगा'। [illegible] और [illegible] थे। ऊपर दिए हुए पत्रों से स्पष्ट होता है कि उस समय सोसाइटी के नेता स्वामी जी को गुरु मानने में अपना सौभाग्य समझते थे, और सब तरह से आर्यसमाज की सत्ता में आने को तैयार

दूसरी घटना लाहौर में हुई। १८८३ के अप्रैल मास में थ्यासोफी के महात्मा का एक चेला लाहौर में पहुंचा। मैडम ब्लैवट्स्की के शिष्य ने बड़े जोर से उसका ढोल बजाया और यह घोषणा कर दी कि यह चेला चमत्कार दिखायेगा। वह अपनी उंगली आगे करेगा, पहले तो उंगली को कोई काट ही न सकेगा, यदि काट भी सके तो वह झटपट जुड़ जायगी। भरी सभा में चमत्कार की घोषणा दी गई। पहले तो किसी हिन्दू का हृदय ऐसे कठोर कार्य के लिये तय्यार न हुआ, परन्तु जब बहुत देर होगई, और लोगों के दयाभाव का अभिप्राय यह निकाला जाने लगा कि चेले की शक्ति से किसी का हाथ नहीं उठता, तब एक सिख ने हिम्मत कर के उंगली काट दी। बेचारा चेला चक्कर में आगया। उंगली का जुड़ना तो क्या था, बेचारा कई दिनों तक दुःख भोगता, और महात्माओं के नाम का जाप करता रहा।

ऐसी घटनाओं को सुन कर आर्यसमाज का संस्थापक ऋषि कैसे चुप रह सकता था। वह दम्भ और धोखे का शत्रु था, वह धर्म में मुलम्मासाजी करने पर विश्वास नहीं रखता था। इधर स्वामी जी को थ्यासोफी के संस्थापकों के असत्य व्यवहार पर घृणा होने लगी, उधर मूर्ख जनता को जाल में फंसाने का खुला अवसर देखकर युगल भी स्वामी जी की शिष्यता से इन्कार करने का उपाय सोचने लगा।

कुछ दिनों तक पत्र व्यवहार जारी रहा। मैडम ब्लैवेट्स्की और कर्नल अल्काट का यत्न यह रहा कि किसी प्रकार आर्यसमाज के सभासदों को थ्यासोफी के चुंगल में फंसाया जाय। एक ओर थ्यासोफी की ओर से यता ईश्वर से इन्कार, दूसरी ओर चमत्कारों का दम्भ ऋषि ने आवश्यक समझा कि आर्यपुरुषों को सचेत कर दिया जाय।

असौज बदी चतुर्दशी सम्वत् १९३७ को मेरठ के आर्यसमाज का दूसरा वार्षिकोत्सव था। इस उत्सव के अवसर पर श्री स्वामी जी के दो व्याख्यान हुए। इन व्याख्यानों में आप ने उन कारणों पर प्रकाश डाला, जिनसे आर्यसमाज थ्यासोफी से जुदा होने पर बाधित हुआ, और यह भी घोषणा दी कि किसी आर्यसमाजी को थ्यासोफी का सभ्य न बनना चाहिए। दोनों में कई मौलिक भेद उत्पन्न होगए थे। (१) थ्यासोफिस्ट सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं मानते थे। (२) वह अपने को बौद्ध कहते थे (३) वह हिमालयवर्ती किन्हीं कल्पित महात्माओं के होने, और उनके गुप्त सन्देशों पर विश्वास रखते थे (४) वह सिद्धियों के नाम पर चमत्कारों को मानते और उनका दावा भी करते थे [५] थ्यासोफी में ईसाई मुसलमान बौद्ध हिन्दू सब अपने एक दूसरे के विरुद्ध सिद्धान्तों को मानते हुए भी प्रविष्ट हो सकते थे। इस प्रकार थ्यासोफी आर्य समाज से कोसों दूर चली गई थी। ऋषिदयानन्द की ओर से यह घोषणा आवश्यक होगई थी, अन्यथा आर्यसमाज के नाश का भारी भय था। थ्यासोफी में कई ईसाई भी शा-

पर लोग जाते तक न थीं। वह थ्यासोफ़ी के लीडर, जिन्हें अपने सिद्धान्त आर्यसमाज के ऐन अनुकूल प्रतीत होते थे, शीघ्र ही संसार के कर्ता ईश्वर से इन्कार कर बौद्धों में नाम लिखाने लगे। थ्यासोफ़ी में मेडम ब्लैवेट्स्की के अन्दर कर्नल किंग जार्ज का आत्मा प्रवेश करता थी, परन्तु भारत में आते ही हिमालय निवासी महात्मा, और उन के प्रतिनिधि महात्मा कूट्हूमी से मेडम का परिचय होगया, और हिमालय से सीधे सन्देश पहुंचने लगे।

सब से बड़ा कारण, जिस से मतभेद पैदा होगया, यह था कि थ्यासोफ़ी के सम्यपक चमत्कारों को अपने धर्म का आवश्यक सिद्धान्त मानने और उद्घोषित करने लगे। चमत्कारों को वह योगसिद्धि के नाम से पुकारते थे, परन्तु योग के बिना ही योगसिद्धि का दावा करते थे। सिद्धियां भी विचित्र थीं। किसी की गुम हुई वस्तु का पता दे दिया, किसी के दिल की बात बूझने की अटकल लगा दी। ऐसे चमत्कार थे, जिन्हें दिखा कर थ्यासोफ़ी लोगों के हृदयों में योग के प्रति श्रद्धा का संचार करना चाहती थी। थ्यासोफ़ी के उस समय के चमत्कारों के दो दृष्टान्त नीचे दिये जाते हैं, उन पर दृष्टि डालने से स्पष्ट होजायगा कि आर्यसमाज के संस्थापक के विचार थ्यासोफ़ी के विचारों से क्यों नहीं मिल सकते थे?

मेडम ब्लैवेट्स्की शिमले में थीं। प्रसिद्ध मि० ए० ओ० ह्यूम के घर पर कुछ लोगों को निमन्त्रण था। निमन्त्रण में मेडम ब्लैवेट्स्की भी शामिल थीं। भोजन के पीछे यह बात उठी कि मेडम अपना कोई आध्यात्मिक चमत्कार दिखावे। मेडम तय्यार होगई। घर वालों से उन्हों ने पूछा कि 'क्या आप लोगों की कोई वस्तु गुम हुई है' उत्तर से पता चला कि कुछ रोज़ हुए, मि० ह्यूम के घर से एक आभूषण गुम हुआ था। मेडम ने कुछ देर तक ध्यान कर के बाग का वह स्थान बता दिया, जहां गुम हुई वस्तु गड़ी थी। वस्तु मिल गई, और चमत्कार की धूम दिग्दिगन्तर में फैलगई।

कुछ दिन पीछे इंगलिशमैन, बाम्बेगज़ट, टाइम्स आफ़ इण्डिया, और सिविल मिलटरी गज़ट में चिट्ठियां प्रकाशित हुई, जिन से रहस्य का उद्भेद होगया। एक अंग्रेज़ नौजवान शिमले से बम्बई गया, और वहां वह मेडम से मिला, शिमले में वह मि० ह्यूम के यहां बहुत आया जाया करता था। बम्बई के मि० हाफ़ज़ी सौराबजी ने गवाही दी कि जैसा गहना चमत्कार से मिला है, ठीक वैसे ही गहने की मेडम ब्लैवेट्स्की ने उन से मरम्मत कराई थी। रहस्य को खोल कर ऐतिहासिक घटना बना देना कुछ कठिन नहीं है। वह गहना मि० ह्यूम के घर से उठाया गया। बम्बई में उस की मरम्मत करवा कर मेडम अपने साथ शिमले लेगई और चमत्कार दिखा कर थ्यासोफ़ी की सत्यता सिद्ध कर दी।

हमारे नियमों में आर्यसमाज से इतनी प्रतिकूलता है कि हम प्रत्येक सभ्य के धर्म की प्रतिष्ठा करते हैं । प्रत्येक मतावलम्बी को चाहे वह आर्यसमाजी हो, ईसाई हो अथवा मूर्तिपूजक हो, हम सभा में मिला लेते हैं ।

इसी हेतु से मैंने आपको और दो एक अन्य सज्जनों को सभा में भरती होने की सम्मति दी थी।

रही यह बात कि आर्य सामाजिक हम में मिलें या न मिलें, इसकी हमें परवाह नहीं है । इसमें उन्हीं की और कदाचित् समाजों की हानि है ।

पुलिस के सबसे बड़े अधिकारी हडरसन महाशय सभा में सम्मिलित हुए हैं। इससे हमारा अभीष्ट सर्वथा सिद्ध होगया। हमारी सभा में सम्मिलित होते उन्होंने कहा कि मैं इसमें इसलिये मिलता हूं कि इससे बड़े २ लाभ पहुंचे हैं । आप और अल्काट ने १८ मास में वह बात प्राप्त करली है जो हम अंग्रेज बहुत वर्षों में भी नहीं कर पाये । उन्होंने यह भी कहा कि हिन्दुस्तानियों और अंग्रेजों के बीच जो खाड़े है, उसे आप भर रहे हैं । आपके कारण हम उनकी अधिक प्रतिष्ठा करने लगे हैं और वे हमसे घृणा छोड़ रहे हैं । वे हमारे काम की प्रतिष्ठा करते और उसे श्रेष्ठ समझते हैं। मुझे आशा है कि जैसे उनके विचार हैं, वे वैसा ही कर दिखायेंगे । परन्तु जब स्वामी जी का प्रसंग चला तो उन्होंने भी यह कहा कि थ्यासोफी के समान स्वामी जी की सम्मति नहीं है । उनके विचार अनिपेक्ष और उदार नहीं दीखते । आर्यसमाज ईश्वर को हर्ता कर्ता मानने वालों का एक जत्था है । ऐसी दशा में हम उनको भाइयों के सदृश क्यों मानें इत्यादि"

स्वामीजी ने इस पत्र का विस्तृत उत्तर भेजा । उस उत्तर के भी कुछ भाग यहां उद्धृत किये जाते हैं—

"

प्रथम आप लोगों ने जैसा लिखा था, जैसा समागम में प्रथम विदित किया था, उसके अनुसार अब आपका वर्ताव नहीं है ।

वे पत्र छाप कर दिए गये हैं जिनमें आपने लिखा था कि हम संस्कृत अध्ययन करेंगे, और अपनी सभा को समाज की शाखा बना देंगे, जो पत्र मैंने आप के पास भेजे थे उनकी नकल भी मेरे पास है । देखिये, थोड़े दिन हुए जब आप ने मेरठ में आर्य समाज और थियासोफी सभा के विषय में बातचीत हुई थी, उस समय मैंने सबके

मिला करते थे। इनमें से अनेक आर्यसमाजी भी थे। थियोसोफी के संचालक चाहते थे कि आर्यसमाजियों को सहानुभूति का प्रदर्शन देकर आर्यसमाज को फुसलाया जाय। परन्तु यह कोशिश भी निष्फल साबित हुआ।

मेरठ में ऋषि दयानन्द की जो पूर्ण घोषणा से कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवेट्स्की के कल्पित कार्यक्रम पर भारी प्रहार पहुंचा। वह दिल में सोचे बैठे थे कि अब आगे ही सारे आर्यसमाजी हमारे काबू में आजायेंगे, और थियोसोफी, जो प्रारम्भ में आर्यसमाज की शाखा रही थी, उसे खा जायगी। ऋषि के व्याख्यान ने इस मंसूबे को तोड़ दिया। उस समय मैडम ब्लैवेट्स्की शिमले पर था। वहां उन्हें स्वामी जी की घोषणा का समाचार मिला। वह बहुत छटपटाई और मेरठ के बाबू छेदीलाल जी के नाम उन्होंने एक चिट्ठी भेजी। चिट्ठी बहुत लम्बी है, इस कारण उसके कुछ आवश्यक उद्धरण ही यहां दिये जाते हैं। चिट्ठी अंग्रेजी में थी, यहां उसका अनुवाद किया गया है।

“ मेरठ आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव अभी मनाया गया है। उसमें अन्यान्य आर्यसमाजों के सभासद् सम्मिलित थे। उस समय में स्वामी जी ने अपने व्याख्यान में सबके सामने ये निन्दित वचन कहे कि ‘जब किसी अन्य सभा समाज के सभ्य आर्य समाजियों को अपनी सभा में भरती होने के लिए प्रेरणा करें तो उन्हें यह उत्तर देना चाहिये कि यदि आपकी सभा के नियम और उद्देश्य आर्यसमाज से मिलते हैं तो उसमें सम्मिलित होने से कोई लाभ नहीं है। यदि वे कहें कि हमारे नियम आर्य समाज के नियमों से भिन्न हैं तो आर्यसमाजियों को उत्तर देना चाहिए कि आर्यसमाज के नियम अखण्डित हैं। जिस सभा के नियम खण्डित हैं, उसमें मिल जाने की हमें आवश्यकता नहीं है।

यथार्थ में रोष का [illegible] पोप इससे अधिक और क्या कह सकता है। स्वामी जी गर्वित ब्राह्मणों के दावों के विरोधी हैं। उनके कहने का यह तात्पर्य कदापि न होगा।

उन्होंने यह भी कहा था कि “अन्यदेशियों के समाज में वैसा मित्र भाव और स्नेह नहीं हो सकता, जैसा कि एक ही मत और देश के आर्य सभासदों में है’।

हमने आपके किसी भी आर्यसमाजी को अपनी सभा में मिलाने का यत्न नहीं किया। हां मुम्बई, लाहौर और दूसरे नगरों के आर्यसमाजी हमारी सभा के सभासद् हैं। परन्तु उनको सम्मिलित होने के लिये हमने कभी नहीं कहा।

सकता। यदि यह कहो की हमारा धर्म किसी से विरुद्ध नहीं है तो उस में कोई काहे को मिलेगा?

आप ईश्वर को हर्ता कर्ता नहीं मानतीं यह इसी १८३७ के भाद्रपद मास की बात है। इस विषय में आपने पहले कुछ भी नहीं कहा। हां, प्रमोददास मित्र और डा० लाजरस ने मुझ से काशी में इसकी चर्चा की थी। प्रमोददास को मैंने कहा कि आप वेद का आशय नहीं समझे होंगे। मैंने दामोदरद्वारा आप से पुछवाया तो उसने कहा कि वे ईश्वर को मानती हैं। क्या उक्त वार्ता असत्य है!

मैं और सभी आर्य-सज्जन सदा से यही मानते आये हैं कि सामान्यतया आर्यावर्त इंग्लैंड, और अमरीका आदि सकल भूमण्डल के मनुष्य भाई हैं, परस्पर मित्र हैं और समान हैं। पर मानते हैं धार्मिक व्यवहारों के साथ, न कि असत्य और अधर्म के साथ।

यहां अंग्रेज आर्यों को चाहे जैसा माने। कोई राज्याधिकारी हो अथवा व्यवहारिक हो। मुझ को भी चाहे अपनी समझ के अनुकूल यथेष्ट मानें। परन्तु मैं तो सब मनुष्यों के साथ सुहृद्भाव से वर्तता हूं और और वर्तता आया हूं। इन लोगों का यह कहना कि हम इसका कोई दृढ़ हेतु नहीं देखते कि स्वामी जी के अनन्तर अन्य आर्यसमाजियों से भी वैसा ही वर्तें, तब तक है जब तक वे आर्यावर्तीय आर्यों का पूर्व इतिहास आचार नीति विद्या पुरुषार्थ आदि उत्तम गुणों को नहीं जानते, वेदादि शास्त्रों के सच्चे अर्थ को नहीं समझते। जब उन को ऊपर की बातों का ज्ञान हो जायगा, तो उनका भ्रम अवश्य दूर होजायगा।

आप को स्मरण होगा कि काशी की चिट्ठी के उत्तर में आपने मुझे लिखा था कि यदि आप भी वेदों को छोड़ दें तो भी हम नहीं छोड़ेंगे। आपकी यह बात धन्यवाद और प्रशंसा के योग्य है। यदि सभी योरोपियन इस उत्तम बात में सहमत होजाय तो कैसा आनन्द हो। और यदि वे लोग इस सिद्धान्त को न भी मानें तो हम आर्यों और आर्यसमाजों की कोई हानि नहीं हो सकती। हम तो सृष्टि के आदि से वेदों को मानते चले आये हैं। क्या हुआ जो थोड़े समय से, अज्ञानवश, कुछ आर्य लोग वेद-विरुद्ध चलने लग गए हैं।

इस अवस्था में जिसका जी चाहे आर्य समाज में मिले। उनके न मिलने से हमारी कुछ हानि भी नहीं हो सकती। हां, उनकी हानि अवश्य है। हम तो सब की उन्नति में अपनी उन्नति करना इष्ट मानते हैं। हमारी कामना भी यही है"

सामने क्या आपसे नहीं कहा था, कि समाज के विषयों से सभा के नियमों में कुछ भी विशेषता नहीं है। यह बात मैंने बम्बई में भी पत्र द्वारा सूचित की थी। वसे ही मैं अब भी मानता हूं और कहता हूं कि आर्य समाजस्थों को धर्मादिक विषयों के लिये सभा में मिलना उचित नहीं है।

अब विचारणीय विषय यह है कि ऐसी दशा में थियासफी वालों को आर्यसमाज में मिलना चाहिये अथवा आयसमाजियों को उस सभा में। देखिये, मैंने अथवा किसी आर्य समासद् ने आजतक किसी भी थियासोफिस्ट को आर्यसमाज का सभासद् बनाने का यत्न नहीं किया। आप अपने आत्मा में विचारिये कि आपने क्या किया, और क्या कर रहे हैं? आपने कितने ही आयसमाजियों को अपनी सभा में भर्ती होने के लिये प्रेरणा की। कई सज्जनों से सभासद् बनने का दश रुपये चन्दा भी लिया।

अन्यदेशियों के समाज में मित्रता और स्नेह वैसा कभी नहीं हो सकता, जैसा कि स्वदेशियों के समाज में होता है यह बात मैंने उस समय कही था, अब कहता हूं, और आगे भी कहूंगा। परन्तु ऊपर की बात मैंने जिस प्रसंग पर कही थी वह यह है कि 'प्रसिद्ध बहिरगमन्तरगे'' अर्थात् जिनका देश एक है, भाषा एक है, जन्म और सहवास एक है, जिनके विवाहादि सम्बन्ध परस्पर होते हैं, उनसे परस्पर जितना लाभ होता है, उनकी जितनी परस्पर प्रीति होती है, उतना लाभ और उन्नति भिन्न देशवासियों की भिन्न देशवासियों से नहीं हो सकती। देखिये केवल भाषा का ही भेद होने पर मुझको और यूरोपीय महाशयों को परस्पर उपकार करने में कितनी कठिनता होती है।

आप जो लिखती हो कि 'आपके बिना बम्बई लाहौर और दूसरे नगरों के आर्य सामाजिक हमारी सभा में सम्मिलित हैं। परन्तु हमने उनको भरती होने के लिए कभी नहीं कहा' यह सत्य नहीं है। आपने बम्बई में श्री सेवकलाल जी आदि को, और प्रयाग में पण्डित सुन्दरलाल जी आदि सभ्यों को सभा में सम्मिलित होने के लिए अवश्य प्रेरित किया। इसका साक्षी मैं ही हूं। मैं जब तक न सुनता, तो इसका पता मुझे कैसे हो सकता था। जैसे मेरा नाम सभा के सभासदों में लिखती हो, वैसा अन्यत्र भी आपने किया होगा। यह बात निःसन्देह है।

इससे मैं आप से पूछता हूं कि आप का धर्म क्या है? यदि आप कहें कि हमारा धर्म अमुक धर्म से विरुद्ध है तो विरुद्धधर्मवाला मनुष्य आप की सभा में नहीं मिल

सकता। यदि यह कहो की हमारा धर्म किसी से विरुद्ध नहीं है तो उस में कोई काटे को मिलेगा?

आप ईश्वर को हता कर्ता नहीं मानती यह इसी १८३७ के भाद्रपद मास की बात है। इस विषय में आपने पहले कुछ भी नहीं कहा। हां, प्रमोददास मित्र और डा० लाजरस ने मुझ से काशी में इसकी चर्चा की थी। प्रमोददास को मैंने कहा कि आप मैडम का आशय नहीं समझे होंगे। मैंने दामोदरद्वारा आप से पुछवाया तो उसने कहा कि वे ईश्वर को मानती हैं।। क्या उक्त वार्ता असत्य है?

मैं और सभी आर्य-सज्जन सदा से यही मानते आये हैं कि सामान्यतया आर्यावर्त इंग्लैण्ड, और अमरीका आदि सकल भूमण्डल के मनुष्य भाई हैं, परस्पर मित्र हैं और समान हैं। पर मानते हैं धार्मिक व्यवहारों के साथ, न कि असत्य और अधर्म के साथ।

यहां अंग्रेज आर्यों को चाहे जैसा मानें। कोई राज्याधिकारी हो अथवा व्यापारिक हो। मुझ को भी चाहे अपनी समझ के अनुकूल यथेष्ट मानें। परन्तु मैं तो सब मनुष्यों के साथ शुद्धभाव से वर्तता हूं और और वर्तता आया हूं। इन लोगों का यह कहना कि हम इसका कोई दृढ़ हेतु नहीं देखते कि स्वामी जी के अनन्तर अन्य आर्यसमाजियों से भी वैसा ही वर्तें, तब तक है जब तक वे आर्यावर्तीय आर्यों के पूर्व इतिहास आचार नीति विद्या पुरुषार्थ आदि उत्तम गुणों को नहीं जानते, वेदादि शास्त्रों के सच्चे अर्थ को नहीं समझते। जब उन को ऊपर की बातों का ज्ञान हो जायगा, तो उनका भ्रम अवश्य दूर होजायगा।

आप को स्मरण होगा कि काशी की चिट्ठी के उत्तर में आपने मुझे लिखा था कि यदि आप भी वेदों को छोड़ दें तो भी हम नहीं छोड़ेंगे। आपकी यह बात धन्यवाद और प्रशंसा के योग्य है। यदि सभी योरोपियन इस उत्तम बात में सहमत होजांय तो कैसा आनन्द हो। और यदि वे लोग इस सिद्धान्त को न भी मानें तो हम आर्यों और आर्यसमाजों की कोई हानि नहीं हो सकती। हम तो सृष्टि के आदि से वेदों को मानते चले आये हैं। क्या हुआ जो थोड़े समय से, महानाश, कुछ आर्य लोग वेद-विरुद्ध चलने लग गए हैं।

इस अवस्था में जिसका जी चाहे आर्य समाज में मिले। उनके न मिलने से हमारी कुछ हानि भी नहीं हो सकती। हां, उनकी हानि अवश्य है। हम तो सब की उन्नति में अपनी उन्नति करना इष्ट मानते हैं। हमारी आज्ञा भी यही है।

इस पत्र व्यवहार से दो बातें स्पष्ट हो जाती है। थ्योसोफी ने प्रारम्भ में भारत के भोले हिन्दू और बुद्धिमान आर्यों का सहारा पकड़ लिया था पर उसके दिन फिर चुके थे। वह लोग, जो स्वामी दयानन्द स्वामी जी के चरणों में बैठ कर योग का अभ्यास करने आये थे, स्वयं गुरु और योगी बन बैठे थे, जो सोसाइटी आर्यसमाज की शाखा बनने में अपना सौभाग्य समझती थी। वह आर्यसमाजियों को अपने में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दे रही थी। वह शिष्य और शिष्यगण, गुरु और गुरुजन में परिणत हो गये थे। कल के वेदानुयायी विद्यार्थी, आज सर्वज्ञाता आचार्य बन रहे थे।

मेरठ के व्याख्यान और ऊपर उद्धृत किये पत्रों ने आर्यसमाज और थ्योसोफी का सम्बन्ध तोड़ दिया। १८८२ ई० के मई मास के आर्य समाज के सामयिक पत्रों में हम यह घोषणा पाते हैं कि 'आर्यसमाज और थ्योसोफी का सम्बन्ध टूट गया है'

आर्यसमाज से टूट कर थ्योसोफी कहा गई, और किधर चली, इसे यहां दिखाना अभीष्ट नहीं है। केवल यह दर्शाने के लिए कि थ्योसोफी के स्वरूपरिवर्तनों की तह में कौन सा कारण था, हम उस पत्रकी कुछ पंक्तियां उद्धृत करते हैं, जो १९२२ में थ्योसोफी से त्यागपत्र देते हुए, सोसायटी के पुराने सेवक मि० बी० पी०वाडिया ने लिखी थी। आपने लिखा था—

It (the Theosophical society) is no more a society of seekers of the wisdon but an organisation where many believe in the few and blind following has come to prevail, where schems pass for realities and the credulity of superstition gains encouragement and where the noble ideals of Theosophical Ethics are exploited and dragged in the mire of Psychism and immorality

Time, energy and money spent in the T S have brought the further knowledge that the existing conditions in the T S are so deep rooted and so wide spread that the disease is incurable etc

थ्योसाफिकल सोसाइटी सचाई के पहिचानने का यत्न करने वालों की एक संस्था नहीं रही, यह एक ऐसी संस्था बन गई है जहां थोड़े व्यक्तियों पर अधिक व्यक्तियों का विश्वास है, जहां अन्धपरम्परा का राज्य है, और जहां थ्योसाफिकल आचार शास्त्र के उत्तम आदर्श भूतवाद और अनाचार के कीचड़ में घसीटे जाते हैं।

थ्योसाफिकल सोसाइटी पर जितना समय शक्ति और धन व्यय किया जाता है, उन्होंने

यह साबित कर दिया है कि सोसाइटी की बुराइयां इतनी गहराई तक पहुंची है, और इतनी विस्तृत हैं कि उनका इलाज करना कठिन है' इत्यादि

मि० वाडिया सोसाइटी के स्तम्भों में से एक थे। उन्होंने सोसाइटी के बारे मे अन्तिम सम्मति दी है, वह सिद्ध करती है कि आर्यसमाज से सोसाइटी का सम्ब तोडने मे ऋषि दयानन्द ने कोई भूल नहीं की। प्रारम्भिक दशा की ही कमजोरिया जो पीछे से ऐसा भयकर रूप धारण करके मि० वाडिया जैसे भक्तो के डरने कारण बनी।

पन्द्रहवां परिच्छेद

राजपूताने में कार्य

राजपूताने से स्वामी जी को बराबर निमन्त्रण आरहे थे। चिरकाल से उनका विचार था कि राजपूताने के राजाओं का सुधार किया जाय। कई अवसरों पर ऋषि ने यह विचार प्रगट किया था कि भारत का भला तभी होगा, जब रजवाड़े का उद्धार होगा। यदि राजा लोग सुधर जाय, तो प्रजा के सुधरने में क्या विलम्ब हो सकता है? यह विश्वास ऋषि के हृदय में घर कर गया था। यही कारण था कि थोड़ी देर के लिये अपने विस्तृत कार्यक्षेत्र संयुक्त प्रान्त और पञ्जाब की ओर पीठ करके ऋषि राजपूताने की ओर रवाना हुए।

५ मई १८८१ के दिन ऋषि दयानन्द राजपूताने के हृदयस्थानीय अजमेर शहर में पहुंचे, और धर्म का प्रचार आरम्भ किया। लगभग डेढ मास तक ऋषि का सिंह-नाद अजमेर निवासियों के हृदयों को धर्म के मन्दिर में निमन्त्रण देता रहा। जून के अन्त में ऋषि ने अजमेर से मसूदा रयासत की ओर प्रस्थान किया। मसूदा नरेश ने स्वामी जी का बड़ी भक्ति से स्वागत किया। धर्मप्रचार का अटूट क्रम जारी रहा। इस रयासत में बहुत से हिन्दू ऐसे थे, जो मुसलमानों के राज्य समय में मुसलमान हुए राजपूतों को लड़कियां देने में कुछ भी सङ्कोच नहीं करते थे। स्वामी जी ने उन लोगों को समझायाकि जिनका धर्म भिन्न है,उन्हें कन्या देकर अपनी कन्याओंको धर्मच्युत करना कभी न्याय नहीं है।

मसूदा से ऋषि दयानन्द रायपुर रयासत में पहुंचे। रायपुर के ठाकुर ने बड़ा सत्कार किया और धर्मप्रचार का प्रबन्ध कर दिया। यहां के मन्त्री शेख इलाही बख्श नाम के एक मुसल्मान थे, इस कारण रयासत में मुसलमानों का काफी जोर था। यहां पर काजी जी से खूब बहस रही, जिसका परिणाम अच्छा हुआ। रायपुर से आसन उठाकर स्वामी जी ब्यावर और बनेड़ा होते हुए २६ अक्तूबर १८८१ को आर्य-जाति के केन्द्र, राजपूताने के शिरोमणि, चित्तौडगढ में विराजमान हुए।

चित्तौडगढ में उस समय बड़ी धूमधाम थी। लार्ड रिपन ने चित्तौड में एक बड़ा दरबार बुलाया था। राजा महाराजा इकट्ठे हुए थे, और सत्सङ्ग का बड़ा सुन्दर अवसर

था। स्वामी जी का आतिथ्य उदयपुर रियासत की ओर से था, रियासत के राजकवि श्यामलदास जी स्वामी जी के भक्त थे, उन्होंने ठहरने का तथा विश्राम का पूरा प्रबन्ध कर रखा था। इन राजपूतों के संग में स्वामी जी को प्रताप और दुर्गादास की सन्तान की दशा देखने का अवसर मिला। कहां वह स्वाधीन शेर—कहां यह शत्रु और इन्द्रियों के बँधुए। ऋषि ने राजपूताने की दशा को रोते हुए हृदय से देखा। जो लोग वीरता के आदर्श, मानके पुजारी, और स्वाधीनता के पुतले थे, वह ऋषि दयानन्द को विलास के दास, अफीम के पुजारी और अंग्रेजी सरकार के बँधुए दिखाई दिये। ऋषि के शिष्य स्वामी आत्मानन्द जी ने एक घटना बताई है। अपने शिष्यों के साथ ऋषि एक दिन चित्तौड़गढ़ का किला देखने गये। जिन ऋषि दयानन्द की आखों में पिता माता और बहिनों का वियोग तरी न ला सका, चित्तौड़गढ़ की दशा देख कर उन की आखों से झर झर आंसू बहने लगे। ऋषि ने एक ठंडी सांस लेकर निम्न लिखित आशयके वाक्य कहे। "ब्रह्मचर्य का नाश होने से भारतवर्ष का नाश हुआ है, और ब्रह्मचर्य का उद्धार करने से ही फिर देश का उद्धार हो सकेगा। आत्मानन्द ! हम चित्तौड़गढ़ में गुरुकुल बनाना चाहते हैं।"

स्वामी जी के व्याख्यानों में कई राजा नियमपूर्वक आया करते थे। शाहपुरा रियासत के नाहरसिंह जी स्वामी जी के भक्तों में से थे। वह सत्संग में प्रायः रोज आते थे। महाराणा सज्जनसिंह अब तक स्वामी जीके दर्शनों को नहीं आये थे। एक दिन उपदेश में एक भव्यमूर्ति राजपूत पधारे। सब राजपूतों ने उन्हें बड़ा आदर दिया। व्याख्यान के अन्त में ऋषि ने शाहपुराधीश से कहा कि 'आपका (अभ्यागत महोदय का) पहले तो कभी साक्षात्कार नहीं हुआ दीखता। आप की शोभा वर्णन कीजिए' शाहपुराधीश ने उत्तर दिया कि "आप महाराणा श्री सज्जनसिंह जी हैं' इस प्रकार इन दो महान् व्यक्तियों का परिचय हुआ। महाराणा सज्जनसिंह यों तो अन्य राजपूत राजाओं की भांती ही पराधीन थे, परन्तु पराधीनता में भी उनके अन्दर एक विशेष महानुभावता पायी जाती थी। उनका हृदय विशाल था, विचार उदार थ, चरित में स्वाधीनता की बू था। उस समय से ऋषि की मृत्यु पर्यन्त दोनों महानुभावों का गुरुशिष्यभाव अटूट और सन्निहित रहा।

चित्तौड़ गढ़ की एक और घटना भी स्मरणीय है। ऋषि दयानन्द अपने कुछ भक्तों के साथ घूमने जा रहे थे, रास्ते में एक वटवृक्ष के नीचे दो तीन मूर्त्तियां थीं। जब पास से गुजरे तो ऋषि ने अपना सिर झुका दिया। इस पर एक शिष्य ने कहा कि 'महाराज ! चाहे देवमूर्त्ति का कितना खण्डन कीजिए, पर उसका ऐसा प्रभाव है कि पास जाकर सिर झुक ही जाता है' इस पर ऋषि खड़े हो गये। पास

ही छोटे २ बालक खेल रहे थे। उन में एक चार वर्ष की नग्न बालिका भी थी। ऋषि ने उधर इशारा करते हुए कहा कि 'देखते नहीं हो, यह मातृशक्ति है, जिसने हम सब को जन्म प्रदान किया है' सब शिष्यों पर इस वाक्य का अपूर्व प्रभाव हुआ। ऋषि के मन में स्त्रीजाति के प्रति वैसा घृणा का भाव नहीं था, जैसा प्राय सन्यासी या विरक्त दिखाया करते हैं। जो मनुष्य एक चार वर्ष की बालिका में माता की भावना कर सकता है, वह स्त्रीजाति के प्रति कैसी प्रतिष्ठा का भाव रखता होगा, और उसका हृदय कितना पवित्र होगा, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है।

१८८२ के प्रारम्भ में स्वामी जी को बम्बई आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर जाना था। जब विदा होने का समय आया तो महाराणा सज्जनसिंह ने स्वामी जी से प्रार्थना की कि 'भगवन्! उदयपुर में यथा सम्भव शीघ्र ही दर्शन दीजिएगा' ऋषि ने वादा भी कर लिया।

बम्बई का वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से हुआ। यहां की दो घटनायें वर्णन योग्य हैं। प्रथम यह कि महा स्वामी जी ने थ्योसाफिकल सोसाइटी के आर्यसमाज से पृथक् होने की अन्तिम सूचना दी। दूसरी यह कि बम्बई आर्यसमाज ने अपने पहले से निश्चित किये विस्तृत नियमों को छोड़ कर लाहौर आर्यसमाज के स्वीकृत नियमों को स्वीकार कर लिया।

यहां इन्हीं दिनों पादरी यूसुफ ने एक व्याख्यान दिया, जिस में यह सिद्ध करने का यत्न किया कि ईसाई धर्म ही ईश्वरीय हैं, शेष सब धर्म अनीश्वरीय है। स्वामी जी ने इस व्याख्यान के उत्तर में पादरी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। पादरी महाशय शास्त्रार्थ के लिए तय्यार न हुए। स्वामी जी ने सार्वजनिक व्याख्यान देकर पादरी महाशय के दावे का भली प्रकार खण्डन कर दिया। बम्बई से चल कर खण्डवा इन्दौर और रतलाम में प्रचार करते हुए ऋषि दयानन्द ११ अगस्त १८८२ को फिर उदयपुर पहुंच गये। ठहरने का प्रबन्ध महाराणा जी की ओर से था। सज्जन निवास बाग में ऋषि का आसन जमाया गया।

ऋषि दयानन्द प्राय कहा करते थे कि प्रजा का सुधार राजा के सुधार पर अवलम्बित है। जहां कहीं भी ऋषि को अवसर मिलता, वह शासकों के सुधार में यत्नवान् रहते थे। उदयपुर में पहुंचकर आपने महाराणा के जीवन में परिवर्तन लाने का उद्योग किया। ऋषि को राजपूतों पर बड़ा विश्वास था, और उनमें से भी प्रताप के वंशजों पर तो विशेष आशा की थी। थोड़े ही समय में आपने महाराणा सज्जनसिंह

के जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन पैदा कर दिया। आजकल के भारतीय रईसों में जितने दोष होते हैं, महाराणा में स्वामी जी के आने से पूर्व वह सभी थे। विलासिता, शराब, वेश्यागमन, आदि कुवृत्तियों, और मूर्तिपूजा बलिदान के आदि भ्रमात्मक विश्वासों ने महाराणा को घेरा हुआ था। स्वामी जी के उपदेश से बहुत शीघ्र ही सुधार होने लगा। महाराणा ने हर रोज स्वामी जी से पढ़ना आरम्भ किया। उन्हें संस्कृत का कुछ अभ्यास पहले से था। शास्त्रों के पढ़ने में उन्हें कोई विशेष दिक्कत न हुई। स्वामी जी ने उन्हें विशेष आग्रह से मनुस्मृति का राजप्रकरण पढ़ाया। वहां राजा के धर्मों का अनुशीलन करके महाराणा की आंखें खुल गई। उन्होंने जीवन का सुधार आरम्भ कर दिया। महाराणा ने अपना समयविभाग निश्चित कर लिया। प्रातःकाल उठने लगे, सन्ध्योपासन नियमपूर्वक होने लगा, शराब और वेश्यागमन का त्याग कर दिया। राज्यकार्य से शेष समय में महाराणा सत्संग, और ऋषि से शास्त्रों का अध्ययन करते। धीरे २ महाराणा ने वैशेषिक पातञ्जल और योग दर्शन पढ़ लिये, और प्राणायाम की विधि भी ऋषि से सीख ली।

वहां उन दिनों पण्डित विष्णुलाल मोहन लाल जी पण्ड्या राज्य के कार्यकर्ताओं में थे। पण्डित जी ऋषि के भक्त थे। वह प्रायः स्वामी जी से ज्ञानचर्चा किया करते थे। एक दिन निम्न लिखित आशय की बातचीत हुई—

पण्ड्या जी ने पूछा 'भगवन्! भारत का पूर्ण हित कब होगा? यहां जातीय उन्नति कब होगी?"

स्वामी जी ने उत्तर दिया-"एक धर्म एक भाषा और एक लक्ष्य बनाये बिना भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर कार्य है। सब उन्नतियों का केन्द्रस्थान ऐक्य है। जहां भाषा भाव और भावना में एकता आजाय, वहां सागर में नदियों की भांति सब सुख एक एक करके प्रविष्ट करने लग जाते हैं। मैं चाहता हूं कि देश के राजे महाराजे अपने शासन में सुधार और संशोधन करें। अपने राज्यों में धर्म भाषा और भावों में एकता उत्पन्न कर दें, फिर भारत भर में आप ही आप सुधार हो जायगा।" (श्रीमद्दयानन्द प्रकाश) ऋषि ने एक दिन कविराज श्यामलदास जी से कहा कि 'मेरे मरने के पश्चात् मेरी अस्थियों को किसी खेत में डाल देना, कोई समाधि या कोई चिन्ह कभी न बनाना।'

कविराज ने कहा "महाराज! मैंने सोच रखा था कि आपकी एक पत्थर की मूर्ति बनवाऊं और उसे किसी जगह रख दूं ताकि मेरे पीछे वह मेरा स्मारक समझा जावे।"

स्वामी जी ने तुरन्त कहा कि

"देखो कविराज जी ! ऐसा भूलकर भी मत करना। बस यही तो मूर्तिपूजा की जड़ हुआ करती है"

ऋषि के यह वाक्य स्मरणीय हैं। ऋषि मूर्तिपूजा को हानिकारक समझते थे। वह जानते थे कि लोग असली आशय को भुलाकर स्थूलरूप में उलझ जाते हैं। ऋषि जीवित जागृत स्मारकों को मानते थे, जड़ या मुर्दा स्मारकों को नहीं, ऋषि अपना स्मारक आर्य समाज को, वेदभाष्य को और परोपकारिणी को मानते थे, किसी शिला या मकान का नहीं। जड़ स्मारक स्वामी जी के आशय के प्रतिकूल था।

एक दिन महाराणा सज्जनसिंह अकेले में ऋषि दयानन्द से बोले कि 'महाराज ! यदि आप देशकालोचित समझ कर मूर्तिपूजा का खण्डन करना छोड़ दें तो अति उत्तम हो क्योंकि आप जानते हैं कि यह रियासत एकलिंगेश्वर महोदय के आधीन चली आती है। यदि आप स्वीकार करें तो इस मन्दिर के महन्त बन सकते हैं। वैसे तो यह राज्य भी उसी मन्दिर के समर्पित है, परन्तु मन्दिर के नाम जो राज्य का भाग लगा हुआ है, उसकी भी लाखों की आय है। उसपर आप का अधिकार हो जायगा।"

ऋषि को क्रोध नहीं आता था, परन्तु अपने शिष्य की इस बात से वह भी झुंझला उठे। ऋषि ने उत्तर दिया "महाराणा जी ! आप मुझे लालच देकर उस सर्व शक्तिमान् जगदीश्वर की अवज्ञा करने पर उद्यत कराना चाहते हैं। ये आप के मन्दिर और ये आपकी छोटी सी रियासत (जिससे मैं एक दौड़ में बाहर जा सकता हूं) मुझे किसी दशा में उस परमेश्वर की आज्ञा के विरुद्ध नहीं कर सकते, जिसके राज्य से कोई कभी किसी प्रकार भी बाहिर नहीं जा सकता। आप निश्चय रखें, कि मैं परमात्मा और वेदों की आज्ञा के विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकता।"

यह उत्तर सुनकर महाराणा लज्जित हुए और क्षमा मांगने लगे।

सोलहवां परिच्छेद

परोपकारिणी सभा का निर्माण

ऋषि दयानन्द की दूरदर्शिनी दृष्टि अब समीप आते हुए अन्त को देख रही थी। मेरठ से चलते हुए ऋषि ने आर्यपुरुषों को जो आदेश दिया था, उसके वाक्य बतलाते हैं कि ऋषि भविष्य को देख रहे थे। आपने व्याख्यान में कहा था कि "महाशयो! मैं कोई सदा बना नहीं रहूंगा। विधाता के न्यायनियम में मेरा शरीर भी क्षणभंगुर है। काल अपने कराल पेट में सब को पचा डालता है। अन्त में इस देह के कच्चे घड़े को भी उसके हाथों टूटना है। सोचो, यदि अपने पांव खड़ा होना नहीं सीखोगे तो मेरे आंख मीचने के पीछे क्या करोगे? अभी से अपने को सुसज्जित कर लो। स्वावलम्ब के सिद्धान्त का अवलम्बन करो। अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के योग्य बन जाओ। किसी दूसरे के सहारे की आशा छोड़ अपने ही पर निर्भर करो" ऋषि के हृदय में यह चिन्ता थी कि 'मेरे मरने के पीछे समाजों का सम्भालने वाला कौन होगा?'

सम्भालने को बहुत कुछ था। सबसे प्रथम, ऋषि समझते थे कि आर्य समाजें देश भर में बिखरी हुई हैं। उनका एक केन्द्रभूत सगठन नहीं है। आपस के लड़ाई झगड़ों को निपटाने का कोई उपाय नहीं है। दूर २ के प्रान्तों में स्थापित हुई समाजें एक दूसरे से कोई सहायता नहीं ले सकतीं।

दूसरी चिन्ता ऋषि को विदेशप्रचार की थी। उस समय तक प्रान्तिक प्रतिनिधि सभायें भी नहीं बनी थीं, सार्वदेशिक सभा का तो अभी विचार ही दूर था। प्रचार का और विशेषतया विदेश प्रचार का कार्य छोटी सभाओं की शक्ति से बाहिर था। ऋषि के चित्त में यह विचार घर किये हुए था कि यदि वैदिक धर्म के योग्य प्रचारक भारत से बाहिर भेजे जाय, तो उन्हें अवश्य सफलता होगी।

इसके सिवा ऋषि ने वेदभाष्य तथा अपने अन्य ग्रन्थ छपवाने के लिये १८८० में, बनारस में वैदिक प्रेस की स्थापना की थी। वह प्रेस अभी तक निराधार था। ऋषि को निरन्तर भ्रमण करना पड़ता था, इस कारण हिसाब में सदा गड़बड़ रहता थी। जब सामने ही यह हाल था, तो पीछे के लिये क्या होना हो सकता था? ऋषि के ग्रन्थ जहां तहां छपे पड़े थे। उनका एक स्थान में संग्रह और सम्भालने का यत्न भी आवश्यक था।

इन सब बातों पर विचार करके ऋषि ने एक ऐसी सभा का बनाना निश्चित किया जो इन त्रुटियों को पूरा कर सके। उदयपुर में 'परोपकारिणी सभा' का विचार उत्पन्न हुआ और पकाया गया। वहीं यह काम में परिणत हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि महाराणा सज्जन सिंह के सुधार ने ऋषि के हृदय को बड़ा सन्तोष दिया। हिन्दू राजाओं के वैदिकधर्मी बन जाने पर ऋषि को यह भान होने लगा कि अब आर्यसमाज निराधार नहीं है। महाराणा की सज्जनता और इच्छा को देखकर ऋषि को विश्वास हो गया कि मेरे पीछे आर्यसमाज को लौकिक सहारे का कमी नहीं रहेगी। इसमें सन्देह भी नहीं कि यदि ऋषि के पीछे इतना शीघ्र उनके मेवाड़-पति शिष्य न चल बसते तो परोपकारिणी सभा इतना शीघ्र ऐसी निर्जीव संस्था न हो जाती। परोपकारिणी सभा का निर्माण एक वसीयतनामे के रूप में हुआ। वसीयतनामे का प्रारम्भ इस प्रकार था।

'मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती निम्नलिखित नियमों के अनुसार तेईस (२३) सज्जन आर्यपुरुषों की सभा को वस्त्र पुस्तक धन और यन्त्रालय आदि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूं और उसको परोपकार सुकार्य में लगाने के लिये अध्यक्ष बनाके यह स्वीकार पत्र लिखे देता हूं कि समय पर काम आवे'।

इस प्रकार परोपकारिणी सभा ऋषि की उत्तराधिकारिणी बनाई गई थी। २३ सभासदों में से सभापति का स्थान मेवाड़पति महाराणा सज्जनसिंह को प्रदान किया गया था। सभासदों में कई राजपूत नरेश और रईस थे। उनके अतिरिक्त देश भर के प्रसिद्ध २ आर्यपुरुष और ऋषि के शिष्यों के नाम सभासदों की सूचि में प्राप्त होते हैं। राव बहादुर रानडे, राय बहादुर प० सुन्दर लाल, राजा जयकृष्ण दास, ला० साईदास, प० श्यामजीकृष्ण वर्मा आदि महानुभावों को सभा के सभासद बनाया गया था। परोपकारिणी के सभ्यों की सूचि का ध्यानपूर्वक आलोचन हमें बतला सकता है कि जीवन काल में ही ऋषि का प्रभाव कितना विस्तृत हो चुका था।

सभा के अन्य उद्देश्यों पर ध्यान देने से ऋषि के महान् उद्देश्य का परिचय मिलता है। पहला उद्देश्य है, स्वामी जी की सम्पत्ति को वेद और वेदाङ्ग आदि के पढ़ने पढ़ाने में और वैदिक ग्रन्थों के छपवाने में व्यय करना। शिक्षा का प्रबन्ध और पुस्तक प्रकाशन, यह दो ही विभाग इतने हैं कि एक सभा के लिये पर्याप्त हैं। दूसरा उद्देश्य रखा गया है, देश और देशान्तर में भेजने के लिये उपदेशकमण्डलियों के प्रबन्ध में सम्पत्ति का व्यय करना। तीसरा उद्देश्य है भारत के दीन और अनाथ जनों को सहायता देना। कितने विस्तृत उद्देश्य हैं। लेख और वाणी द्वारा देश और विदेश में प्रचार परोपकारिणी का पहला कर्तव्य है। दूसरा कर्तव्य है, वैदिक शिक्षा का प्रबन्ध। उसका अन्तिम

अनाथ दीनों और अनाथों को उठाना और उनकी सहायता करना है। ऋषि ने परोपकारिणी के लिये बड़ा भारी प्रोग्राम बनाया था। वह परोपकारिणी को अपना उत्तराधिकारी और आर्यसमाज का रक्षक बनाना चाहते थे।

वसीयतनामे के अन्तिम भाग में सभा के साधारण नियम हैं। सभा में वही रह सकेगा, जो सदाचारपूर्वक जीवन बिताये। दुराचारी को निकाल दिया जायगा। अधिक समय तक कोई स्थान रिक्त नहीं रह सकेगा। यदि सभा में कोई झगड़ा उठे तो सभा में फैसला होने की अन्य कोई भी सूरत होने तक उसे कचहरी में नहीं ले जाना चाहिए। यदि कोई सूरत बाकी न रहे तो न्यायालय से निर्णय होना चाहिए। यह नियम दिखलाते हैं कि सार्वजनिक सगठनों के निर्माण में ऋषि दयानन्द सिद्धहस्त थे—और सभ्यों की शक्ति को परिमित करने के लाभों को खूब समझते थे।

इन उद्देश्यों से और इन नियमों से ऋषि ने परोपकारिणी का निर्माण किया, और अपनी सार्वजनिक सम्पत्ति सभा को सौंप दी। अपने जीवनकाल में ही प्रेस पुस्तक आदि सभा को दे दिए। ऋषि को सभा से बड़ी आशायें थीं। वह सभा द्वारा केवल अपनी सार्वजनिक सम्पत्ति को ही सुरक्षित नहीं करना चाहते थे, वह राजाओं और अन्य शिक्षित महानुभावों को इकट्ठे बिठा कर एक दूसरे के समीप लाना चाहते थे, वह राजपूताने के अशिक्षित नरेशों को भारतहित के सार्वजनिक कार्यों में लगाना चाहते थे। परोपकारिणी का निर्माण उस सपने का फल था जो चित्तौड़ की चोटियों पर खड़े होकर ऋषि ने देखा था। ऋषि इस सभा द्वारा सोये हुए राजपूताना—शेर को जगाना चाहते थे। वह आर्य जाति द्वारा मनुष्य जाति के धार्मिक और सामाजिक उद्धार का नेतृत्व आर्य नरेशों के हाथ में देना चाहते थे।

यह दूसरा प्रश्न है, कि परोपकारिणी को कहां तक सफलता हुई? पूरी सफलता न होने के कारण हुए। पहला कारण तो ऋषि का शीघ्र ही स्वर्गवास था। दूसरा कारण ऋषि के थोड़ा ही समय पीछे उदयपुरनरेश का देहान्त था। तीसरा कारण यह था कि आर्य-समाज का प्रतिनिधियों द्वारा सगठन बहुत शीघ्र ही बन गया, और आर्य प्रजा की सम्पूर्ण शक्तियां उधर ही लग गईं। अनेक प्रान्तों में, सैंकड़ों मीलों की दूरी पर बैठे हुए रईस और समृद्ध महानुभावों के कार्य पर कड़ा निरीक्षण रखने की जितनी आवश्यकता थी, आर्यपुरुष उसे पूरा न कर सके। वह अपनी प्रतिनिधि सभाओं और धीरे २ सार्वदेशिक सभा में इतने लीन हो गये कि परोपकारिणी की सुध न ली। परोपकारिणी भी अनुकूल अवसर जानकर स्वप्नावस्था में पड़ी २ जीवन के दिन काटने लगी।

सत्रहवां परिच्छेद

जीवन का अन्तिम दृश्य

उदयपुर में स्वामी जी १८८३ ईस्वी के फरवरी मास के अन्त तक रहे। माघ के प्रारम्भ में आप शाहपुरा रियासत की राजधानी में पहुंच गए। शाहपुराधीश राजा नाहरसिंह जी स्वामी जी के भक्तों में से थे। उन्होंने बड़े भक्तिभाव से स्वागत किया। अपने विशेष बाग नाहिर निवास में स्वामी जी का आसन जमाया। प्रतिदिन वैदिक धर्म का प्रचार होने लगा। महाराज स्वयं प्रतिदिन सायंकाल ३ घण्टे के लिए शिष्य भाव से आते थे, और अध्ययन करते थे। मनुस्मृति योगदर्शन वैशेषिक दर्शन आदि के आवश्यक भागों का महाराज ने पाठ समाप्त कर लिया।

स्वामी जी के उपदेशों से प्रेरित होकर महाराज ने महलों में एक यज्ञशाला बनवाई, जिस में प्रतिदिन हवन कराने का सकल्प किया। मई मास के मध्य तक शाहपुरे में धर्मवृष्टि करके ऋषि १७ मई १८८३ को जोधपुर की ओर रवाना हुए। शाहपुरे से जोधपुर की ओर रवाना होने के समय महाराज नाहरसिंह ने स्वामी जी से कहा कि 'महाराज! आप जोधपुर तो जाते हैं, परन्तु वहां वेश्या आदि का खण्डन न करना' ऋषि ने उत्तर दिया कि 'राजन! मैं बड़े वृक्ष को नहेरने से नहीं काटता, उसके लिए तो बड़े शस्त्र की आवश्यकता होगी।'

जोधपुर में कर्नल सरप्रतापसिंह और रा० रा० तेजसिंह आदि रईस ऋषि के शिष्य हो चुके थे। वह लोग देर से निमन्त्रण भेज रहे थे। अब समय पाकर ऋषि ने जोधपुर राज्य में भी सुधार का शब्द उठाने का सकल्प किया। शाहपुरे से आप अजमेर आये और वहां से जोधपुर के लिए रवाना हुए। अजमेर के आर्यपुरुषों ने ऋषि की सेवा में उपस्थित होकर फिर निवेदन किया कि 'अब आप मारवाड़ प्रान्त में पधारते हैं, वहां के मनुष्य प्रायः गंवार और उजड्ड हैं, और उनका स्वभाव और वर्ताव भी अच्छा नहीं है, इस लिए अभी आप वहां न जाइये।' ऋषि ने उत्तर दिया कि 'यदि लोग मेरी उंगलियों की बत्तियां बना कर जलावें, तब भी मुझे कुछ शंका नहीं हो सकती। मैं वहां जाऊंगा और अवश्य वैदिक धर्म का प्रचार करूंगा।'

इस उत्तर को सुन कर सब चुप हो गये परन्तु एक सज्जन ने निवेदन किया कि 'तथापि आप वहां सोच समझ कर और मधुरता से काम लेना, कारण यह कि वहां के रहने वाले कठोर हृदय और कपटी होते हैं।' इसका उत्तर ऋषि ने दिया कि 'मैं पाप के बड़े २ वृक्षों की जड़ें काटने के लिए तीक्ष्ण कुठारों से काम लूगा, न कि उन्हें बढ़ाने के लिये कैंचियोंसे उनकी कलम करूंगा।"

जोधपुर में स्वामी जी का भली प्रकार स्वागत हुआ। राजा जवानसिंह जी ने आवभगत की, पीछे से महाराजा प्रतापसिंह और रा० रा० तेजसिंह आदि रईसों ने दर्शन किये और आतिथ्य का उचित प्रबन्ध किया। कुछ दिनों पीछे स्वयं जोधपुराधीश महाराज यशवन्तसिंह भी दर्शनों को आये। ऋषि ने उन्हें बहुत उपदेश दिया। प्रति दिन सायंकाल के समय स्वामी जी सर्व साधारण को धर्मोपदेश करते और फिर दो घंटे तक राजभवन में जाकर महाराज तथा उनके अन्य समीपवर्तियों की शङ्काओं का निवारण करते। महाराज प्रतिदिन ऋषि से कुछ न कुछ सीखते थे। ऋषि ने अपने व्याख्यानों में मूर्ति पूजा, वेश्यागमन, चक्रांकितसम्प्रदाय और इस्लाम का बड़े जोर से खण्डन किया। जोधपुर में यही शक्तियां थीं। जोधपुर के पुजारी बड़े प्रचण्ड थे, महाराज और रईसों पर वेश्याओं का पूरा अधिकार था, रियासत में चक्रांकितों का जोर था, और राज्य के मुसाहिब आला भय्या फैजुल्लाखां इस्लाम के खण्डन से बहुत क्षुब्ध हो गये थे। एक रोज उन्होंने स्वामी जी को यहां तक कह दिया कि यदि इस समय मुसलमानों का राज्य होता तो आप ऐसे व्याख्यान नहीं दे सकते और देते तो जीवित नहीं रह सकते थे। स्वामी जी ने उसका उत्तर दिया कि 'अस्तु कोई बात नहीं है। मैं भी उस समय दो क्षत्रिय राजपूतों की पीठ ठोंक देता तो वह उन लोगों को अच्छी तरह समझ लेते।"

इस प्रकार जोधपुर में स्वामी जी के शत्रुओं की संख्या बढ़ रही थी। इसी अवसर पर एक और घटना हो गई, जिसने विरोधियों के बल को बहुत बढ़ा दिया। महाराज यशवन्तसिंह का नन्हीजान नाम की एक वेश्या से गहरा सम्बन्ध था। एक रोज अपने निश्चित नियम के अनुसार स्वामी जी दरबार में पहुंचे। उस समय महाराज के पास नन्हीजान आई हुई थी। स्वामी जी के आने का समय जानकर महाराज उसे डोली में रवाना कर रहे थे। डोली उठने से पूर्व ही स्वामी जी को समीप आता देख कर महाराज घबरा गये और डोली को स्वयं कन्धा लगाकर उठवा दिया। ऋषि ने यह देख लिया। इससे उनका चित्त बहुत ही अधिक क्षुब्ध हुआ। उस दिन अपने उपदेश में ऋषि ने राजधर्म का वर्णन करते हुए बताया कि राजा सिंह के समान हैं

और षड्यन्त्र कुटिलों के सताए। राजाओं का सम्बन्ध विद्वानों से होता है, कुटिलों से नहीं। महाराज का सिर लज्जा से झुक गया और उन्होंने नन्हींजान का निरादर किया। नन्हीजान को जब यह समाचार मिला तो वह जल उठी। उसका क्रोध सीमा को पार कर गया।

२९ सितम्बर को रात के समय सोने से पूर्व रसोइया जगन्नाथ ने स्वामी जी को गर्म दूध पीने को दिया। स्वामी जी का रात्रि का जागरण उस दिन का नियम था। दूध पीकर स्वामी जी सो गए। थोड़ी देर बाद पेट में दर्द उठा और जी मचलने लगा। रात को कई बार वमन हुआ। स्वामी जी ने किसी को सूचना न दी परन्तु निर्बलता के कारण प्रातः काल देर में उठे और कुल्ला न कर सके। पेट की शुद्धि के लिये आपने दवा की आज्ञा दी। दवा दिया गया। स्वामी जी की दशा और अधिक खराब होने लगी। उधर शूल वेदना और वमन का जोर बढ़ने लगा। डाक्टर सूरजमल जो स्वामी जी के भक्त थे, पहले उनका इलाज प्रारम्भ हुआ, परन्तु पीछे ही दरबार की ओर से डा० अलीमर्दान खाँ को भेजा गया। इलाज बहुत हुआ परन्तु दशा सुधरने की जगह बिगड़ती ही गई। प्रतिदिन दस्तों की संख्या बढ़ने लगी, मुँह सिर और माथा छालों से भर गये, हिचकी आ गई और शरीर बहुत ही कृश होने लगा। डा० अलीमर्दान खाँ का इलाज बिलकुल उल्टा पड़ रहा था। इस भयानक परिवर्तन की तह में डाक्टर की मूर्खता थी, या कोई और गहरा भेद था—यह निश्चयपूर्वक कहने का इतिहासलेखक को तब तक कोई अधिकार नहीं, जब तक कि किसी एक कल्पना की पुष्टि में कोई पुष्ट युक्ति न दी जा सके। हां यह बात अवश्य सन्देहजनक है कि दशा तो बिगड़ रही थी और डाक्टर साहिब यही बताते थे कि दशा अच्छी हो रही है। ऋषि के शरीर में जहर घर कर गई थी। डाक्टरों की यही सम्मति भी थी कि रोगी को जहर दी गई है। प्रतीत होता है कि षड्यन्त्रियों की प्रेरणा से जगन्नाथ ब्राह्मण ने रात को सोते समय दूध में जहर मिलाकर पिला दी थी। कहा जाता है कि पता लगने पर इस आशंका से कि मेरे भक्त रसोइये को मारें नहीं, दयालु ऋषि ने किराया देकर उसे नेपाल की ओर भाग जाने को कहा था।

इतने कष्ट में भी ऋषि का धैर्य आश्चर्यजनक था। उसे देखकर मित्र और शत्रु दाँतों तले उँगली दबाते थे। इतना कष्ट और 'आह' तक नहीं। धैर्य से रोग को सह रहे थे और पूछने पर केवल यथार्थ दशा बतला देते थे। शरीर छालों से भरा हुआ था, बोलने में असह्य कष्ट होता था, हिलना डुलना भी कठिन हो रहा था, ऐसी दशा में भी ऋषि के मुँह पर न घबराहट थी और न चिड़चिड़ाहट थी। वही गम्भीर चेहरा था और वही शान्त मुद्रा थी। जिन लोगों ने उस दशा में स्वामी दयानन्द को देखा,

उन्होंने अनुभव किया कि इस मनुष्य में अवश्य ही कोई दिव्यशक्ति काम कर रही है। उनके हृदय में यह बात अंकित हो गई कि इस महापुरुष के हृदय में निश्चय से परमात्मा की शक्ति काम कर रही है।

स्वामीजी की बीमारी का वृत्तान्त बहुत दिनों तक छिपा न रहा। अजमेर में समाचार पहुँचते ही आर्यपुरुष जोधपुर के लिए रवाना हुए और स्वामी जी की दशा देखकर आश्चर्यित हो गये। रोग की दशा, इलाज की शिथिलता और सेवा की असुविधा देखकर आर्यपुरुषों ने ऋषि से आग्रह किया कि आप आबू पहाड़ पर चलें। आप ने स्वीकार कर लिया। महाराज को सूचना मिलने पर पहले तो वह बहुत दुःखित हुये परन्तु फिर स्वामीजी का आग्रह देखकर भिन्न मन से आदरपूर्वक विदाई का प्रबन्ध कर दिया। विदाई के समय स्वयं उपस्थित होकर मार्ग के आराम का भली प्रकार प्रबन्ध कर दिया। जोधपुर से डोली में स्वामी जी आबू पर्वत पर गये, परन्तु वहाँ भी कोई विशेष आराम दिखाई न दिया। तब स्वामी जी के शिष्य उन्हें अजमेर वापिस ले गये। इस यात्रा में उन्हें बहुत शारीरिक कष्ट हुआ परन्तु अच्छा इलाज कराने की और स्वयं सेवा करने की शिष्यों की प्रबल इच्छा में बाधा डालना उन्होंने उचित न समझा। अजमेर में स्वामी जी को एक कोठी में ठहराया गया, और डा० लक्ष्मण दास जी का इलाज प्रारम्भ हुआ।

ऋषि का मृत्युसमय निकट आ रहा था। इलाज और सेवा कुछ परिवर्तन पैदा न कर सके। अन्तिम समय का दृश्य एक दर्शक की लेखनी ने जिन सरल शब्दों में चित्रित किया है—हम उससे उत्तम वर्णन नहीं कर सकते, इस कारण उसी को उद्धृत करते हैं।

"रेल से उतार कर स्वामी जी को पालकी में लिटा दिया गया, और सवारी से उन्हें एक कोठी में ले आये जो पहले से इस काम के लिये नियत कर रखी थी। उस समय रात के तीन बजे थे। कार्तिक का अन्त था, लोगों को सर्दी मालूम देती थी परन्तु स्वामी जी के मुख से केवल 'गर्मी' 'गर्मी' का शब्द निकलता था। कोठी के सब दरवाजे खुलवा दिये गये तब भी स्वामी जी को शान्ति न हुई। दूसरे दिन डा० लक्ष्मण दास जी का इलाज शुरू हुआ, पर उनकी दशा में कुछ अन्तर न हुआ। एक बार स्वामी जी ने अपने मनुष्यों से कहा कि 'हमको मसूदा ले चलो'। इसपर सबने कहा कि आराम होने पर हम आपको वहाँ पहुँचा देंगे, इस दशा में बारबार यात्रा करना ठीक नहीं है। इसपर स्वामी जी ने कहा कि 'दो दिन में हमको पूरा आराम हो जायगा'। यह उत्तर स्मरण रखने योग्य है। जब स्वामी जी

के सारे शरीर में छाले ही छाले दीखने लगे। २९ अक्तूबर को स्वामी जी का शरीर अत्यन्त ही शिथिल हो गया। अपने सेवकों से कहा कि हमें बिठा दो। जब बिठाया गया तो कहा कि छोड़ दो, हमें सहारे की आवश्यकता नहीं है। सो जितनी देर तक बिना सहारे बैठे रहे। उस समय सांस जल्दी २ चल रहा था पर स्वामी जी उसे रोक कर बल से फेंक देते थे, और ईश्वर के ध्यान में मग्न हो रहे थे। रात को कष्ट अधिक रहा। दूसरे दिन ३० अक्तूबर को डाक्टर न्यूमन साहब बुलाये गये। जिस समय उक्त डाक्टर साहिब ने स्वामी जी को देखा तो बड़े आश्चर्य से कहने लगे कि 'धन्य है इस सत्पुरुष को, हमने आजतक ऐसा दिल का मज़बूत कोई दूसरा मनुष्य नहीं देखा, कि जिसको इसप्रकार नख से शिख तक अपार पीड़ा हो और वह तनिक भी आह या ऊह न करे।' उस समय स्वामी जी के कण्ठ में कफ की बड़ी प्रबलता थी, जिसकी निवृत्ति के लिये डाक्टर न्यूमन ने कई उपाय किए, परन्तु उनसे कुछ लाभ न हुआ। ११ बजे दिन के स्वामी जी का श्वास विशेष घटने लगा, और कहा कि हम शौच जावेंगे। उस समय स्वामी जी को चार आदमियों ने उठाया, और शौच करने की चौकी पर बिठा दिया। शौच गये, और आप पानी लिया। हाथ धोये, दातन ली और कहा कि अब हमको पलंग पर ले चलो। आज्ञानुसार पलंग पर ला बिठाया। कुछ देर बैठकर फिर लेट गये। श्वास बड़े वेग से चलता था, और ऐसा प्रतीत होता था कि स्वामी जी श्वास को रोककर ईश्वर का ध्यान करते हैं। उस समय स्वामी जी से पूछा गया कि 'महाराज ! कहिये, अब आप की तबीयत कैसी है?' कहने लगे कि अच्छी है, एक मास के पीछे आज का दिन आराम का है।

इस समय लाला जीवनदास जी ने, जो लाहौर से स्वामी जी के दर्शनों को अजमेर गये थे, स्वामी जी से अभिमुख होकर पूछा कि 'महाराज ! इस समय कहां हैं?' स्वामी जी ने उत्तर दिया कि 'ईश्वरेच्छा में।'"

"उस समय श्रीयुत के मुखपर किसी प्रकार का शोक या घबराहट प्रतीत नहीं होती थी। ऐसी वीरता के साथ दुःख को सहन करते थे कि मुख से कभी हाय या शोक नहीं निकला। इसी प्रकार स्वामी जी को बातचीत करते २ पांच बज गये, और बड़ी सावधानता से रहे। इस समय हम लोगों ने श्रीयुत से पूछा कि 'कहिये, अब आप की तबीयत का क्या हाल है?' तो कहने लगे कि 'अच्छा है, तेज और अन्धकार का भाव है' इस बात को हम कुछ न समझ सके क्योंकि स्वामी जी इस समय सरल भाषण कर रहे थे। साढ़े पांच बजे का समय आया तो हम लोगों से स्वामी जी ने कहा कि 'अब सब आर्य जनों को जो हमारे साथ और

दूर २ देशों से आये हैं, बुला लो और हमारे पीछे खड़ा कर दो। कोई मनुष्य खड़ा न हो' बस आज्ञा पानी थी, वही किया गया।

जब सब लोग स्वामीजी के पास आ गये तब श्रीयुत ने कहा कि चारों ओर के द्वार खोल दो और ऊपर का छत के दो छोटे द्वार भी खुलवा दिये। इस समय पण्ड्या विष्णुलाल मोहनलाल भी श्रीमान् उदयपुराधीश की आज्ञानुसार आगये। फिर स्वामी जी ने पूछा कौनसा पक्ष क्या तिथि और क्या वार है ? किसी ने उत्तर दिया कि कृष्ण पक्ष और शुक्लपक्ष की सन्धि अमावस्या मंगलवार है। यह सुनकर कोठा की छत और दीवारों की ओर दृष्टि की, फिर पहले वेदमन्त्र पढ़े तत्पश्चात् संस्कृत में ईश्वर की कुछ उपासना की, फिर भाषा में ईश्वर के गुणों का थोड़ा सा कथन कर बड़ी प्रसन्नता और हर्षसहित गायत्रीमन्त्र का पाठ करने लगे, तत्पश्चात् हर्ष और प्रफुल्लित चित्त सहित कुछ देर तक समाधियुक्त नयन खोल यों कहने लगे कि "हे दयामय ! हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर। तेरी यही इच्छा है। तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो ! अहा तैने अच्छी लीला की," बस इतना कह स्वामी जी महाराज ने जो सीधे लेट रहे थे, स्वयं करवट ली और एक प्रकार से श्वास को रोक कर एक बार ही निकाल दिया।"

(आर्यानन्द जीवन)

लेखक के शब्द सरल और अकृत्रिम हैं। यह शब्द बताते हैं कि दर्शकों के हृदयों पर उस तपस्वी की मृत्यु का गहरा असर हुआ था। कहते हैं कि लाहौर से पं० गुरुदत्त विद्यार्थी भी लाला जीवनदासजी के साथ ऋषि के दर्शनों को गये हुए थे। प० गुरुदत्तजी इस से पूर्व अर्ध-नास्तिक थे। विज्ञान के धक्के ने हृदय के ईश्वर-विश्वास को हिला दिया था। ऋषि की मृत्यु के दिव्य दृश्य को देखकर पण्डितजी के कोमल हृदय पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। एक आस्तिक किस शान्ति से मर सकता है, यह देख कर गुरुदत्त का हृदय पिघल गया और जहां नास्तिकता के कारण शून्य हो रहा था वहां विश्वास और श्रद्धा का सुगन्धित पवन बहने लगा। जो अविश्वासी हृदय के साथ मरता है, उसे भविष्य में निराशा दिखाई देती है। जिसे ईश्वर पर भरोसा नहीं, उसके लिये मौत एक अथाह अन्धेरी खाई है। जिसने जीवन में केवल आस्तिकता का दम्भ भरा हो, मृत्यु के समय उसके मुंह पर से पर्दा उठ जाता है और जो प्रत्यक्ष में सन्तुष्ट दिखाई देता था, वह असलियत में अशान्तमय दिखाई होता है। मृत्युकाल सब पर्दों को उखाड़ देता है। उस समय कोई भाव छुपा नहीं रहता। ऋषि की मृत्यु बताती है कि उसका हृदय ईश्वर विश्वास और धार्मिक श्रद्धा से परिपूर्ण था।

उनका जीवन उज्ज्वल था, परन्तु मृत्यु उससे भी बढ़कर थी [illegible]। इस भूतल पर ऐसे दृश्य कम दिखाई देते हैं। वस्तुतः, जो नास्तिक गुरुदत्त को [illegible] न से भी आस्तिकता की सरस्वती का प्रवाह बहता थी।

जीवन के समय ऋषि के मित्र भी थे, और शत्रु भी थे, परन्तु मृत्यु ने उन सब भेदों को दूर कर दिया। उनकी मृत्यु का समाचार पाकर भी एक ऐसी सार्वजनिक सहानुभूति की भावना उठी कि छोटे २ विभाग दूर होगए। ईसाई, मुसलमान, ब्राह्मो, थियासोफिस्ट, सभी ने एकस्वर से भारतमाता के तपस्वी की मृत्यु पर दुःख प्रकाशित किया। जीतेजी जो मुँह [illegible] मौन रहते थे, वह खुल उठे और भारत के नेताओं और समाचार पत्रों ने दयानन्द की अकाल मृत्यु को देश के दुर्भाग्य का चिन्ह समझा। सभी प्रकार के भारत हितैषी सज्जनों ने ऋषि की मृत्यु पर शोक प्रगट किया। आर्यसमाज को कितना कष्ट हुआ होगा, इसकी तो कल्पना ही की जा सकती है। आर्यसमाज का सर्वस्व लुट गया। उसका मूलाधार नष्ट हो गया। समाज अनाथ हो गई। उस समय समाजों की जो आन्तरिक दशा थी, उसकी कल्पना इस समय करना कठिन है। अब तो आर्य प्रतिनिधि सभायें हैं, दर्जनों विद्वान् हैं, पुराने २ विश्वासपात्र नेता हैं, और एक के स्थान पर बैठनेवाला दूसरा महानुभाव विद्यमान है। उस समय आर्यसमाज और आर्यसमाजियों को एक दयानन्द का भरोसा था। कोई झगड़ा हो तो वही निपटायें, शास्त्रार्थ हो तो वही पहुँचें, उत्सव की शोभा उन्हीं से हो—सारांश यह कि समाज का सर्वस्व केवल वही थे, आर्यसमाज में जो व्यापक शोक की घटा छा गई, वह यथार्थ ही थी।

आर्यसमाज के बाहिर समझदार विद्वानों ने स्वामी जी के वियोग को किस प्रकार अनुभव किया, उसका दिग्दर्शन पं० बालकृष्ण भट्ट द्वारा सम्पादित, प्रयाग के 'हिन्दी प्रदीप' के लम्बे लेख की निम्न लिखित पंक्तियों से हो सकता है। स्वामी जी की मृत्यु का समाचार सुनकर प्रदीप ने लिखा था "हा! प्यारे भारतोन्नतिकमलिनी का सूर्य अस्त होगया। हा! वेद का भेद खोलनेवाला सूर्य लुप्त हो गया। हा दयानन्द सरस्वती! आर्यों के सत्यमतीजहाज की पतवार बिना दूसरे को सौंपे तुम क्यों अन्तर्धान हो गये! हा सच्ची दया के समुद्र! हा! सच्चे आनन्द के वारिद! अपनी विद्यामयी लहरों और हितोपदेशरूपी धारा से परितप्त भारत भूमि को आर्द्र कर कहां चले गये? हा! चार दिन के चतुरानन! इस असभ्यताप्रिय मण्डली में आपने अपना विलक्षण चतुराई को क्यों इस प्रकार सरल भाव से फैलाया?" इसी प्रकार लम्बा खेदपूर्ण लेख लिख कर भट्टजी ने यह प्रकाशित कर दिया कि जो जा

आर्यसमाज के सभासद् नहीं परन्तु आयत्व से प्रेम करते थे, वह दयानन्द को आर्य जाति का नेता समझते थे, सङ्कुचित मत का प्रचारक नहीं।

मुसलमान दुनिया के विचारों का प्रतिबिम्ब उस समय के भारतीय मुसलमानों के नेता सर सय्यद अहमदखां की राय में दिखाई दे सकता है। लाहौर के 'कोहनूर' में आपने लिखा था-"निहायत अफसोस की बात है कि स्वामी दयानन्द साहिब ने जो संस्कृत के बहुत बड़े आलम और वेद के बहुत बड़े मुहक्किक थे, ३० वीं अक्तूबर १८८३ को ७ बजे शाम के अजमेर में इन्तकाल किया। इलावा इल्म और फजल के निहायत नेक और दरवेश सिफ्त आदमी थे। इनके मुतअक्कद इनको देवता मानते थे, और वेशक वह इसी लायक थे। वह सिर्फ ज्योतिस्वरूप निरकार के सिवा दूसरे की पूजा जायज नहीं रखते थे। हमसे और स्वामी दयानन्द मरहूम से बहुत मुलाकात थी, हम हमेशा इनका निहायत अदब करते थे। क्योंकि ऐसे आलम और उम्दा शख्सये कि हरेक मजहबवाले को इनका अदब लाजिम था। बहर हाल ऐसे शख्स थे, जिनका मसल इस वक्त हिन्दुस्तान में नहीं हैं, और हरेक शख्स को उनकी वफात का गम करना लाजिम है, कि ऐसा बेनजीर शख्स इनके दर्मियान से जाता रहा।" इस सम्मति को समझदार मुसलमानों की सम्मति का एक नमूना समझा जा सकता है।

अन्तिम दिनों में स्वामीजी का थ्योसोफिस्टों से बहुत मतभेद हो गया था, परन्तु मृत्युपर थ्योसाफिकल सोसायटी के नेताओं ने बड़ी सहृदयता से दुःख का प्रकाश करते हुए आन्तरिक भक्ति का प्रमाण दिया। स्वामीजी की मृत्यु के समाचार पर थ्यासोफी के मुखपत्र 'थ्योसोफिस्ट' ने हृदय के उद्गार निम्नलिखित शब्दों में प्रगट किये थे-'एक महान् आत्मा भारत वर्ष से चल बसी। प० दयानन्द सरस्वतीजी जिन्होंने आर्यावर्त में आर्यसमाज की बुनियाद रखी थी, और इसके सबसे बड़े रुक्न या मुखिया थे, आज दुनिया से कूच कर गये। वह निडर और सरगर्मी से काम करने वाला रिफार्मर जिसकी जबर्दस्त आवाज और पुरजोश वक्तृत्वशक्ति से भारतके हजारों आदमी गत कई वर्षों के समय में प्रमाद और आलस्य के गढ़े से निकल कर देशभक्ति के झण्डे तले आ गये थे, आज भारत को वियोग से दुःखी करके स्वर्ग को चले गये।'

थ्योसाफिकल सोसायटी के संस्थापक कर्नल अल्काट ने लिखा था, 'स्वामी जी महाराज निःसन्देह एक महान् पुरुष और संस्कृत के बड़े विद्वान् थे। उनमें ऊंचे दर्जे की योग्यता, दृढ़ निश्चय और आत्मिक विश्वास का निवास था। वह मनुष्यजाति के

मायाचार थे। ये अत्यन्त सुशील शिष्टाचार के बड़े मधुर स्वभाव और हमारे शास्त्रों के बड़े भारी जानकार थे। हमारे दिमाग पर उनका बड़ा गहरा असर पड़ा है।'

ईसाई लोगों से स्वामी जी का बहुत विवाद रहता था क्योंकि ईसाइयत की निन्दा का उत्तरीय भारत में सबसे बड़ा दयानन्द ही था। मृत्यु पर ईसाइयों की ओर से भी हार्दिक दुःख ही प्रकाशित किया गया। विलायत में समाचार पहुँचा। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० मैक्समूलर ने 'पालमाल गजट' में एक लेख लिखा। इस लेख में प्रोफेसर महोदय ने स्वीकार किया कि स्वामी जी वैदिक साहित्य के बड़े भारी पंडित थे और प्रसिद्ध सुधारक थे। प्रोफेसर साहिब ने लिखा है कि जहां कहीं भी शास्त्रार्थ हुआ, स्वामी दयानन्द का ही विजय हुआ। देश के सभी समाचारपत्रों ने ऋषि की मृत्यु को देश का परम दुर्भाग्य बतलाया। इस प्रकार देशभर द्वारा कृतज्ञता प्रकट स्मरण किये हुए ऋषि दयानन्द ने दीवाली की रात को असमय भारत भूमि को छोड़ कर परलोक की यात्रा की।

अठारहवां परिच्छेद

आर्यसमाज का संगठन

इस खण्ड को समाप्त करने से पूर्व आवश्यक प्रतीत होता है कि ऋषि दयानन्द आर्यसमाज को जो संगठन दे गये थे, उसपर थोड़ा सा विचार करें। ऋषि दयानन्द अपने पीछे आर्यसमाजों को, अपने ग्रन्थों को, अपने चरित्र को, और कई शिष्यों को छोड़ गए थे, इनमें से हरेक उनका स्मारक है, परन्तु जिस स्मारक की स्थिरता सब से अधिक है, वह आर्यसमाज है। आर्यसमाज ऋषि दयानन्द का स्मारक ही नहीं, वह ऋषि का प्रतिनिधि भी है। ग्रन्थों की, सिद्धान्तों की, संस्थाओं की और वस्तुतः वर्गों की रक्षा का बोझ आर्यसमाज पर है। ऋषि दयानन्द ने अपने पीछे अपना प्रतिनिधि आर्यसमाज को बनाया है, इस परिच्छेद में देखना है कि वह प्रतिनिधि बनने के योग्य भी था या नहीं ?

आर्यसमाज के संगठन के सम्बन्ध में स्वयं आर्यसमाजियों में मतभेद है। अनेक विद्वान् आर्यपुरुषों ने भी वर्तमान संगठन (Constitution) से असन्तोष प्रकट किया है। ऋषि दयानन्द के किसी कार्य से असन्तोष प्रकट करना उचित न समझ कर उन महानुभावों ने आर्य समाज के वर्तमान नियमों तथा उपनियमों के लिये किसी ऐसे सज्जन को दोषी ठहरा दिया है, जिसे वह बुरा समझते थे। यहां तक कि आर्य-समाज के एक इतिहासलेखक ने तो आर्यसमाज के वर्तमान संगठन को ही बहुत से वर्तमान दुःखों का मूल मान लिया है।

यह मानना पड़ेगा कि आर्यसमाज का वर्तमान संगठन धार्मिक संसार में नया है। इससे पूर्व किसी धार्मिक समाज में प्रजासत्तात्मक शासनप्रणाली का ऐसा पूर्णता से प्रयोग नहीं किया गया। प्रायः सब मत किसी एक अलौकिक असर के नीचे रहते हैं। रोमन कैथोलिक ईसाई रोम के पोप को अपने धर्म का गुरु मानते हैं, इस्लाम की नज़र पहले खलीफ़ा की ओर लगी रहती थी, अब मक्के की ओर लगी हुई है। बौद्ध भिक्षुओं के चुनाव में किसी जनमत का स्थान नहीं है। प्रोटेस्टेण्ट-ईसाई-मत यद्यपि प्रायः राजकीय शक्ति पर भरोसा रखता है तो भी यह मानना पड़ेगा कि प्रोटेस्टेण्ट

धर्म के मुख्य प्रश्नों के अनुसार ही मत ईसाइयों का कोई हाथ नहीं होता। धर्म के विषय में जो आधार था वह सिद्ध हुआ। ऋषि दयानन्द ने पूरे रूप में एक जगह स्वीकार किया गया था। इसमें सुन्दर, साधु पुरुष, पादरी आ चलता हुआ, यह मिलकर था वह ये हुए थे, परन्तु जब राजनीति तथा सम्प्रदाय का उन्माद और अन्धकार के झगड़े में एकतन्त्रीय शासन का अन्तिम परिणाम हुआ था, वहाँ उन्होंने को लिया गया अधिकारियों के निर्देश के लिये भी अनेक प्रकार काम ली गई। हमारा भला और उपयोगिता की टक्कर में इस्लाम का प्रजातन्त्रात्मक रूप दूसरा गया।

भारतवर्ष के लिये राजनीति में भी प्रजातन्त्रवाद नया था। कभी किसी स्थान पर उसका पूर्णरूप प्रकाश नहीं हुआ था। ब्रिटिश साम्राज्य यद्यपि भारत पर कहीं प्रजातन्त्र प्रणाली बहुत स्थापित कर रहा था। और तो और, स्वराज्य बिल में भी पूर्ण प्रजातन्त्र का शासन नहीं था। राजा का राजा प्रजा का चुना हुआ नहीं होता, अधिकतर वंश का चुना हुआ होता है। राजा के घर में जो लड़का पहले पैदा हो गया, वही राजगद्दी का अधिकारी बन जाता है। इससे आप दयानन्द की बुद्धि का अद्भुत चमत्कार कहना चाहिये कि उन्होंने धर्म के क्षेत्र में उस सिद्धान्त का पूर्णता के साथ प्रयोग किया, जिसे अन्य धर्म तो क्या, राजनीति भी अभी दूर से ही देखती थी। मानते सब थे, परन्तु प्रयोग में नहीं ला सकते थे। समझा जाता था कि प्रजातन्त्रात्मक शासन को चलाने के लिये सदियों के शिक्षण की आवश्यकता है। भारतवासी तो क्या, उनसे अधिक शिक्षित लोग भी काम में नहीं ला सकते थे। ऋषि दयानन्द ने उस सिद्धान्त को केवल भली प्रकार समझा ही नहीं, उसे व्यवहार में आर्यसमाज के रूप में परिणत भी कर लिया, और यह सब कुछ अंग्रेजी और पाश्चात्य शिक्षा से अपरिचित होते हुए किया। यदि ऋषि की दूरदर्शिता में किसी को सन्देह हो तो केवल एक इसी दृष्टान्त से उसका संशय दूर हो सकता है।

जो लोग आर्यसमाज के प्रजातन्त्रात्मक संगठन के गुणों या दोषों के लिये दूसरों को उत्तरदाता ठहराना चाहते हैं, वह ऋषि दयानन्द के साथ अन्याय करते हैं। शायद वह लोग चाहते हैं कि किसी दूसरे व्यक्ति को उत्तरदाता ठहरा देने से उन्हें समालोचना करने की स्वाधीनता मिल जायगी, और ऋषि दयानन्द के ऊपर दोष नहीं लगेगा, परन्तु उनकी ऋषि के प्रति यह भक्ति वस्तुतः उनसे ऋषि पर बहुत बड़ा आक्षेप करवाती है। उनके कथन का यही तात्पर्य हो सकता है कि ऋषि दयानन्द अपनी कोई सम्मति नहीं रखते थे। आर्यसमाज के संगठन जैसे आवश्यक

विषय पर उन्होंने किसी दूसरे की तान पर ही गा दिया है, स्वतन्त्र बुद्धि का प्रयोग नहीं किया। जिस पुरुष ने संसार की पर्वा न करके एक नया रास्ता निकाल दिया है, उसके सम्बन्ध में यह कहना कि उसने किसी दूसरे के कहने से आर्य समाज का स्थायी संगठन बना दिया है, लान्छन लगाने से कम नहीं है। सम्मति तो सभी लोग लेते हैं, परन्तु चुनाव अपने अधीन होना चाहिये। जो आदमी ऋषि के चरित्र को ध्यान से पढ़ेगा वह निश्चयपूर्वक कह उठेगा कि हरेक विषय में इतिकर्तव्यता का चुनाव ऋषि दयानन्द अपनी मर्जी से किया करते थे।

परन्तु ऋषि दयानन्द ने आर्य समाज का जो संगठन बनाया है, क्या वह सचमुच इस योग्य है कि किसी दूसरे को उसके बनाने का अपराधी ठहराया जाय ? क्या वह आर्य समाज की उन्नति में बाधक हुआ है ?

लेखक की राय है कि आर्य समाज का जो संगठन ऋषि दयानन्द ने बनाया है, वह बहुत उत्तम है। उससे भारतवर्ष की ही नहीं, अन्य देशों की धार्मिक तथा राज्य-संस्थायें भी शिक्षा लेसकती हैं। समय के अनुसार जो छोटे मोटे परिवर्तन आवश्यक होते जाय उन्हें करडाला जाय, परन्तु प्रधान अंशों में वर्तमान संगठन श्रेष्ठ है।

आर्य समाज के संगठन की श्रेष्ठता पर लिखने से पूर्व आवश्यक प्रतीत होता है कि कुछ शब्द इस विषय पर लिखे जाय कि आर्यसमाज क्या वस्तु है ? क्या वैदिक धर्मी मात्र के समूह का नाम आर्य समाज है ? या वैदिक धर्म के प्रचार के लिये जो सोसायटी बनाई गई है वह आर्यसमाज है ? दोनों प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट हैं। यह आवश्यक नहीं कि वैदिकधर्मी मात्र आर्यसमाज के सभ्य हों, क्योंकि आर्यसमाज के सभ्य होने के लिये चन्दे की शर्त लाजमी है। सन्यासी चन्दा नहीं दे सकते, और न गरीब लोग दे सकते हैं, ऐसी दशा में वह लोग सामान्यतया आर्यसमाज के सभासद् नहीं बन सकते। तब क्या वह वैदिकधर्मी नहीं हैं ? वह वैदिकधर्मी अवश्य हैं। आर्यसमाज से बाहिर भी वैदिक धर्मी है, और हमेशा रहेंगे। आर्यजगत् आर्यसमाज तक परिमित नहीं है। आर्यसमाज तो उन लोगों की संस्था है जो वैदिकधर्म के प्रचार की अभिलाषा रखते हुए संगठन में शामिल होते हैं।

दृष्टान्त से यह विषय और अधिक स्पष्ट हो जाता है। एक शहर में ३ लाख निवासी निवास करते हैं। उनमें से वोट देने के अधिकारी केवल २५ हजार हैं और उनमें से भी म्युनिसिपल कमेटी के चुनाव में केवल १० हजार निवासी भाग लेते हैं ऐसी दशा में क्या वह १० हजार निवासी ही शहर के निवासी समझे जायँगे ?

उत्तर 'हां' में नहीं हो सकता। इसी प्रकार आगे चलकर आर्य समाज से पृथक् हैं आर्य समाज शब्द भी दो अभिप्रायों से प्रयुक्त होता है। सामान्यतया प्रत्येक वैदिकधर्मी—ऋषि दयानन्द की शिक्षाओं को स्वीकार करनेवाला हरेक व्यक्ति आर्यसमाजी माना जाता है। आर्यजगत् के लिये आर्यसमाज शब्द का प्रयोग होता है। यह विस्तृत आर्यसमाज है।

आर्य समाज एक निश्चित संगठन भी है। यह आवश्यक नहीं कि हरेक वैदिक-धर्मी आर्यसमाज में सम्मिलित भी हो। आर्यसमाज से बाहिर भी वैदिकधर्मी रह सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्य समाज उन वैदिकधर्मियों का संघ है, जो वैदिक शिक्षाओं के प्रचार और रक्षार्थ इकट्ठे हुए हैं। वैदिकधर्मियों का संघ आर्यसमाज से बहुत बड़ा है। यदि आर्यजगत् और आर्य समाज के भेद को इस प्रकार से समझ लें तो यह आक्षेप करने का अवसर नहीं रहता कि संगठन ने आर्य समाज को संकुचित बना दिया है। संकुचित बनाने का दोष आर्यसमाज के नियमों के बनानेवालों के सिर नहीं मढ़ा जा सकता, यह दोष तो हम लोगों का है जो वैदिक धर्म को आर्य समाज तक परिमित मान बैठे हैं। यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि वैदिक धर्मियों का संघ आर्यसमाज की संख्या से अधिक विस्तृत है, और आर्य-समाज उन लोगों का संगठन है जो वैदिक धर्म के प्रचार तथा रक्षा के लिये सभा में सम्मिलित होने की इच्छा रखते हैं तो सम्पूर्ण कठिनाई दूर हो जाती है। उस दशा में आर्यसमाजका संगठन अत्यन्त उत्कृष्ट प्रतीत होगा।

आर्यसमाज के वर्तमान संगठन की पूर्णता और सुन्दरता को वे लोग भली प्रकार समझ सकते हैं, जिन्होंने भिन्न २ देशों की राजनैतिक और धार्मिक संस्थाओं का अनुशीलन किया हो। थोड़ी बहुत बातों में समयानुकूल परिवर्तन होते ही रहते हैं, परन्तु सामान्य सिद्धान्त में प्रतिनिधित्व की दृष्टि से आर्यसमाज का संगठन एक प्रकार से आदर्श है। सभासद बनने की शर्त यह है कि ग्यारह मास तक चन्दा देने-वाला सभ्य रहा हो। चन्दा आमदनी का शतांश है। गरीब से गरीब आर्यसमाज का सभ्य रह सकता है क्योंकि वोट के अधिकारी होने के लिए कोई राशि निश्चित नहीं है, छोटी से छोटी आमदनी का शतांश है। यही कारण है कि आर्यसमाज कभी अमीरों का संघ नहीं बन सकता। अधिकारियों का चुनाव प्रतिवर्ष होता है। प्रतिनिधियों का चुनाव तीसरे वर्ष आवश्यक है। सर्वसाधारण की सम्मति को जितनी अच्छी तरह आर्यसमाज के नियमानुसार बनी हुई सभायें प्रतिबिम्बित करती हैं शायद ही दूसरी कोई सभायें करती हों। स्विजरलैंड और अमरीका को तो छोड़ दीजिये,

साधारणतया अन्यदेशों के राजनीतिक सगठन भी लोकमत के ऐसे अच्छे प्रतिनिधि नहीं हैं। सगठन के मजबूत होने का ही यह फल है कि बीसियों धार्मिक और राजनीतिक चोटों को खाकर भी आर्य समाज की शक्ति वैसी ही बनी हुई है।

आर्यसमाज के सगठन पर एक आक्षेप हो सकता है। एक धार्मिकसंस्था के धर्म-सम्बन्धी प्रश्नों को हल करने के लिये जिस प्रकार के प्रबन्ध की आवश्यकता है, वह आर्यसमाज में नहीं है। आर्यसभासदों, आर्य प्रतिनिधि सभाओं या सार्वदेशिक सभा के सभ्यों तथा अधिकारियों में किसी के लिये धार्मिक योग्यता आवश्यक नहीं है। परिणाम यह है कि सम्पूर्ण आर्य समाज में एक भी प्रामाणिक सभा ऐसी नहीं है, जो आर्य जनता का धार्मिकनेतृत्व कर सके। इसका उपाय करने के कई यत्न हुए हैं। कहीं विद्वत्परिषद् बनी है, तो कहीं आर्यधर्मसभा की स्थापना हुई है। इसे कई सज्जन सगठन की अपूर्णता कह सकते हैं, परन्तु लेखक की राय है कि सगठन का इतना दोष नहीं, जितना आर्यसभासदों का है। आर्यप्रतिनिधिसभाओं में ऐसे विद्वानों को अधिक सख्या को भेजना, जो धर्म के विषय में राय देने का अधिकार रखते हों, आर्य सभासदों का कर्तव्य है। नियमों का इतना ही दोष है कि उन्होंने सम्मति देने वालों को यह स्पष्टता से नहीं बताया कि वह कैसे व्यक्तियों को अपने प्रतिनिधि चुनें, किन्तु समझदार पुरुषों को इतने विस्तृत निर्देश की आवश्यकता भी नहीं रहती। आज यदि आर्यसमाज के प्रबन्ध में व्यावहारिक पुरुषों की प्रधानता दिखाई देती है तो उसका कारण केवल आर्यसभासदों की उपेक्षादृष्टि है। आर्यप्रतिनिधिसभाओं के साथ किसी दूसरी समानान्तर सभा को स्थापित करने का विचार उस आशय के विरुद्ध है, जो ऋषि दयानन्द के चित्त में था।

ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज का जो सगठन बनाया है उसकी मुख्य विशेषतायें दो हैं। वह बिल्कुल स्वाधीन और अपने आपमें सम्पूर्ण है, और साथ ही लोकमत का सच्चा प्रतिनिधि है। आर्यसमाज अपने सभासदों की भलाई के लिये किसी अन्य सगठन की अपेक्षा नहीं करता। यदि अवसर आ पड़े तो वह अपने सभासदों की सामाजिक धार्मिक और राजनीतिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है। वह लोकमत को प्रतिबिम्बित करने का उत्तम साधन है। यही दो कारण हैं कि वह स्थिर है। यदि आर्यसमाज का ऐसा अच्छा सगठन न होता तो जो जबरदस्त झकोरे इसे गिराने के लिये आते रहे हैं वह कभी के कामयाब हो गये होते।

तृतीय-खण्ड

१८८३—१८९० ई०

पहिला परिच्छेद

भविष्य के अंकुर

[३० अक्तूबर १८८३ ई० से ३१ दिसम्बर १८८३ ई० तक]

१ मृत्यु का प्रभाव

ऋषि दयानन्द की मृत्यु आकस्मिक वज्र की भांति आर्यसमाज के सिर पर गिरी। ब्रह्मचारी और योगी के सम्बन्ध में आर्य पुरुषों की भावना थी कि वह कम से एक सौ वर्ष तक जियेंगे। वे उस बालक की भांति निश्चिन्त थे, जो समझता है कि अभी पिता की छत्रछाया सिर पर विद्यमान रहेगी। उन्हें यह ध्यान भी नहीं था कि एक दम उन के सिर पर से ऋषि का रक्षक हाथ उठ जायगा। मृत्यु का धक्का पहले पहल में असह्य प्रतीत हुआ। आर्यसमाज के सभासदों के हाथ में जो समाचार पत्र थे, उन के उस समय के लेखों से विदित होता है कि ऋषि की मृत्यु के समाचार ने एक बार तो उन के हाथपांव फुला दिये। मेरठ के आर्यसमाचार ने दु:खसमाचार सुनाते हुए एक लेख प्रकाशित किया था। उस के निम्नलिखित वाक्य उस निराशा के भाव को सूचित करते हैं जिसका आर्यपुरुष अनुभव कर रहे थे।

'रो, रो, ऐ बदबख्त आर्यावर्त! खूब दिल खोल कर रो ले। आज तेरा फज़ीलियत का सूरज गरूब हो गया। जिस जुल्मातेजहालत ने तुझको इस नौबत पर पहुंचाया था उससे ज्यादा ज़माना स्याह इस वक्त तेरी नज़र के रोबरू मौजूद है। जिस फख्रे मुल्क पर तुझ को नाज़ था, वही आज तुझ में से उठ चला। लाख्वा तमन्नाओं का खून हो गया'—इत्यादि।

लाहौर के देशोपकारक ने निम्नलिखित पंक्तियों में अपनी असह्य वेदना को प्रगट किया था —

'ऐ आर्यावर्त! तेरी बदकिस्मती पर मुझे रोना आता है। ऐ आर्यावर्त! तेरी यतीमी पर मेरा दिल खून होता है। ऐ आर्यावर्त! तेरी बेकसी पर मुझे गैरत आती

है। ऐ आयावर्त। तेरी बेपरवाही पर मेरा दिल कुम्हलाया जाता है। कैसी जल्दी तेरे प्यार के सरचश्मे को मन्द मार दिया गया'

ये दो उदाहरण इस बात को साफ कर देने के लिये पर्याप्त हैं कि ऋषि की मृत्यु का आर्यजाति पर पहला असर बहुत ही निराशाजनक हुआ। वे अपने आप आप को बेपर के पक्षी की तरह असमर्थ समझने लगे। आर्यसमाज के आकाश में घोर अंधियारी सी छा गई। अब तक हरेक कठिनाई का हल 'स्वामी जी' थे, अब कठिनाइयों का पहाड़ आंखों के सामने आने लगा। काम अधूरा रह गया, रास्ता बीच ही में कट गया, आर्यपुरुषों को भान होने लगा कि आर्यसमाज की नौका मझधार में फंस गई, अब इसका निकलना दुष्कर है।

७ उत्तरदायित्व का अनुभव

परन्तु शीघ्र ही आर्यसमाज के सामान्य समझ गये। ऋषि की स्मृति से ऋषि का उपदेश जबर्दस्त निकला। ऋषि की स्मृति भी उपदेश व प्रभाव को बढ़ाने का कारण बन गई। पहले धक्के का मोहक असर दूर होते ही आर्य पुरुषों के हृदयों में एक नया भाव उत्पन्न होने लगा। वह नया भाव था, उत्तरदायित्व का भाव। अब तक आर्य पुरुष अपना आप को नाबालिग समझते थे। वे करते सब कुछ थे, परन्तु इसी विचार से प्रेरित होकर करते थे कि दुनिया और दूसरी दुनिया के स्वामियों के सामने उत्तरदाता 'स्वामीजी' होंगे। ऋषि की मृत्यु का पहला प्रभाव दूर होते ही उत्तरदायित्व के अनुभव ने आर्य-पुरुषों के हृदय में धीरे धीरे प्रवेश किया। वह समय आर्य-पुरुषों की परीक्षा का था, आर्यसमाज के भाग्य निर्णय का था। यदि ऋषि की मृत्युका यह प्रभाव होता कि आर्य-पुरुष साल दो साल के लिये भी अकर्मण्य होकर बैठ जाते तो सिद्ध हो जाता कि स्वामी दयानन्द ने आर्यपुरुषों को जो गुरु सिखाया था वह असत्य था, अपूर्ण था। यदि आर्य पुरुष ऋषि के स्वर्गलोक से प्रयाण करते ही उन के स्थान पर किसी आचार्य की तलाश करने लगते तो वे अपने आप को नाबालिग सिद्ध कर देते और दुनिया को यह दिखाते कि दयानन्द के उपदेश उनकी जिह्वा पर ही हैं, उन के हृदयों पर नहीं। ऋषि के मरने पर हम हर्ष-पूर्ण आश्चर्य के साथ देखते हैं कि एक भी आर्य पुरुष यह शब्द नहीं उठाता कि ऋषि की स्थान-पूर्ति के लिये किसी व्यक्ति की तलाश करनी चाहिये। ऋषि दयानन्द आर्यसमाज का एक प्रजा-सत्तात्मक संगठन बनाना चाहते थे, समाज की नींव में आचार्यन समष्टि के भाव को भरा था। यदि ऋषि के अलग होते ही आर्य पुरुष उस सिद्धान्त को भूल जाते,

तो आर्यसमाज का इतिहास किसी दूसरी ही तरह लिखा जाता। उस दशा में आर्य-समाज का इतिहास इस्लाम या ब्रह्मोसमाज के समान व्यक्तियों का इतिहास होता, जाति का इतिहास नहीं। आर्यसमाज परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया। उसने ऋषि की स्मृति को स्थिर करने का यही सही उपाय समझा कि ऋषि के उपदेश को सर्वोपरि रक्खा जाय।

स्वामी जी की अकालमृत्यु से जो मूर्छा उत्पन्न हुई थी, वह शीघ्र ही जाती रही और आर्य-जनता ने अपने आप को बालिग मान कर उत्तर-दायित्व का अनुभव किया। ईश्वर को आचार्य और पथदर्शक बनाकर शीघ्र ही आर्य पुरुष ऋषि के उद्देश्य की पूर्ति के लिये कटि बद्ध हो गये।

२ ऋषि स्मारक

ऋषि की मृत्यु के पीछे चेतना पैदा होने पर जो पहला विचार आर्यजगत् में पैदा हुआ, वह यह था कि आचार्य की स्मृति को कैसे ताजा किया जाय। इस विषय में आर्य-जगत् की परीक्षा थी। स्वभाव से मनुष्य अपने प्रिय की स्मृति को स्थूलरूप में चिरञ्जीवी बनाना चाहता है। वह ऐसा स्मारक चाहता है जो शानदार भी हो, और सरल भी हो। किसी की याद में किताब लिख देना सरल हो सकता है पर स्थूलदृष्टि से पुस्तक शानदार नहीं है, अपने प्रिय की याद में चीन की दीवार खड़ी कर देना शानदार कहा सकता है परन्तु सरल नहीं है। साधारण मनुष्य दोनों गुणों को देखता है और किसी स्तूप, किसी मकबरे या किसी महल के रूप में स्मृति को अमर करने का यत्न करता है। ऋषि दयानन्द ने उदयपुर में कविराज श्यामलदास जी से कहा था कि—"मेरे मरने के पश्चात् मेरी अस्थियों को किसी खेत में डाल देना, कोई समाधि या कोई चिन्ह कदापि न बनाना।" कविराज ने कहा कि—"महाराज! मैंने तो यह सोच रक्खा था कि अपनी एक पत्थर की मूर्ति बनवाऊं और उसे किसी जगह रखवाऊं, ताकि मेरे पश्चात् वह मेरा स्मारक समझा जाय।" स्वामी जी ने कहा कि—"देखना कविराज जी! ऐसा भूलकर भी मत करना यह यहां तो मूर्ति-पूजा की जड़ हुआ करती है।" ऋषि का यह उपदेश था। वह शानदार से शानदार और सरल से सरल भी ऐसे स्मारक को पसन्द नहीं करते थे, जिस में मूर्ति पूजा की प्रथा पायी जा सके। यदि आर्यजनता ऋषि की यादगार में कोई स्तूप या मकबरा बना देती तो आज हिन्दू स्त्रियां उस पर फूल और बताशे चढ़ा कर अपने जीवनों को सफल मान रही होतीं।

भारतीय समाज ने ऋषि दयानन्द के आशय को खूब समझ लिया, और स्मारक की ऊपर बताई हुई दो शर्तों के साथ एक तीसरी शर्त और जोड़ दी। यह शर्त यह थी कि स्मारक शानदार और सरल होने के साथ ही साथ उपयोगी भी हो। अजमेर से लौटकर आर्य-पुरुषों ने अपने स्थानों पर स्मारक की चर्चा प्रारम्भ की। अजमेर, प्रयाग, मेरठ, फीरोजपुर, मुलतान और लाहौर में यह चर्चा अधिक वेग के साथ होने लगी। प्रायः सभी स्थानों में इसका रूप एक सा था। यह आश्चर्य की बात है। चर्चा यही थी कि ऋषि की यादगार शिक्षणालय के रूप में स्थापित की जाय। इससे सूचित होता है कि आर्यसमाज की शिक्षा ही दिखावे के स्मारक के विरुद्ध थी। यह ठीक है कि परोपकारिणी में एक बार दिखावे के स्मारक की चर्चा आरम्भ हुई थी, परन्तु याद रखना चाहिये कि परोपकारिणी सभा में सौ फीसदी आर्यसामाजिक विचारों का राज्य नहीं था। आर्यजनता का दिमाग ही ऐसे ढंग का बना हुआ था कि वह स्मारकरूप में वैदिक शिक्षणालय से उत्तम वस्तु नहीं सोच सकती थी।

स्मारक की चर्चा कहीं पाठशाला के रूप में घनीभूत हुई तो कहीं स्कूल के रूप में परिणत हुई। मेरठ में हम सुशिक्षाप्रचारिणी नाम की सभा, और आर्यपाठशाला नाम की पाठशाला का वृत्तान्त पढ़ते हैं। प्रयाग में किसी न किसी रूप में पाठशाला का कार्य जारी रहा। अजमेर में परोपकारिणी सभा में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुये उनकी चर्चा हम आगे करेंगे। पञ्जाब में स्मारक की चर्चा तीन स्थानों पर आरम्भ हुई थी, परन्तु लाहौर के सिवा अन्य किसी स्थान पर वह घनीभूत नहीं हो सकी। लाहौर में वह शीघ्र ही घनीभूत हो गई, और साहस के साथ कहा जा सकता है कि कल्पनातीत शीघ्रता से लाहौरनिवासियों ने अपने आप को स्वामी जी के सच्चे भक्त सिद्ध कर दिया।

४ वैदिक शिक्षणालय

ऋषि दयानन्द के जीवनकाल में ही वैदिकग्रन्थों की शिक्षा का प्रचार करने के लिये एक शिक्षणालय की आवश्यकता का अनुभव हो रहा था। ऋषि दयानन्द ब्रह्मचर्य और सत्यशिक्षा के अभाव को ही भारतवर्ष की गिरावट का कारण समझते थे। काशी में, फर्रुखाबाद में ऋषि ने पाठशालायें स्थापित की थीं, परन्तु प्रतीत होता है कि उस समय तक अभी आर्यजनता में इतनी जागृति पैदा नहीं हुई थी कि वह उस बोझ को उठाने के लिये उद्यत होती। अभी शिक्षणालयों का समय नहीं आया था। लोग अनुभव कर रहे थे कि जब तक स्वामी जी जीवित हैं तब तक आर्यसमाज में देखरेख की न्यूनता नहीं कही जा सकती। स्वामी जी के जीवन का अन्त हो सकता है—आर्य

पुरुषों के दिमाग में यह बात नहीं समाई था। वे जानते थे कि आदित्य ब्रह्मचारी सौ साल से पहले नहीं मर सकता। उन्हें क्या मालूम थी कि संसार में ऐसे पुरुष भी वास करते हैं जो मनुष्य जाति के उपकारकों का प्राणसंहरण करने में सुख का अनुभव करते हैं।

ऐसी दशा में भी आर्यपुरुष यह अवश्य समझ रहे थे कि वैदिक ग्रन्थों की शिक्षा का प्रबन्ध करना पड़ेगा। १८८२ और १८८३ ई० के पूर्वभाग में पञ्जाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश के आर्यसमाचारपत्रों में वैदिक शिक्षणालय की आवश्यकता पर लेख निकलते रहते थे। लाहौर के 'आर्य' नाम के अखबार में १८८२ ई० के मई मास में हम ऐंग्लोवैदिक स्कूल की आवश्यकता पर एक लेख पढ़ते हैं। १८८२ ई० के मई मास में ऐंग्लोवैदिक स्कूल की चर्चा सिद्ध करती है कि दो बातें पहले से मानी जा चुकी थीं। एक ऐसे शिक्षणालय की आवश्यकता है जो वैदिक ग्रन्थों की शिक्षा दे सके, और वह शिक्षणालय ऐसा होना चाहिये कि जिसमें अंग्रेजी भाषा और पश्चिम की अर्वाचीन विद्याओं की शिक्षा का भी प्रबन्ध हो।

ऋषि की मृत्यु ने इन दो बातों के साथ एक तीसरी यह बात शामिल कर दी कि यह शिक्षणालय ऋषि का स्मारक भी हो।

५. डी. ए. वी. स्कूल का प्रस्ताव

३० अक्तूबर (१८८३ ई०) की रात्रि को अजमेर में वैदिक सूर्य अस्त हुआ। उस समय अजमेर में पञ्जाब के बहुत से महानुभाव भी विद्यमान थे। प० गुरुदत्त जी और ला० जीवनदास जी ने ऋषि के जीवननाटक पर पटाक्षेप होते देखा, और लाहौर पहुंच कर ९ नवम्बर को सार्वजनिक सभा में आंखों से जो अद्भुत मृत्युमय जीवन देखा था उसका वृत्तान्त जनता को कह सुनाया। सुनने और कहनेवालों की यह दशा थी कि आंखें डबडबा रही थीं, गले भरे हुये थे, सभा में एक सन्नाटे का राज्य था, जिसे देखकर यह अनुमान करना कठिन नहीं था कि आर्यसमाज पर जो आपत्ति आई, वह अनाशंकित थी। सात दिन पीछे ८ नवम्बर को फिर लाहौर के आर्यपुरुषों की एक सभा हुई। उस दिन दृश्य ही बदला हुआ था। शोक के स्थान पर उत्साह और जोश का राज्य हो रहा था। प० गुरुदत्त एम० ए० और उनके साथियों ने भावपूर्ण शब्दों में प्रस्ताव किया कि ऋषि की यादगार में ऐंग्लो वैदिक स्कूल तथा कालिज द्वारा स्थिर किया जाय। सारी उपस्थित जनता ने प्रस्ताव को पास किया। उसी समय चन्दे के लिये अभ्यर्थना की गई। उस समय तक उत्तम कार्यों के लिये दान देने की प्रथा नहीं चली थी। अभी तक दान के लिये पण्डों के पेट और तीर्थों में

बड़ी दान देने वाले सज्जन ज्ञात थे। उस समय सार्वजनिक कार्यों के लिये ५) दान भी विशेष महत्व रखता था। इस दान की चर्चा धन्यवाद के साथ समाचार पत्रों में की जाती थी। इस सभा में ८०००) का दान सुनाया गया, जिसे हम आजकल की दृष्टि से लगभग ८००००) से कम नहीं समझना चाहिये। दानदाताओं की सूची में कई स्त्रियों और बच्चों के भी नाम मिलते हैं, जिनसे उत्साह का अनुमान लगाया जा सकता है। लाहौर के आर्यसमाज की अन्तरंग सभा ने दो दिन पूर्व डी० ए० वी० स्कूल के लिये धन एकत्र करने के लिये एक सब-कमेटी बनाई थी, जिसके निम्नलिखित सभासद थे —

लाला लालचन्द एम० ए०, लाला मदनसिंह बी० ए०, लाला जीवन दास, पं० गुरुदत्त एम० ए०।

यह सब-कमेटी धन संग्रह के लिये बनी थी, परन्तु यह कहना कुछ अत्युक्ति-पूर्ण न होगा कि डी० ए० वी० स्कूल की स्थापना के लिये जितना उत्साह उत्पन्न हो गया था, उसका उपयोग भी न होता यदि लाहौर के महानुभावों को यह मालूम न हुआ होता कि एक योग्य आर्य नवयुवक उस श्रेष्ठ कार्य के लिये अपना जीवन अर्पण करने को तैयार है। उस आर्य नव-युवक का नाम 'हंसराज' था। लाला हंसराज ने अभी हाल ही में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ पंजाब यूनिवर्सिटी से बी० ए० पास किया था। उसके सामने नौकरी या व्यापार का मैदान खुला था। परन्तु सांसारिक इच्छाओं को लात मारकर उस त्यागी नव-युवक ने धर्म-यज्ञ में अपने जीवन की आहुति डालने का संकल्प किया। बताने की आवश्यकता नहीं कि उस संकल्प ने आर्यपुरुषों के उत्साह को कितना बढ़ाया होगा। उस दृष्टान्त ने पंजाब में आर्यसमाज के जीवन पर कैसा उत्तम प्रभाव डाला, आर्यसमाज के इतिहास के जाननेवाले इसे खूब जानते हैं।

६. प्रचार का क्रम

एक बार तो ऐसा प्रतीत हुआ कि शायद प्रचार का कार्य स्वामी जी की मृत्यु के साथ ही बन्द हो जायगा, परन्तु शीघ्र ही एक महानुभाव खड़े हो गए, जिन्होंने प्रचार की हटती हुई डोर में गांठ बाँध दी। इस समय के प्रचारकों में पहला नाम ऋषि के पट्टशिष्य स्वामी आत्मानन्द जी का है। १८८३ की समाप्ति होने से पूर्व ही हम स्वामी आत्मानन्द जी को अनेक आर्यसमाजों की स्थापना करते हुए पाते हैं। ऋषि की मृत्यु के डेढ़ मास पीछे ही स्वामी आत्मानन्द जी के उद्योग से नये आर्यसमाज की स्थापना हुई। उस समय देशभर में तीन ही शहरों में आर्यसमाज की अधिक शक्ति थी।

पञ्जाब में लाहौर, संयुक्त प्रदेश में मेरठ और पश्चिम में बम्बई। इन्हीं समाजों द्वारा प्रचार का कार्य शहरों या ग्रामों में प्रचार होता रहता था। किसी शास्त्रार्थ का मौका पड़ता था तो भी इन्हीं शहरों के आर्यपुरुष दलबलसहित जा पहुंचते थे।

७ अन्य मतवादियों से मुठभेड़

अन्य मतवादियों से मुठभेड़ आर्यसमाज को जन्मघुट्टी में ही दी गई थी। ऋषि दयानन्द ने चौमुखी लड़ाई लड़ कर आर्यपुरुषों को जन्मसिद्ध योद्धा बना दिया था। एक आर्यसमाजी बालक धुरन्धर सनातनी पण्डित को ललकारने में नहीं झिझकता था। उसे विश्वास था कि सत्य उसके साथ है, इस लिये जीत उसी की होगी। शास्त्रार्थों का क्रम ऋषि की मृत्यु के पीछे भी जारी रहा। १८८३ के अन्त में हम कलकत्ते के आर्यपुरुषों को मुसलमानों के साथ टक्कर हुआ पाते हैं। वृत्तान्त पढ़ने से ज्ञात होता है कि मौ० मुहम्मद बुलाल और मुन्शी अब्दुल्ला नाम के मुसलमान प्रचारक कलकत्ता में बहुत दिनों से शोर मचा रहे थे कि "हमने पण्डित दयानन्द के यह दांत खट्टे किये हैं कि याद रहेंगे" अन्त को कलकत्ता आर्यसमाज के सभासद पण्डित गोपीचन्द और ला० रुधीराम उनसे भिड़ गये। देर तक मुबाहिसा हुआ। जो परिणाम हुआ, उसे एक ब्राह्मसमाजी समाचार पत्र के संवाददाता ने इन शब्दों में बयान किया है—

"इस पर अहलेइस्लाम इधर उधर की बातें करने लगे, और लगे बगलें झांकने। इजामकार मुन्शियों ने यह फैसला दिया कि मौलवी साहिब से पंडित साहिब के सवालात का जवाब नहीं दिया गया, और फिर जल्सा बरखास्त हुआ" इस मुबाहिसे में मौ० बशीर हुसैन साहिब डिपुटी इन्सपेक्टर और इमशाई अहले इस्लाम की तरफ से और ला० मुन्नालाल साहिब डिपुटी इन्सपेक्टर कलकत्तासमाजवालों की ओर से मुन्सिफ नियत किये गये थे।

इस समय थ्यासोफिस्टों के साथ आर्यसमाज का संघर्ष जोर से चल रहा था, क्यों कि कर्नल अल्काट की समाज से जुदायगी अभी नई थी। पंजाब और युक्तप्रदेश के आर्यसमाचार पत्रों में थियासोफिस्टों की 'पोल खोलने' वाले लेख प्रायः प्रकाशित होते रहते थे।

बहुत से लोगों का विचार है कि विधर्मियों को शुद्ध करने की प्रथा नई है। आर्यसमाज पहले दिन से ही अन्य मतवादियों को अपने धर्म-मन्दिर में प्रविष्ट करने के लिए उद्यत रहा है। उसके किवाड़ खुले रहे हैं। वैशाख और ज्येष्ठ (१८८१) के आर्यसमाचार से हम निम्नलिखित सूचनाएं उद्धृत करते हैं—

(१) आर्यसमाज अमृतसर ने अब तक ३५ आदमियों को जो पहले ईसाई और मुसलमान बने हुए थे, आर्य बनाया।

(२) रियासत राजगढ़ में भी बहुत से मुसलमान आर्य बनाये गये।

(३) अख़बार विक्टोरिया पपर से वाज़ह हुआ कि आर्यसमाज रावलपिण्डी के उपदेश से दो साहिबान अहले इस्लाम ने मज़हब मुहम्मदी को तर्क करके वैदिक धर्म अख्तियार किया।

शुद्धि के सम्बन्ध में निम्नलिखित समाचार भी मनोरंजक है। "श्री महाराज साहिब बहादुर वालिए काश्मीर ने धर्मसभा में यह कानून पास कर दिया है कि जिस हिन्दू ने मज़हब गैर का अख्तियार किया हो, वह तीस बरस तक अपनी बिरादरी में शामिल हो सकता है। बनारस के पण्डितों ने भी इसकी ताईद में श्री महाराज काशीनरेश की सरपरस्ती से इस किस्म की व्यवस्था दी है,"

८. परोपकारिणी सभा का अधिवेशन

१८८३ ई० के प्रारम्भ में ऋषि दयानन्द मेवाड़ में धर्मोपदेश कर रहे थे। भविष्य का अतिक्रमण करनेवाली सूक्ष्मदृष्टि से अपने जीवननाटक का अन्तिम अङ्क समाप्तप्राय देख कर ऋषि ने उस समय परोपकारिणी सभा का निर्माण किया था। उसकी चर्चा हम दूसरे खण्ड में कर आये हैं। ऋषि दयानन्द का अन्तकाल समय से पूर्व ही आ गया, इस कारण समाज का जैसा संगठन वह बनाना चाहते थे, वैसा न बन सका। लेखक का विश्वास है कि यदि आर्यप्रतिनिधि सभा और सार्वदेशिक सभा बन चुकी होतीं तो परोपकारिणी सभा की स्थापना न होती, परन्तु जैसी परिस्थिति थी, उसे देखकर अपने कार्य को जारी रखने और ग्रन्थों की रक्षा करने के लिए ऋषि ने परोपकारिणी सभा को ही उचित साधन समझा। सभा में सभी ऐसे प्रान्तों के प्रतिनिधि रखने का उद्योग किया गया था, जिन में आर्यसमाज के पांव जम चुके थे।

परोपकारिणी जिस उद्देश्य से स्थापित हुई थी, वह पूर्ण हुआ या नहीं, यह इतिहास के अगले प्रसंग में ज्ञात हो जायगा, परन्तु इतना हम प्रारम्भ में ही कह देना चाहते हैं कि परोपकारिणी में आर्यसमाज का रईस-अंश ही शामिल था, और यही कारण था कि आर्यसमाज के प्रजासत्तात्मक संगठन के साथ परोपकारिणी ने कभी ठीक २ मेल नहीं खाया।

ऋषि की मृत्यु से दो मास पीछे अजमेर में परोपकारिणी सभा का पहला अधिवेशन हुआ। २८ दिसम्बर को दोपहर के दो बजे मेयो कालिज में बनी हुई मेवाड़

दरबार की कोठी में ऋषि की वसीयत के ट्रस्टी इकट्ठे हुए। उपस्थिति पर्याप्त थी। कई सभासद् प्रतिनिधि द्वारा उपस्थित थे। सभासदों ने ऋषि की वसीयत के अनुसार जिम्मेवारी का बोझ सिर पर लेना स्वीकार किया। मेरठ के रा० सा० रामसरनदास के स्थान पर महाराज श्री प्रतापसिंह जी भाई जी को नियुक्त किया गया। इसी प्रकार कुछ और पूर्तियां भी की गई। वैदिक प्रेस के सम्बन्ध में निश्चय हुआ कि उसे यथा सम्भव शीघ्र ही प्रयाग से अजमेर में लाया जाय। प्रेस के प्रबन्ध के लिये राव बहादुर रानडे, ठाकुर मसौदा, राय सुन्दरलाल, कविराज श्यामलदासजी प० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या तथा प्रधान आर्यसमाज अजमेर की उपसमिति बनाई गई। वेद भाष्य की छपाई की देख भाल के लिये पं० भीमसेन और प० ज्वालादत्त को वेतन पर रक्खा गया।

इस अधिवेशन मे एक प्रस्ताव बडे महत्व का हुआ। प० महादेव गोविन्द रानडे ने प्रस्ताव किया और रायबहादुर सुन्दरलाल ने अनुमोदन किया कि आर्यसमाजों को आपस में और परोपकारिणी के साथ अधिक समीप लाने के उद्देश्य से एक प्रतिनिधि सभा का सगठन होना चाहिए। जब तक यह कमेटी न बने तब तक परोपकारिणी के सभासद् ही जो आर्यसमाज के भी मेम्बर है प्रतिनिधि मान लिए जाय। जब प्रतिनिधि सभा बन जाय तब कुछ जगह, जो परोपकारिणी में खाली हो, ऐसे ढग पर भरी जावें कि परोपकारिणी में कम से कम आधे प्रतिनिधि सभा के मेम्बर मुकरर हों। प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ।

प० महादेव गोविन्द रानडे ने एक और भी बड़ा महत्वपूर्ण प्रस्ताव उपस्थित किया, वह भी सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। प्रस्ताव यह था कि स्वामी दयानन्द जी की यादगार में एक दयानन्द आश्रम बनाया जाय, जिसमें पुस्तकखाना, एंग्लो वैदिक कालिज, किताबों की दूकान, अनाथालय, अद्भुतालय, प्रेस और लेक्चररूम सम्मिलित हो। इस शुभ कार्य के लिये ३४ सहस्र रुपया उसी समय लिखा गया।

दूसरा परिच्छेद

उन्नति-युग

१८८४ ई०—१८८५ ई०

१—प्रचारक

इस परिच्छेद में हम परोपकारिणी सभा के प्रथम अधिवेशन की समाप्ति से ले और लाहौर में डी० ए० वी० स्कूल की स्थापना से पूर्व के समय में आर्यसमाज जो गति रही, उस पर दृष्टि डालेंगे। यह समय कई प्रकार से असाधारण था। तक आर्यप्रतिनिधि सभा की स्थापना नहीं हुई थी, और न कोई बड़ा संस्था ही हुई थी, जिस पर आर्यपुरुषों की शक्तियां केन्द्रित होतीं। आर्यसमाज का शरीर अभी नियमों में बद्ध नहीं हुआ था। वह इच्छा द्वारा पर बहुत बढ़ रहा था १८८४ और १८८५ ई० में आर्यसमाज ने जो उन्नति की, जब हम उस पर डालते हैं, तो एक उमड़ते हुए समुद्र की उपमा स्मरण हो आती है। ऋषि दयान के उत्साह, निष्ठा, धर्मप्रेम आदि गुण आर्य पुरुषों के हृदयों में भर गये थे। वह ऋषि की कार्यप्रणाली को देख चुके थे। उनमें से हरेक अपने आपको ऋषि उत्तराधिकारी और प्रतिनिधि समझता था। अभी तक प्रचारक और आर्यपुरुष में भेद न हुआ था। हरेक आर्यपुरुष अपने आपको भजन, उपदेश, व्याख्यान और शास्त्र करने का अधिकारी समझता था। आर्य समाज में जितने सभासद् थे, उतने ही प्रचा रक थे। ऋषि की मृत्यु ने जो थोड़ीसी मूर्छा उत्पन्न की थी, वह दूर हो गई थी, और ऋषि के उद्देश्य को पूर्ण करने की जबरदस्त उमंग पैदा हो चुकी थी।

यह आश्चर्य की बात है कि—इन दो सालों में हम बड़े नाम बहुत कम गिना सकते हैं। चार पांच महात्माओं के नाम बार बार आते हैं परन्तु कार्य तो अधिकांश साधारण आर्यपुरुषों द्वारा ही हुआ है। हम देखेंगे कि इन वर्षों में जितने नये आर्यसमाजों की स्थापना हुई, इतनी किन्हीं दो सालों में नहीं हुई। कई स्थानों पर शास्त्रार्थ हुए परन्तु जब यह प्रश्न कीजिये कि आर्यसमाज की ओर से कौनसा पण्डित था, तो उत्तर में ऐसा नाम लिया जायगा, जो शहर से बाहर किसी को ज्ञात हो न हो। उस समय का धर्मयुद्ध सिपाहियों का था, और किसी का उसमें कोई दखल नहीं था। न बड़े

सेनापति थे, न फ़ौज के ज़बर्दस्त हेडक्वार्टर थे, न विशाल तोपें थीं, और न मशीनगनें थीं। उस समय हरेक आर्यपुरुष सिपाही था, और हरेक सिपाही के हाथ में धर्म की तलवार थी। वह युद्ध खास २ मैदानों में नहीं लड़ा जा रहा था, वह शहर शहर, गांव गांव और घर घर में लड़ा जारहा था। उस समय युद्ध की कला की नहीं, सत्य धर्म की जय हो रही थी। वह समय सचमुच स्वर्गीय था। नेतृत्व के लिये द्वन्द्वयुद्ध आरम्भ नहीं हुए थे, संगठन का आवश्यक अत्याचार अविद्यमान था, संस्थाओं का लंगर जहाज़ के साथ नहीं लटकाया गया था। मनुष्यगत निर्बलताएं उस समय भी विद्यमान थीं, परन्तु उन निर्बलताओं को प्रकाशित करने के जो प्रभावशाली साधन पीछे से बन गये, वह अभी नहीं बने थे।

यों तो उस समय आर्यसमाज के सभी सभासद् प्रचारक थे, परन्तु कुछेक विशेष प्रचारकों के नाम भी मिलते हैं। स्वामी आत्मानन्द सरस्वती ऋषि दयानन्द के पट्ट शिष्य समझे जाते थे। इस समय उनके उद्योग से बहुतसी नई आर्यसमाजें स्थापित हुईं। आर्यसमाज में अन्य सब महात्माओं की अपेक्षा स्वामी आत्मानन्द जी का आदर अधिक था। नई सन्तति ने उनका नाम नहीं सुना। आर्यसमाज के इतिहास में कुछेक कुर्बानियों ने बहुत से ऐसे नामों को तिरोहित कर दिया है, जो भुलाने योग्य नहीं थे। जहां पर स्वामी आत्मानन्द जी जाते थे, प्रचार करते थे, और यदि पहिले से आर्यसमाज विद्यमान न हो तो स्थापित कर देते थे। १८८८—१८८९ ई० के समय में जितनी आर्यसमाजें स्वामी जी ने स्थापित कीं, उनकी गिनती नहीं की। स्वामी जी में अनेक गुण थे। आपकी स्मरणशक्ति बहुत बढ़ी हुई थी। आप आर्यसमाज के चलते फिरते विश्वकोष थे। जहां आप एकबार घूम आये, वहां के प्रधान, उपप्रधान, मन्त्री, उपमन्त्री, कोषाध्यक्ष आदि की पीढ़ी दरपीढ़ी जिह्वाग्र पर रहती थी।

दूसरे प्रचारक स्वामी ईश्वरानन्दजी थे। स्वामी सहजानन्द ने भी इस समय आर्यसमाजों में अच्छा प्रचार किया, किन्तु चार पांच साल के पीछे आचार-भ्रष्ट होकर आर्यसमाज से अलग होगया। १८८६ में हम उसे आर्यसमाज का कट्टर दुश्मन पाते हैं। सनातन धर्म सभा में देर तक दाल न गलती देखकर फिर साल भर पीछे उसने आर्यसमाज में आने की चेष्टा की। पश्चिमोत्तर प्रदेश की आर्यप्रतिनिधि सभा ने उसे उपदेशक के स्थान पर रख भी लिया, परन्तु पंजाब के समाचारपत्रों ने बड़े ज़ोर का आन्दोलन उठाया, जिससे पश्चिमोत्तर प्रदेश की प्रतिनिधि सभा की आंखें खुल गईं, और आर्यसमाज एक भयानक मनुष्य के हाथ से बच गया, इससे उस समय के आर्य पुरुषों की धर्म सम्बन्धी तीव्र अनुभवशक्ति का बोध होता है। बम्बई प्रश्न की ओर

गये, परन्तु दुःख है कि प्रायः अर्थी होकर गये, गुरु बनकर नहीं। राजपूताने के बुजुर्ग वीर जानते हैं कि एक अर्थी और एक गुरु में क्या भेद है। वह अमर्थी और तपस्वी उपदेशक में भेद कर सकते हैं। याद रहे कि राजपूताने में केवल वही व्यवसाय सफलता प्राप्त कर सकता है जो उदयपुर और जोधपुर के मानी मस्तकों पर लात मार सकता है। ऋषि ने राजपूताने के शेरों की नाक में नकेल डालदी थी, ऋषि के अनुयायियों में से जो लोग राजपूताने में गुरु बनने के लिये गये उनके दिलों में या तो आतंक था, और या मतलब था। ऐसे गुरुओं को राजपूताने में मान नहीं मिल सकता।

ऋषि दयानन्द ने राजपूताने में अनेक शिष्य बनाये थे, परन्तु वह सबसे ऊंचा स्थान महाराणा प्रताप के वंशज महाराणा सज्जनसिंह को देते थे। राजपूताने में उनके मुख्य शिष्य वही थे। ऋषि की मृत्यु के लगभग १ वर्ष पीछे महाराणा सज्जनसिंह की मृत्यु हो गई। इस मृत्यु से परोपकारिणी सभा का सबसे बड़ा स्तम्भ गिर गया और राजपूताने की आर्यसमाजों के पांव उखड़ गये। शाहपुरा नरेश महाराजा नाहरसिंह ने महाराणा के वियोग दुःख को भुलाने का यत्न किया और आर्यसमाज के कार्य में बहुत उत्साह दिखाया। आपके ही उद्योग से २९ मार्च १८८८ को शाहपुरा में आर्यसमाज की स्थापना हुई।

जोधपुर राजपूताने की एक प्रसिद्ध रियासत है। राठौर राजपूतों का यह किसी समय गढ़ था। यह वही भूमि है जहां आर्यसमाज के प्रवर्तक को विष दिया गया था और जहां व्यभिचार और साम्प्रदायिक पक्षपात ने एका करके अपनी जड़ उखाड़ने वाले का प्राण हरण करने का बीड़ा उठाया था। ज्येष्ठ सम्वत् १९४० में दयानन्द का सिंहनाद जोधपुर में होने लगा। उस निर्भय प्रचार का प्रभाव जब जोधपुराधीश महाराजा श्री यशवन्तसिंह जी पर पड़ने लगा तभी घातकों की कुमन्त्रणा का साधन ब्राह्मणकुलकलंक जगन्नाथ बना। जगदुद्धारक ऋषि ने तो पता लगते ही घातक को कुछ धन देकर भगा दिया, परन्तु आर्यजनता की उठती हुई आशाओं पर वज्रपात ही हो गया। यद्यपि राज के बहुत से महानुभावों को ऋषि के सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ तथापि उन सब में से ऋषि के उद्देश्य को समझ कर, उसका आदर केवल महाराजा श्री प्रतापसिंह जी ने ही किया। उस समय न वह ब्रिटिश मेजर थे और न ही उन्होंने जी० सी० एस० आई० की उच्च उपाधि धारण की थी। मेजर जनरल तो क्या, उस समय क्या कोई यह भी सोच सकता था कि उन्हें ब्रिटिश सेना में कोई कप्तान भी बनाएगा। परन्तु ब्रह्मचारी का उपदेश बिजुली का सा असर कर गया और राजा प्रतापसिंह ने वेदानुसार अपने आत्मिक गुरु से मानसिक प्रार्थना की—

नोऽस्मामवतु न स्तनु। "हमारा शरीर पत्थर के तुल्य हो।" और वह शरीर वैसा वज्र के समान हो गया, उसे काबुल की सरहद और फ्रान्स के मैदान ही जानते हैं।

महाराज प्रतापसिंह के नाम ऋषि दयानन्द का निम्नलिखित पत्र दोनों के गुरुशिष्य भाव को प्रकट करता है—

"श्री प्रतापसिंह जी आनन्दित रहो। यह पत्र बाबा साहब को भी दृष्टिगोचर करा दीजियेगा। मुझ को इस बात का बहुत शोक होता है कि श्रीमान् जो पुरुषार्थ से आलस्यादि में वर्तमान, आप और बाबा साहब दोनों रोगयुक्त शरीर वाले हैं।

अब कहिए, इस राज्य का, कि जिसमें सोलह लाख से कुछ ऊपर मनुष्य बसते हैं, रक्षा और कल्याण का बोझा भार आप लोग उठा रहे हैं। सुधार और बिगाड़ भी आप ही दोनों महाशयों पर निर्भर है। तथापि आप लोग अपने शरीर के आरोग्य, संरक्षण, आयु बढ़ाने के काम पर बहुत कम ध्यान देते हैं—यह कितनी बड़ी शोचनीय बात है। मैं चाहता हूं कि आप लोग अपनी दिनचर्या मुझसे सुन कर सुधार लेवें जिससे मारवाड़ को क्या अपने इस दूसरे देश भर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध होवें। आप जैसे योग्य पुरुष जगत् में बहुत कम जन्मते हैं। उत्तम पुरुष जितना अधिक जीवे उतना ही देश की उन्नति होती है। ह० दयानन्द सरस्वती, आश्विन ३ शनिवार सं० १९८५ वि०"

महाराज प्रतापसिंह के निज शरीर सेवक महाशय लक्ष्मण के हृदय में वैदिकधर्म का अंकुर पहिले पहल उगा। ऋषि दयानन्द के देहान्त के पश्चात् विक्रमी संवत् १९४२ में इन्होंने आर्यसमाज स्थापन किया परन्तु पर्याप्त उपस्थिति न होने के कारण ६ मास में ही उसकी समाप्ति होगई। संवत् १९४५ में स्वामी भास्करानन्द जी के उद्योग से फिर आर्यसमाज स्थापित हुआ। श्री महाराज प्रतापसिंह जी उक्त स्वामी जी का बड़ा आदर करते थे, इस लिये वह उक्त आर्यसमाज के प्रधान बने, जोधपुर राज्य
५ के महामन्त्री श्री पंडित सुखदेवप्रसाद जी ए, सी, आई, ई, मन्त्री बने और अन्य बहुत से सामाजिकों ने शेष अधिकार लिये। उस समय जोधपुर की सारी प्रजा ही सभासदों की सूची में सम्मिलित समझी जाती थी और साप्ताहिक अधिवेशनों में दो सहस्र से अधिक जन उपस्थिति होती थी। उपदेशकाचार्य पंडित ठाकुरदास, पंडित गणेशचन्द्र, पंडित भवशेखरादि इसी समय उपदेशक नियत किए गए थे।

४—अन्य धर्मों से संघर्ष

ऋषि की मृत्यु के समय आर्यसमाज और थियोसोफी का संघर्ष हो रहा था। मैडम ब्लैवट्स्की और कर्नल अल्काट भारत में ज्ञान की भरी हुई बातें सुनकर यहां के लिए आये थे, परन्तु यहां आकर देखते हैं तो रंग दूसरा हुआ पाते हैं। अमरीका से आते हुये दोनों चतुर साहसियों ने ऋषि दयानन्द को भक्ति और प्रेम से भरे हुए पत्र लिखे। उन्होंने वैदिक धर्म पर अपना विश्वास प्रकट किया, और अमरीका की आर्यसमाज की शाखा बनाने का प्रस्ताव किया, परन्तु यहां आकर देखा कि भारत की भोली प्रजा के हृदयों पर आसन जमाने के लिये आर्यसमाज जैसी पायदान पर पैर रखने की भी आवश्यकता नहीं है। हिन्दू जाति तो चेला बनाने के लिये कपोल की गप्प पर्याप्त है। भारत में आने के थोड़े समय पीछे ही इस साहसी-युगल ने ऋषि दयानन्द की शिष्यता का बाना उतार कर गुरु का चोगा धारण कर लिया, और स्वतन्त्र थियोसोफिकल सोसाइटी की बुनियाद डाली। कुछ दिनों तक आर्यसमाज के लेखकों और सिपाहियों का थियोसोफिकल सोसाइटी की ओर विशेष ध्यान रहा। १८८४ के मध्य में दोनों एक दूसरे को भूलने लगे। थियोसोफिकल सोसाइटी ने आर्यसमाज से उलझन छोड़कर 'भद्रं भद्रमिति ब्रूयात्' को अपना मूलमन्त्र बना लिया और आर्यसमाज ने थियोसोफिकल सोसाइटी को उसी कोटि में डाल दिया जिसमें और सैकड़ों सम्प्रदाय पड़े हुए थे।

ब्रह्मसमाज के साथ आर्यसमाज की कभी जोरदार टक्कर नहीं हुई। दार्शनिक वाद विवाद सदा जारी रहा है। ब्रह्मसमाज के साथ जोर से टकराना है भी बहुत कठिन। उसके सिद्धान्तों की दीवार रूई से बनाई गई है। टक्कर लगती ही नहीं। जिसमें प्रतिरोध की शक्ति होगी, वहीं टक्कर भी लगेगी। बहुत दिनों तक आर्यसमाज लाहौर के साप्ताहिक अधिवेशन ब्रह्मसमाज मन्दिर में होते रहे।

तीसरा सामयिक सम्प्रदाय, जिसके साथ आर्यसमाज को कई साल तक उलझना पड़ा, देवसमाज था। देवसमाज के संस्थापक पं० सत्यानन्द अग्निहोत्री के जीवन की कथा बड़ी मनोरंजक और उपदेश-पूर्ण है। जो लोग धर्मों का अनुशीलन मनोवैज्ञानिक रीति से करते हैं, वह देवसमाज के उदय और अस्त के इतिहास को बड़ी दिलचस्पी से पढ़ सकते हैं। पं० शिवनारायण अग्निहोत्री का सार्वजनिक जीवन एक सन्देहशील स्कूल मास्टर की हैसियत से शुरू होता है। धीरे २ वह ब्रह्मसमाज में प्रविष्ट हो जाता है। कहते हैं कि जब ऋषि दयानन्द अमृतसर से गये थे तब ब्रह्मसमाजी शिवनारायण अग्निहोत्री उनसे मिले थे, और वेद पर कुछ आक्षेप किये थे। ऋषि ने वेद की पुस्तक

उठाकर हाथ में दे। और आक्षेपकर्ता मन्त्र निकालने न पा रहा। अग्निहोत्री जी बेचारे वेद क्या जानें? उन्होंने विलायत के कुछ लेखकों के वेद सम्बन्धी उद्‌गार पढ़ रखे थे, उन्हीं के आधार पर आक्षेप कर दिया था। जब बहुत देर तक ढूंढ कर भी वेद में से कुछ न निकाल सके तो लोग हँस दिये। तब से अग्निहोत्री जी आर्य समाज के दुश्मन हो गये।

ब्राह्मसमाज में प्रविष्ट होकर पं० शिवनारायण ने अच्छे उत्साह से कार्य किया। आपकी बोलने की शक्ति अद्भुत थी। उधर बंगाल में बा० केशवचन्द्र सेन ब्राह्मसमाज के आचार्य बन रहे थे। आशा और योग्यता के बल पर वह पुजाये जा रहे थे। खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग पकड़ता है। पं० शिवनारायण ने भी आचार्य और पूज्य बनने की दिल में ठानकर २० सितम्बर १८८२ के दिन संन्यास ले लिया। कुछ ही दिन पूर्व दूसरा विवाह हुआ था। नई बहू और बच्चों को साथ रखकर पं० शिवनारायण अग्निहोत्री ने सत्यानन्द स्वामी बनकर भगवा धारण कर लिया, और घोषणा की कि 'मैंने दुनिया से सन्यास लिया है, स्त्री और बच्चों से नहीं।' १८८३ में पं० सत्यानन्द अग्निहोत्री ने धर्मजीवन नाम का एक पत्र निकालना आरम्भ किया।

नौकरी का त्याग और भगवा स्वामी पं० सत्यानन्द अग्निहोत्री को उस ऊंचे आसन पर न बिठा सका, जिसकी उन्हें चाह थी। उनका अन्तर्भाव पहले से ही देवत्व के दावे की भूमिका बांध रहा था। आर्यसमाज के लेखक और प्रचारक पहले दिनसे ही इस अद्भुत जीवन कथा को सन्देह की दृष्टि से देख रहे थे। समाचार पत्रों में अग्निहोत्री जी के सन्यास और गुरुभाव की आलोचना यथा शक्ति की जाती थी। उन्हीं के उत्तर के लिये 'धर्म जीवन' का जन्म हुआ था। इस समय से पं० सत्यानन्द स्वामी और आर्यसमाज में जो संघर्ष आरम्भ हुआ, वह देर तक जारी रहा। वह तब तक समाप्त नहीं हुआ जब तक कि ईश्वर का स्थान लेने के अभिलाषी देवगुरु भगवान् के धार्मिक दावे दुनिया की दृष्टि में मूल्य रहित नहीं हो गए।

प्राचीन मतमतान्तरों से संघर्ष बराबर चला जाता था, परन्तु अभी तक विशेष जोरदार लड़ाई सनातन धर्म से ही आरम्भ हो रही थी। इस समय की विशेषता यह थी कि बहुत बड़े २ शास्त्रार्थ अभी आरम्भ नहीं हुए थे। कारण यह प्रतीत होता है कि शास्त्रार्थ की कला में अभी कोई भी निपुण नहीं हुआ था। शास्त्रार्थों की पुरानी शैली, जिनमें अवच्छेदक की युक्तियां ही अमोघ शक्ति का काम करती थी, ऋषि दयानन्द की तिरछी मारों से निकम्मी करदी गई थीं। पुराने पण्डितमन्यों को वार दयानन्द के तर्क तीरों ने जर्जरित कर दिया था। दयानन्द की वाणी प्राचीन पाण्डित्यदुर्ग पर बिजली की तरह

गिरा, और [illegible] । [illegible] । [illegible] कुछ [illegible] आर्यसमाज । [illegible], [illegible] नहीं, [illegible] और [illegible] हुआ [illegible] था कि उनकी [illegible] नहीं उठना थी, और [illegible] था । [illegible] होते थे, [illegible] प्रतिदिन [illegible] लगाई [illegible] करते थे ।

[illegible] यह [illegible] थी । इस प्रकार के समाचार प्रायः [illegible] है—

"मौ [illegible] और [illegible] जबलपुर की [illegible] किसी [illegible] कर [illegible] रहे थे, [illegible] मज़हब में [illegible] आर्यसमाज [illegible] दाखिल हुए ।"

आर्य समाचार, मेरठ भाद्रपद १६४१ ।

अमृतसर से एक समाचार सम्पादक आर्यसमाचार को लिखते हैं [illegible] मालूम हो [illegible] कि इसाई [illegible] आर्य और प्रायश्चित्त [illegible] शुद्ध किये गये ।

भाद्रपद १६४१

१५ अगस्त १८८५ की आर्यपत्रिका में हमें कई ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं जिनमें ईसाई या मुसलमान बनते हुए हिन्दू आर्यसमाज के उद्योग से बच गये । हम [illegible] पहले हम समाचार पत्रों में पढ़ते हैं, कि मिर्ज़ा इमामुद्दीन (रईस) और [illegible] [illegible] दो [illegible] के [illegible] को [illegible] में दाखिल करते । [illegible] आर्यसमाज अमृतसर ने १८८५ में यह दावा किया था कि उस से कम ४० आत्मा उसीके उद्योग से विधर्मी बनते बचे । इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्य समाज का ज़ोरदार प्रचार केवल पौराणिक सिद्धान्त मानने वालों पर ही नहीं, इस्लाम और क्रिश्चियन के अनुयायियों पर भी प्रभाव पैदा कर रहा था ।

४ जीवन की उमंग

इस समय के कार्यकर्त्ताओं में एक [illegible] उमंग थी, जो शैशव में [illegible] दिखाई देती है । तरह तरह की स्कीमें तय्यार होती थीं, [illegible] बिना के पहाड़ [illegible] टीलेकी तरह गिर रहे थे । मेरठ के आर्यसमाज में पण्डित [illegible] मुन्शी

लछमन स्वरूप जी ने एक प्रस्ताव किया था कि प्रान्त में आर्यप्रतिनिधिसभा स्थापित की जाय, पंजाबमें भी आर्य प्रतिनिधि सभा की चर्चा उठ रही थी। आर्यसमाज लाहौर के मन्त्री ने पत्रों में एक चिट्ठी छपवाई था, जिसमें ऋषिदयानन्द के जीवन चरित्रकी सामग्री भेजने की प्रार्थना की थी। राजपूताने के रामगढ़ स्थान में कालूराम नाम के एक सुविभक्त ने १०००० मनुष्यों को गायत्री देकर दयानन्दभक्त आर्यसमाजी बनाया। इधर पंजाबभूषण श्रीमती माई भगवती के उद्योग से अमृतसर तथा अन्य स्थानों पर स्त्री समाजें बनाने का उद्योग होरहा था। यह सब नई उमंग और नई जिंदगी के चिन्ह थे।

इस जीवन की ज्योति को जीवित रखने के लिये आजकल के शतमुख उपदेशक समाचार-पत्र भी जन्म ले रहे थे। आर्यसमाचार भारतसुदशाप्रवर्तक आदि पत्र ऋषि के जीवनकाल में ही निकल चुके थे। लाहौर से अंग्रेजी के 'आर्य' नामके मासिक पत्र ने १८८२ ई० के मार्च मास में जन्म लिया। उसके सम्पादक मि० बारी थे। इस पत्र ने कई साल तक उपयोगी कार्य किया। पीछे से पत्र सम्पादन और वेदभाष्य द्वारा पैसा कमाने का उद्योग करने पर मि० बारी सब साधारण की दृष्टि में अप्रिय होगये और आर्य्यपत्रिका ने अंग्रेजी पत्र की आवश्यकता को पूर्ण कर दिया, इस कारण 'आर्य' बन्द हो गया लाहौरसे Regeneration of Aryavart नामक पत्रिका निकली, उसने भी अच्छा कार्य किया। १ मई सन् १८८५ ई० में मुरादाबाद से आर्यभाषा का पाक्षिक 'आर्य्यविनय' निकलना आरम्भ हुआ। सन् १८८५ ई० के जून मास में लाहौर से आर्यपत्रिका प्रकाशित होने लगी, और उसी वर्ष के जुलाई मास में फीरोजपुर से आर्यगजट ने जन्म लिया। आर्यविनय को कुछ दिनों तक चमका कर प० रुद्रदत्त जी सम्पादक आर्य कलकत्ते चले गये, पत्र बेचारा बहुत दिनों तक सिसकता रहा। आर्यपत्रिका का विशेष उद्देश्य डी० ए० वी० कालिज के सम्बन्ध में आन्दोलन करना था। सिद्धान्तों के सम्बन्ध में प० गुरुदत्त एम० ए० तथा अन्य विद्वानों के लेखों से इस की उपयोगिता को बढ़ाया जाता था। आर्य गजट योद्धा था। इनके अतिरिक्त देशहितैषी (हिन्दी) मासिक अजमेर से, आर्यपत्र (उर्दू तथा हिंदी) बरेली से तथा आर्य प्रकाश (गुजराती मासिक) बम्बई से प्रकाशित हो कर आर्य जनता की धर्म पिपासा को बुझाने का यत्न कर रहे थे। इनमें से अधिकांश प्रायः मतान्तरोंकी उग्र समीक्षाओं से ही भरे होते थे। पहिले से ही आर्य पत्रिका की लेखशैली अधिक सौम्य और अधिक निश्चयात्मक थी। अपने १२वें ही अंक में आर्यपत्रिका ने उस समय प्रचलित शास्त्रार्थ प्रणाली के विरोध में एक लेख प्रकाशित किया था। सामान्यतया लाहौर के इस साप्ताहिक का सम्पादन बहुत योग्यता और गम्भीरता

तीसरा परिच्छेद

डी० ए० वी० कालिज

— ∽ —

१८८६ ई०—१८८७ ई०

१—उत्साह

एक पुरुष की गृहिणी बच्चे को जन्म देकर स्वयं परलोक को चली जाती है। एक बार तो उस पुरुष को प्रतीत होता है कि उसका संसार नष्ट होगया, वह प्रेम का अमृत, जिसके बिना जीवन निःसार है, विलुप्त हो गया है। यह दुःख असह्य होता है। साथ ही पहला आवेग नष्ट हो जाता है, पुरुष की दृष्टि मातृविहीन बच्चे पर पड़ती है, प्रेमामृत का सागर उमड़ आता है, और जो शून्य पैदा हुआ था, वह भर जाता है। प्रेम को एक केन्द्र मिल जाता है। पिता अपने पुत्र को गोदी में लेकर बार-बार चूमने लगता है। उस समय उसे वह पुत्र पहले से अधिक प्यारा प्रतीत होने लगता है।

यही अवस्था पंजाब के आर्यपुरुषों की हुई। ऋषि दयानन्द के वियोग ने थोड़ी देर के लिये आर्य पुरुषों को निस्तब्ध सा कर दिया। उनका प्रेम निराधार होकर भटकने लगा। इतने में दयानन्द ऐंग्लोवैदिक कालिज की स्कीम सामने आई। हृदय में जो शून्य उत्पन्न हुआ था, वह भर गया। आर्य पुरुषों के प्रेम को अपना ठिकाना मिल गया। पंजाब की आर्यसमाजों के सिर पर एक पागलपन सा सवार होगया। उन्हें ऋषि का स्मारक, प्रचारक निकालने का साधन, वैदिक स्वाध्याय को जागृत करने का उपाय— सब कुछ डी० ए० वी० कालिज ही प्रतीत होने लगा। उस अपूर्व उत्साह के साथ, जिसके लिए पंजाबी मशहूर हैं, डी० ए० वी० कालिज की स्थापना का कार्य आरम्भ हुआ। पंजाब के आर्यसमाजों में जो थोड़े से कार्यकर्ता थे, उनकी शक्तियाँ इसी ओर लग गईं।

हम जिस प्रचारयुग का इतिहास गत परिच्छेद में लिख आये हैं, उसने एक वैदिक शिक्षणालय की आवश्यकता को और भी अधिक सिद्ध कर दिया। प्रचार के उत्साहकाल में ही प्रचारकों के अभाव का अनुभव हुआ करता है। उस समय सभी प्रचारक थे, परन्तु वह पगपग पर अनुभव करते थे कि जबतक शास्त्रों के जाननेवाले त्यागी प्रचारक न हों तबतक कार्य सुचारुता से नहीं चल सकता। विशेषतया लाहौर के आर्यपुरुषों ने तो कालिज को अपने कार्यक्रम का पहला भाग बना लिया। डी० ए० वी० कालिज के आन्दोलन को फैलाने के लिये आर्यपत्रिका निकाली गई, और जिस कमेटी की चर्चा पहिले परिच्छेद में कर चुके हैं उसके सिवा एक और सबकमेटी बनाई गई जिसके निम्नलिखित सभ्य थे—

१ ला० लालचन्द एम० ए० प्रधान

२ ला० मदनसिंह बी० ए० सेक्रेटरी

३ ला० अमोलकराम

४ ला० जीवनदास

५ ला० मुलदयाल

६ ला० बटालियाराम

यह कमेटी नियमपूर्वक अपने रजिस्टर रखती थी। एकत्रित चन्दा आगरा बैंक में जमा किया जाता था।

इस कमेटी में एक नाम का अभाव खटकता है। पं० गुरुदत्त एम० ए० डी० ए० वी० कालिज के जन्मदाताओं में से थे। शिक्षणालयसम्बन्धी आन्दोलन के दिमाग और आत्मिकजीवन गुरुदत्त विद्यार्थी ही थे। उनका नाम कमेटी में नहीं दिखाई देता, जिसका कारण स्पष्ट है। वह आन्दोलन के गुरु ब्राह्मण समझे जाते थे। वह भाव के प्रचारक थे, उन्हें प्रबन्ध के झमेले से अलग ही रखा गया था। आर्यसमाज के उत्सवों पर अधिकतया कालिज के नाम पर आप ही अपील किया करते थे। इन दिनों ला० लाजपतराय हिसार में विकालत कर रहे थे। डी० ए० वी० कालिज के लिये उनका उत्साह प्रारम्भ से ही प्रकाशित होरहा था। आर्यसमाज

के मैदान में उनकी भाषणशक्ति की भी धाक जमनी आरम्भ हो गई थी। उन्हें अच्छे बोलनेवाले समझा जाता था। कई स्थानों पर जाकर ला० लाजपतराय जी ने व्याख्यान दिये और चन्दा एकत्र किया। १८८४ में साधु रमताराम ने लाहौर में कालिज के नाम पर आटा फण्ड खोला, जिसमें बहुत कामयाबी हुई।

२–उद्देश्य

डी० ए० वी० कालेज के उद्देश्यों के सम्बन्ध में स्वयं कुछ न कहकर हम कालिज की पहली रिपोर्ट के कुछ उद्धरण, ला० लाजपतरायजी की The Arya Samaj नाम की पुस्तक से लेकर देते हैं।

"इन आवश्यक विचारों से प्रेरित होकर हम एक ऐसे शिक्षणालय की स्थापना करना चाहते हैं, जो वर्तमान प्रणाली के गुणों की रक्षा करता हुआ उसकी त्रुटियों को पूरा करे। मुख्य उद्देश्य यह होगा कि—

(१) राष्ट्रीय भाषाओं के स्वाध्याय को उत्साहित किया जाय और अशिक्षित लोगों को एक शृंखला में बांधा जाय।

(२) प्राचीन संस्कृत के अध्ययन पर जोर देकर सदाचार और धर्म सम्बन्धी ज्ञान को फैलाया जाय।

(३) नियमपूर्वक जीवनद्वारा स्वास्थ्य और शक्ति सम्पन्न जीवन को पैदा किया जाय।

(४) अंग्रेजी साहित्य से पर्याप्त परिचय पैदा किया जाय।

(५) तथा भौतिक और क्रियात्मक विज्ञान के प्रचारद्वारा देश की आर्थिक उन्नति को सहायता दी जाय।

यह घोषणा संस्था के जारी होने से पूर्व की गई थी। संस्था के बन जाने पर सोसाइटी को रजिस्टर्ड कराया गया। उस समय ये उद्देश्य लिखे गये थे।

(१) हिन्दू साहित्य के अध्ययन को उत्साहित करना और आवश्यक करना ।

(२) प्राचीन संस्कृत और वेद के अध्ययन को उत्साहित और आवश्यक करना ।

(३) अंग्रेजी साहित्य, कल्पनात्मक तथा क्रियात्मक विज्ञान को [illegible] और आवश्यक करना ।

आर्य पत्रिका में भी कालिज के उद्देश्यों [illegible] स्पष्ट किये गये थे । मुख्यतया तीन उद्देश्य बताये गये थे [illegible] आर्य साहित्य की शिक्षा और पश्चिम [illegible] और विज्ञान को पुष्ट करने का प्रयत्न यह [illegible] बतलाये जाते थे। उस समय से [illegible] कड़ी आलोचना करते हुए 'स्वामी [illegible]' नाम के ट्रैक्ट में ला० लाजपतराय [illegible] उद्देश्य बतलाये हैं—

साहित्य में इन कालिज के प्रवर्तकों का बहुत कम जिक्र पाते हैं। उनमें राष्ट्रीय (National) दृष्टि को ही प्रधान रखा गया था।

यह कहना कठिन है कि आर्य जनता ने डी० ए० वी० कालेज के प्रारम्भिक प्रवर्तकों की राष्ट्रीय भावना को समझने और उसकी कद्र करने का यत्न किया था या नहीं? जहां तक आर्य साहित्य के ज्ञान और उद्गारों के चिन्ह मिलते हैं, वहां पता लगता है कि वह विभिन्न रास्तों की ओर नहीं जा रहे थे। वह डी० ए० वी० कालिज को ऋषि दयानन्द का स्मारक ही नहीं, प्रतिनिधि भी मान रहे थे। इसका अर्थ यह था कि लोगों का फारसी और अंग्रेज़ी भाषा से उत्पन्न नहीं हुआ था, उनका जोश दयानन्द और वेद के नाम पर पैदा हुआ था। वह इसे प्राचीन साहित्य और शास्त्रों को मिटाने के लिये नहीं समझता था, ऋषि की यादगार में वेद पढ़ानेवाले विद्यालय की स्थापना के लिये समझता था। इसमें भी सन्देह नहीं कि डी० ए० वी० कालिज के संचालक परिस्थिति को खूब समझते थे और मौखिक अपीलों में दयानन्द और वेद के नाम को ही दुहराते थे। सर्वसाधारण के सामने पूर्व और पश्चिम के मेल की गहरी फिलासफी नहीं रखी जाती थी। इस प्रकार प्रारम्भ से ही दो प्रकार की विचारधाराएं एकसाथ चल रही थीं। कागज़ पर सरकारी तौर से बहुत परिमित दायरा रखा था, परन्तु जनता दूसरे ही विचार से मस्त थी। मौखिक अपीलों में डा० ए० वी० कालिज के सम्बन्ध में जो विचार रखे जाते थे उनके कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं।

३—अपील

१८८६ ई० में लाहौर आर्यसमाज के उत्सव पर डी० ए० वी० कालिज के लिये ला० लाजपतराय जी ने और पं० गुरुदत्त जी ने अपील की थी। लाला लाजपतराय जी ने अपनी अपील के अन्त में जो शब्द कहे थे उन्हें २ मार्च १८८६ के अङ्क में आर्य पत्रिका ने निम्नलिखित प्रकार से रिपोर्ट किया है।

"He laid great stress upon the immence services wich the Swami had rendered to the country, and concluded by saying that not only should the people of India subscribe to the College Funds because of the immense debt of gratitude under which

the Swami had laid them by devoting his life in cause but also because of the want of moral and religious education

वक्ताने उन आध्यात्मिक सेवाओं पर जोर दिया, जो स्वामी दयानन्द ने देश के लिये की है और अन्तमें पर कहा कि केवल इसलिये देशवासियों को कालिज की सहायता न करनी चाहिये कि वह स्वामीजी के सेवामय जीवन के उपकारों के बोझ के नीचे दबे हुए हैं, परन्तु इसलिये भी कि इस समय सदाचार और धर्म की शिक्षाओं का नितान्त अभाव है।

अगले वर्ष लाहौर आर्यसमाज के उत्सव पर प० गुरुदत्त एम० ए० ने डी० ए० वी० कालिज के लिये अपील की। आपके व्याख्यान का सारांश यह था कि ब्रह्मचर्य के बिना जीवन दु:खमय होरहा है। जो लोग ब्रह्मचारी नहीं रहते वह आत्महत्या के पाप के भागी होते हैं। ब्रह्मचर्य तथा अन्य धर्मों का पालन करना असम्भव है जबतक कि हम वेद तथा शास्त्रों की सहायता न लें। डी० ए० वी० कालिज से देशको बड़ा लाभ होगा क्योंकि उसमें धर्म शास्त्रों तथा धर्म का ज्ञान कराया जायगा।

यह अपीलें प्रारम्भिक दशा की हैं। ज्यों २ समय बीतता गया, डी० ए० वी० कालिज की अपीलों में वेद और शास्त्रों की शिक्षा पर और भी अधिक बल दिया जाने लगा। १८८८ ई० में लाहौर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर फिर प० गुरुदत्त जी ने ही अपील की। आपने बताया कि वर्तमान विज्ञान मनुष्य की आत्मा को शान्ति नहीं देसकता। वेद में ही शान्ति देने की शक्ति है। वेद के अध्ययन से ही संसार का उद्धार हो सकता है। अन्त में व्याख्याता ने कहा कि जिस किसी संस्थामें वेद पढ़ाने का प्रबन्ध हो, उसे सहायता देना आर्यसमाज का कर्त्तव्य है। आपने किसी संस्था विशेष का नाम नहीं लिया, लोगोंने स्वयं ही समझ लिया कि डी० ए० वी० कालिज के लिये अपील की गई है। कालिज का नाम क्यों नहीं लिया गया, इसके कारण पर हम इस समय प्रकाश नहीं डालना चाहते। हम केवल इतना ही दिखाना है कि जहां लिखित अपीलों में कानूनी सावधानता को काम में लाकर डी० ए० वी० कालिज को केवल राष्ट्रीय संस्था बतलाने का यत्न किया जाता था, वहां सार्वजनिक मौखिक अपीलों में वेद शास्त्र ब्रह्मचर्य आदि के नामों को ही अविरतता दोहराया जाता था। आर्य जनता लिखित भाषा की पेचीदगियों में नहीं जाती थी, वह दयानन्द और वेद को ही आगे रखती थी। हम इस प्रकार प्रारम्भ से ही दो प्रकार की लहरों को चलता देखते हैं। यही दोनों लहरें धीरे २ अन्त होकर पार्टी के रूप में परिणत होगई।

सोसाइटी (?) ...

४–उत्साह

उत्साह का स्थूल रूप दान है। किसी सार्वजनिक संस्था के लिये जनता में उत्साह है या नहीं इसकी परख आर्थिक सहायता से होती है। इस कसौटी पर परख कर देखा प्रतीत होता है कि आर्यसमाज में उस समय डी० ए० वी० कालिज के लिये बड़ा उत्साह था। ऋषिकी मृत्यु के कुछ समय पीछे ही लाहौर में जब सभा हुई तो ८०००) एकत्र हुआ। इस राशि में आर्य ललनाओं के आभूषण भी शामिल थे। आज देखने में ८ सहस्र की रकम छोटी दिखाई देती है परन्तु उस समय की दशा में बहुत भिन्न थी। रुपया आज से महगा था, सार्वजनिक कार्यों के लिये दान देनेकी आदत लोगों को नहीं पड़ा था, और आर्यसमाज में धनी पुरुषों का अभाव था। लाहौर के मुट्ठी भर आर्य पुरुषों में से कोई भी उस समय लखपति कहाने के योग्य नहीं था। उस समय के ८ हजार आजके २० हजार के बराबर थे। १८८६ में हम समाचार पत्रों में पढ़ते हैं कि कालिज के लिये २० हजार रुपया इकट्ठा होगया है।

पंजाब में आर्यसमाजों के उत्सवों पर डी० ए० वी० कालिज के लिये ही अपीलें होती थीं। अपील करने का काम पं०गुरुदत्त एम० ए० और ला० लाजपतराय के सुपुर्द था। पं०गुरुदत्त की योग्यता और धारा प्रवाह भाषण शक्ति जनता पर अद्भुत असर रखती थी। ला० लाजपतराय की ओजस्वी वाणी प्रारम्भ से ही सत्कार पा रही थी। कभी २ ट्रिब्यून के सम्पादक मि० मजुमदार भी डी० ए० वी० कालिज के लिये अपील किया करते थे। साधु रमताराम पंजाब के एक उत्साही कार्यकर्ता थे। बोलने में तेज, काम में अनथक, स्वभाव में अक्खड़, लगन के सच्चे साधु रमताराम ने डी० ए० वी० कालिज के लिये कुछ सालों तक खूब काम किया। लाहौर में आटा फंड चलाने का श्रेय साधुजी को ही था।

उस समय जिन दानियों ने पुष्कल राशियां देकर संस्था के संचालकों के उत्साह को बढ़ाया, उनमें से दो के नाम विशेषतया स्मरणीय हैं। स्यानी के ठेकेदार मलिक ज्वालाप्रसादजी ने ८०००) का इकट्ठा दान किया। मलिकजी की आर्यसमाज के लिये दान की यह पहली किश्त थी। अगली किश्तें बराबर आती रहीं। सन् १८९१ ई० के आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सव पर आपने दो मौरूसी चाहात, दो मौरूसी मकानात, औरतों के कुछ जेवरात और बाकी कुल जायदाद के चौथे हिस्से की वसीयत ऐंग्लोवैदिक कालिज के नाम कर दी थी। इसके अतिरिक्त और भी बहुत सी रकमें

समय समय पर आपसे भार्य समाज को प्राप्त होती रही। डी ए वी कालिज के लिये दूसरी बड़ी रकम भेरोंवाल के रईस बाबा नारायणसिंह से प्राप्त हुई थी। आपने अमृतसर में डी ए वी स्कूल खोलने के लिए १० दस हजार रुपये नकद और ५० हजार की कीमत के भाग दान में दिये थे, जो पीछे से उनके पोते ने नालिश करके वापिस लेलिये थे। आर्यसमाज में मध्यम श्रेणी के लोगों का अधिकता उस समय भी थी और अब भी है। बड़े २ दान उत्साह को बढाने के साधन होते थे, परन्तु खजाना छोटी २ राशियों से ही भरता था। कई आर्यसमाजें निश्चित मासिक चन्दा देती थीं। मुल्तान आर्य समाज से ३०) मासिक, लुधियाना आर्य समाज से २१) मासिक, गुजरानवाला आर्य समाज से १५) मासिक के लगभग सहायता प्राप्त होती थी। अपनी थोड़ी सी आय का जितना अधिक भाग आर्य समाजी लोग दान में देते हैं, अनुमान से शायद उतना दान दूसरे किसी समाज के लोग नहीं देते। सारांश यह है कि डी ए वी कालिज, पंजाब के आर्य पुरुषों के लिये एक लाडला उद्देश्य हो गया। प० गुरुदत्त जी की महत्वपूर्ण सहायता, ला० लाजपतराय जी की तेजस्विनी वाणी, और ला० हंसराज जी की जीवनाहुति ने पंजाब की शिक्षित मंडली को कालिज के पीछे पागल सा कर दिया।

४—लाला हंसराज बी० ए०

जिस व्यक्ति के स्वार्थत्याग ने डी ए वी कालिज के संचालकों के उत्साह को कई गुना कर दिया, उसका जन्म होशियारपुर जिले के बजवाड़ा नामक कस्बे में हुआ था। आपके पिता का नाम चुन्नीलाल था। जिस समय उनका देहांत हुआ, हंसराज जी के बड़े भाई ला० मुलकराज जी की आयु १५ वर्ष की और उनकी अपनी आयु १० वर्ष की थी। पिता के मर जाने पर बड़े भाई ने ही बालक के लिये पिता का स्थान ले लिया। ला० मुलकराज भल्ला ने लाहौर में आकर रेलवे में नौकरी कर ली, और हंसराज जी पढने लगे। परिश्रम और बुद्धि ने अपने फल दिखाये। आप अच्छे विद्यार्थियों में समझे जाने लगे। बाल्यावस्था से ही आप के हृदय में धर्मप्रीति उत्पन्न होने लगी थी। आपके स्कूल के हेडमास्टर ईसाई थे। एक रोज वह भारतवर्ष का प्रामाणिक इतिहास (?) पढ़ाते २ कहने लगे, कि प्राचीन आर्य लोग पत्थरों और वृक्षों की पूजा किया करते थे। आप ने इस निर्मूल स्थापना का विरोध किया। विवाद यहां तक बढ़ा कि आप को दो दिन के लिये स्कूल छोड़ना पड़ा।

१८८० ई० में हंसराज जी ने एंट्रेंस परीक्षा, और १८८५ ई० में बी ए परीक्षा पास की। परीक्षा के उत्तीर्ण विद्यार्थियों में आपका नम्बर दूसरा रहा। विद्यार्थीकाल में ही आप आर्यसमाज के सत्संग में आने जाने लगे थे। उन दिनों आर्यसमाज लाहौर में एक दृढ आत्मा का निवास था। वह एक सुगन्धित फूल था, जिसके साथ सदा होते

ही सुगन्ध पैदा हो उठता था। आदरणीय के अन्दर ला० साईंदास थे। नवयुवक हंसराज को उन्होंने पहिचान लिया, और उनमें भक्ति भी, इस प्रकार ये महात्मा एक ही थे ला० साईंदास जी ने हंसराज जी का हृदय भूमि को हल से जोत कर नरम और तैयार कर दिया तो एक दूसरे महापुरुष ने उस में धर्म का बीज बोया। पंजाब में प्रविष्ट हो जाने पर ला० हंसराज जी पं० गुरुदत्त जी के संसर्ग में आये। आप पं० जी के गहरे मित्रों और सहपाठियों में से थे।

१८८५ ई० में आप बड़ी सफलता के साथ बी० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण हुये। उधर पंजाब का आर्य समाजों में डी० ए० वी० कालिज के लिये उत्साह उमड़ रहा था। जोश था, धन था, इच्छा थी, परन्तु नई संस्था के लिये किसी योग्य हैडमास्टर के न मिलने से सम्पूर्ण कार्यवाही निष्फल सी हो रहा था। इस समय ला० हंसराज जी ने अपने आप को सेवा के लिये पेश किया। आपने बिना कुछ वेतन लिये डी० ए० वी० स्कूल में काम करने की इच्छा प्रकट की। इनके इस त्याग से कमेटी का उत्साह दुगुना हो गया, और प्रत्येक में एक जोश की लहर चल निकली। एक सज्जन ने उस त्याग की परिभाषा की "ला० हंसराज की इस कुर्बानी ने डी० ए० वी० कालिज को सुनहरी बना दिया।"

६—डी० ए० वी० स्कूल की स्थापना

इतना परिश्रम अन्त को सफल हुआ। १ जून १८८६ के दिन आर्यसमाज मन्दिर लाहौर में एक सार्वजनिक सभा हुई। विचार तो यह था कि स्कूल की स्थापना धूमधाम से की जाय, परन्तु स्कूल के भवन का तात्कालिक प्रबन्ध होने के लिये उचित नहीं समझा गया। अतः उत्सव को किसी दूसरे समय के लिये मुल्तवी करके 'स्कूलप्रारम्भ' पर ही सन्तोष किया गया। पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए० ने एक प्रभावशाली व्याख्यान में डी० ए० वी० कालिज के उद्देश्यों का वर्णन किया। अगले दिन आर्यसमाज मन्दिर में ही लड़कों की भर्ती आरम्भ हो गई। जून मास में भर्ती होने से विद्यार्थियों से कोई प्रवेश की फीस नहीं ली गई। प्रारम्भ में स्कूल का निम्नलिखित अध्यापक वर्ग नियत किया गया।

१ ला० हंसराज बी० ए० हैडमास्टर

२ ला० दुर्गाप्रसाद सैकन्ड मास्टर

३ भाई मोहनसिंह संस्कृत अध्यापक

४ ला० देवीदयाल गणिताध्यापक

५ प० शिवचन्द्र शास्त्री, प्रथम संस्कृताध्यापक
६ प० मुनीराम विशारद, द्वितीय संस्कृताध्यापक
७ प० गौरीराम विशारद, प्रथम हिन्दी शिक्षक
८ पं० मूलराज, द्वितीय हिन्दी शिक्षक
९ पं० हरनामदास, प्रथम उर्दू शिक्षक
१० ला० प्यारेलाल, द्वितीय उर्दू शिक्षक
११ ला० फग्गूराम

इस प्रकार ११ अध्यापकों की मंडली ने ऋषि के स्मारक की बुनियाद रखी। प्रारम्भ से ही यह स्कूल सर्वसाधारण का प्यारा बन गया। पहले ही सप्ताह में ३५० बालक भर्ती हो गये। दूसरे सप्ताह के अन्त में छात्रों की संख्या ५०० तक पहुंच गई। जून का महीना समाप्त होते २ स्कूल में ६०० छात्र पढ़ने लगे। पहले दिन से डी० ए० वी० स्कूल ने विद्यार्थियों में जो प्रियता प्राप्त की, वह बढ़ती गई, यहां तक कि किसी दिन लाहौर में संख्या में सब से बड़ा स्कूल डा० ए० वी० स्कूल और संख्या में सब से बड़ा कालिज डी० ए० वी० कालिज हो गया।

६—उन्नति और दृढ़ता

डी० ए० वी० स्कूल की स्थापना के पीछे उसकी प्रसिद्धि प्रति दिन बढ़ती गई। संचालकों ने स्थिरता उत्पन्न करने में भी कोई कसर न उठा रखी। २७ अगस्त १८८६ को दयानन्द ऐंग्लोवैदिक कालिज सोसाइटी की रजिस्ट्री करा दी गई। रजिस्ट्री के समय सोसायटी के दो उद्देश्य बतलाये गये थे।

(१) पंजाब में दयानन्द ऐंग्लोवैदिक स्कूल कालिज तथा आश्रम की स्थापना।

(२) शिल्प की शिक्षा का प्रबन्ध करना।

शिक्षा की निम्नलिखित विशेषतायें उद्घोषित की गई थीं।

(१) हिन्दू साहित्य (२) प्राचीन संस्कृत साहित्य (३) और अंग्रेजी भाषा तथा पाश्चात्य विज्ञान के शिक्षण पर बल देना। रजिस्टर्ड होते समय सोसाइटी के मुख्य २ सभासद् निम्नलिखित थे।

ला० लालचन्द एम० ए०, प्लीडर चीफकोर्ट प्रधान
ला० ईश्वरदास एम० ए० प्लीडर रावलपिंडी प्रधान
मलिक ज्वालासहाय ठेकेदार
ला० मदनसिंह बी० ए० मन्त्री

ला० साईंदास प्रधान आर्यसमाज लाहौर सभासद

ला० काशीराम प्लीडर मुल्तान ,,

प० गुरुदत्त एम० ए०

राय मूलराज एम० ए०

ला० गंगाराम सिविल इञ्जिनियर

ला० द्वारिकादास एम० ए० प्रिन्सिपल महेन्द्र कालिज पटियाला इत्यादि

आश्रम बनाने का निश्चय पहले से ही हो चुका था। मेमोरेण्डम में भी आश्रम की चर्चा थी। आश्रम के नियम १८८६ में ही प्रकाशित कर दिये थे। नियमों की विशेषता यह थी कि आश्रम में रहते हुए कोई बालक विवाह नहीं करा सकता था। २० वर्ष से ऊंची उमर का युवक आश्रम में नहीं आ सकता था। नियम प्रकाशित होगये, और उन पर विचार होता रहा। स्कूल के समीप ही ला० रतनचन्द दुगल का मकान किराये पर लेलिया गया। उसे यथासम्भव विद्यार्थियों के लिये उपयोगी बनाकर १२ अप्रैल १८८९ को आश्रम का उद्घाटन कर दिया गया। मा० दुर्गाप्रसाद जी आश्रम के अध्यक्ष बनाये गये। प्रारम्भ में तो थोड़े ही बोर्डर भर्ती हुए परन्तु शीघ्र ही इतने प्रार्थना पत्र आगये कि अधिकांश को अस्वीकृत करना पड़ा।

चौथा परिच्छेद

आर्यप्रतिनिधिसभाओं की स्थापना।

१८८६ ई०—१८८७ ई०

१. वैदिकधर्मप्रचार

जिन दो वर्षों में पंजाब के आर्यपुरुषों ने अनथक परिश्रम करके डी० ए० वी० स्कूल को स्थापित कर दिया, उन्हीं दो वर्षों में आर्यसमाज के संगठन को मजबूत बनाने के लिये भी बहुत सा कार्य हुआ। बहुत सी नई आर्यसमाजें स्थापित हुई, पुरानी आर्यसमाजों के सभासदों की संख्या बढ़ती गई, और सबसे बड़ा काम यह हुआ कि आर्य प्रतिनिधि सभाओं का संगठन हो गया। आर्यसमाज के प्रचार और बलसम्पादन की दृष्टि से भी यह दो वर्ष स्वर्णीय रहेंगे। यह आर्यसमाज के उत्साह का समय था। नया जोश आर्य पुरुषों के रुधिर को वेग से दौड़ा रहा था। दुनियाभर का विरोध परस्पर प्रीति को पैदा करके भ्रातृत्व के नाते को रुधिर के नाते से भी अधिक मजबूत बना रहा था। परस्पर मतभेद को क्षमा किया जाता था, आर्यपुरुष एक दूसरे से इतनी सहानुभूति रखते थे कि छोटे २ सबब कोई असर नहीं पैदा कर सकते थे। आर्यसमाज रूपी शिशु प्रकृति की चोटों को सहता हुआ निरन्तर उन्नति की ओर कदम बढ़ा रहा था।

१८८६–१८८७ के दो वर्ष में लगभग डेढ़ सौ नई समाजों की स्थापना का पता चलता है। १८८७ के आरम्भ में हम आर्य समाचार पत्रों में यह समाचार प्रकाशित हुआ पाते हैं कि १८८६ में ६३ या ६५ नई समाज बनीं। अगले वर्ष का हिसाब देखने से भी ऐसा अनुमान होता है कि ८० से कम समाजों की स्थापना नहीं हुई। इन दो वर्षों में आर्यसमाज के प्रचारकों की संख्या बहुत बढ़ गई। स्व० आत्मानन्द जी और स्वा० ईश्वरानन्दजी के अतिरिक्त कई नये सन्यासी भी मैदान में आ रहे थे। स्वामी स्वात्मानन्दजी की अच्छी धूम थी। यह विद्वान और सुवक्ता थे। आर्य समाजों के उत्सवों पर उनके व्याख्यानों को बड़े चाव से सुनाजाता था, परन्तु प्रतीत होता है कि मौलिक सिद्धान्तों पर उनका मजबूत विश्वास नहीं था। चार साल बाद

१८६० म आपने आर्यसमाज को छोड दिया। उस समय लाहौर की आर्य पत्रिका ने लिखा था कि 'जब हम देखते हैं कि ईशान्दासी से यह आर्यसमाज के लिये काम नहीं कर सकते तब हम समझते हैं कि उनका भी आर्यसमाज से जुदा होना ही अच्छा है। उसमें उनका भी भला है और सत्य का भी भला है।"

साधु रमनाराम का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। साधु रमनाराम कट्टर धर्मभक्त थे। आर्यसमाज में उनकी लगी और अनन्य श्रद्धा थी। उद्योग म आप अनुपम थे। खरा और साचा सुनाने के कारण आपसे अपने और पराये सभी नाराज हो जाते थे परन्तु आपके धर्मभाव का सभी जगह आदर था। प्रचार में और डी० ए० वी कालिज की सहायता म आपने बड़ा भारी काम किया जिसकी प्रशंसा उस समय के प्राय सभी समाचार पत्रों म मिलता है। आपकी भाषा अधिक कठोर थी। उसकी शिकायत भ आर्यपत्रिका सद्धर्म प्रचारक आदि समाचारपत्रों म पाई जाती है।

स्व० आत्माराम उस समय आर्यसमाज के उपदेशक थे। पौराणिक मत के खण्डन में छोटी २ दो एक पुस्तिकायें भी उन्होंने लिखी थीं। टूचे में कई आर्यसमाज स्वा० आत्माराम क उद्योग स ही स्थापित हुए थे। प्रतीत होता है कि उस समय भी उनके विचार दृढ नहीं थे, क्योंकि हम दो वर्ष पीछे आर्यसमाचारपत्रों में यह घोषणा मिलती है कि स्वामी आत्माराम के सिद्धान्तों के लिये समाज उत्तरदाता नहीं है। पीछे से आप आलाराम कट्टर सनातनधर्मी बनकर आर्यसमाज से शास्त्रार्थ करते रहे और अन्त में गद्दी वाले बन गये। स्वामी भास्करानन्द ने गुजरात की ओर प्रचार किया था, और स्वामी प्रकाशानन्द पंजाब में भ्रमण करते थे। साधु रमानन्द स्वामी गिरानन्द, कृष्णानन्द भद्रानन्द मौजानन्द गारुतानन्द आदि अन्य अनेक सन्यासी भी आर्यसमाज का प्रचार करते हुए देश में विचरते थे। गृहस्थ व्याख्यानदाताओं में प० गुरुदत्त एम ए लाला लाजपतराय और भगत रैमल के नाम बार बार आते हैं। पश्चिमोत्तर प्रदेश में भी और सहारनपुर के अनेक महानुभाव प्रचार के लिये दौरे लगाते रहते थ।

२. लन्दन में आर्यसमाज

उस समय आर्यसमाज के अनुकूल विचार रखने वाला प्रत्येक पुरुष अपने आपको प्रचारक समझता था। वह ऐसे कार्य करता था मानों संसार भर को आर्य बनाने का बोझ उसी पर है। इसका दृष्ट प्रमाण यह है कि जो थोड़े से आर्यपुरुष शिक्षा ग्रहण करने के लिये इंग्लैण्ड म पहुंच गये थे, उन्होंने वहां आर्यसमाज की स्थापना कर दी। पंजाब से ला० लक्ष्मीनारायण बैरिस्टरी पास करने विलायत गये थे। उनके

हृदय में आर्यसमाज का जोश था। उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना के लिये बहुत उद्योग किया, जो शीघ्र ही सफल हो गया। १८ अप्रैल १८८६ को लन्दन की आर्यसमाज का पहिला अधिवेशन हुआ। ला० भागराम और सर्दार कृष्णसिंह के निवास स्थान पर ६ सज्जन उपस्थित हुए। उन ६ में से एक लाहौर के पुराने भक्त आर्यसमाजी ला० रोशनलाल भी थे। ५ सज्जन लन्दन आर्यसमाज के प्रारम्भिक सदस्य बने।

स्थापना के समय केवल ६ सभासद बने थे, परन्तु शीघ्र ही लन्दन की भारतीय मण्डली का हृदय उस ओर खिचने लगा। साप्ताहिक अधिवेशनों में अच्छी उपस्थिति होने लगी। दृष्टान्त के लिये हम पांचवें साप्ताहिक अधिवेशन का दृष्टान्त देते हैं, जिस से प्रतीत होगा कि लन्दन में विद्यमान भारतीयों का ध्यान किधर खींच रहा था।

६ जून १८८६ को आर्यसमाज का एक अधिवेशन हुआ। हाजिरी में क्या हैं नाम देकर आगे 'इत्यादि इत्यादि' लिखा है। प्रारम्भ में ईश्वर प्रार्थना के भजन हुए। ला० उमाशङ्कर ने आर्यसमाज के उद्देश्यों के सम्बन्ध में एक निबन्ध पढ़ा। उसके पश्चात् लाला (?) वेंकटरामन नायडू ने [Ode to India] नाम की एक अंग्रेजी कविता गाकर सुनाई। कविता के पीछे ला० रोशनलाल बी० ए० का आर्यसमाज के तीसरे नियम पर अंग्रेज़ी में व्याख्यान हुआ जिसमें वेदों की शिक्षा पर बल दिया गया। इस व्याख्यान के पीछे मि० एफ पिन्काट ने खड़े होकर जो कुछ कहा वह २५ जून १८७६ की आर्य पत्रिका में निम्नलिखित शब्दों में दिया गया है।

"He himself has read Rigveda and discovered the most natural method of its arrangement There must be no doubt of its contents being true He can without hesitation endorse the speech of Lala Roshan Lal

सर्दार किशनसिंह कपूर ने दोनों वक्ताओं के कथन की पुष्टि की। अन्त में आर्यसमाज के नियमों की कापियां वितरण की गई, और भजनों के साथ सभा समाप्त हुई (आर्य पत्रिका २७ जुलाई १८८६)

आर्यसमाज के अधिवेशन बराबर जारी रहे, और प्रवासी भारतवासियों की रुचि उधर बढ़ती गई। साप्ताहिक अधिवेशनों में प्रतिष्ठित भारतवासी शामिल होने लगे। एक अधिवेशन में प० विशन नारायण दर ने निबन्ध पढ़ा। दूसरे अधिवेशन में मि० दादाभाई नौरोजी महाराजा कूचविहार आदि की उपस्थिति में वैदिकधर्म के महत्व पर भाषण हुए। महाराजा कूचविहार ने आर्यसमाज के उद्देश्यों से सहानुभूति प्रकट की।

और उसकी मर्यादा द्वारा स्वीकार कर लिया। आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन में शामिल होने के लिये प्रो० मैक्समूलर को भी निमन्त्रण भेजा गया था। प्रो० मैक्समूलर जन्म से जर्मन थे, निवास से अंग्रेज थे, और विचारों से एशियाटिक थे। योरोपियन भावों का मिश्रण होते हुए भी प्रोफेसर मैक्समूलर के मन का झुकाव पूर्व की ओर था। आर्यसमाज के निमन्त्रण पत्र के उत्तर में आपने निम्नलिखित पत्र लिखा—

*आक्सफोर्ड ता० १४ मई १८८७

प्रियमहाशय! लन्दन आर्यसमाज के जल्से में शामिल होने और योग्य सेवा करने से मुझे बड़ी प्रसन्नता होती। मुझे मालूम है कि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती महाराज के उद्देश्य बहुत श्रेष्ठ और अच्छे थे। उन्होंने अपने देशवासियों को बड़ा लाभ पहुंचाया है और अगर यह महात्मा कुछ अधिक अर्से तक जिन्दा रहते तो भारतवर्ष के लोगों को और अधिक लाभ पहुंचाते। जो कुछ वह करना चाहते थे, वह अब आपलोगों को करना चाहिये। केवल वेद मतावलम्बी होकर सन्तुष्ट न होना चाहिए, बल्कि स्वामी जी के अनुकूल उससे आगे कार्य करना चाहिये जहांतक स्वामी जी कर गये हैं। मैं हर तरह से इस कार्य में आप लोगों की सहायता करने को राजी हूं। आजकल आक्सफर्ड में परीक्षा के निरीक्षण के कार्य में लगा हुआ हूं, और जब परीक्षा समाप्त होगी तब अपने घर जाऊंगा। क्योंकि मेरे घर के लोग इंग्लिस्तान से चले गये हैं। परीक्षा के कारण मैं उनके साथ न जा सका। परीक्षा की तैयारी में लगे रहने के कारण मैं अभी समय नहीं दे सकता, किसी दूसरे समय अवश्य आर्यसमाज के सभासदों से परिचय का लाभ प्राप्त करूंगा।

आपका हितैषी

मैक्समूलर

लन्दन आर्यसमाज ने एक और बड़ा कार्य किया, जिससे उसकी चर्चा इंग्लैण्ड के समाचार पत्रों में भी खूब हुई। चन्दनसिंह नाम का एक गरीब ब्राह्मण लन्दन में रहता था। वह हस्पताल में मर गया। हस्पताल के अधिकारियों ने लाश को लावारिस समझकर ईसाई ढंग पर दफनाने का निश्चय किया। जब यह समाचार आर्यसमाज के अवैतनिक मन्त्री ला० लक्ष्मीनारायण को मालूम हुआ, तो वह हस्पताल में गये और शव को जलाने के लिए मांगा। हस्पताल के अधिकारियों ने शव आर्यसमाज के सुपुर्द कर दिया। लन्दन के बाजारों में वह एक अद्भुत ही दृश्य था। अर्थी के साथ बहुत से भारतवासी, और अनेक अंग्रेज नरनारी जा रहे थे। यह एक खासा मातमी जलूस बन

* आर्य समाचार। आषाढ़ १९४४

गया। अर्थी पर 'आर्यसमाज की जय' 'हिन्दुस्तानी नौकर' यह शीर्षक लगा हुआ था। जनता पर इसका अद्भुत प्रभाव पड़ा। लन्दन में यह पहला ही अवसर था कि एक लावारिस भारतवासी को वारिस बनाने का साहस भारतवासियों ने किया। उस से पूर्व कई धनीमानी भारतवासियों के अन्त्येष्टि संस्कार भी ईसाई रीति पर हो चुके थे। श्मशानभूमि पर दाहक्रिया को देख कर तो बहुत से अंग्रेज़ों पर बहुत ही अच्छा असर पड़ा। इस मृतक संस्कार पर १५०) खर्च हुए, जो समाज के पुरुषार्थी मन्त्री ला० लक्ष्मीनारायण की जेब से ही निकले।

३ मुख्य २ आर्यसमाजें

इस समय पंजाब में लाहौर अमृतसर और जालन्धर पश्चिमोत्तर प्रदेश व अवध (आजकल का संयुक्त प्रान्त) में मेरठ और सहारनपुर और पश्चिम में बम्बई–यह आर्यसमाजें मुख्य थीं। दिल्ली की आर्यसमाज भी उठ रही थी। इनमें से लाहौर की आर्यसमाज अपने शिक्षा सम्बन्धी जोश के लिये विख्यात हो रही थी। उस समय के सभासदों में दो प्रकार की प्रवृत्तियां पाई जाती थीं। कुछ सज्जन जिनमें ऊंची अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त किये हुए सज्जन मुख्य थे, शिक्षा को निजरूप में ही आवश्यक समझते थे, वह मानते थे कि यदि आर्यसामाजिक वातावरण में अच्छे ढंग पर कोई भी शिक्षा दी जाय तो वह वैदिकधर्मी पैदा करने का साधन बन सकती है। इस प्रवृत्ति के सज्जनों में शिक्षा का स्थान अन्य वस्तुओं से ऊंचा था। दूसरी प्रवृत्ति के नेता प० गुरुदत्त एम ए थे, और अनुयायी सर्वसाधारण थे। इन लोगों में शिक्षा को साधन समझ कर ही कालिज के लिये प्रेम पाया जाता था। वह शिक्षा को निज रूप में, वेद प्रचार के रूप में, आदर देते थे। प्रवृत्तियां दो थीं, परन्तु फल एक ही था। आर्यसमाज लाहौर इस समय शिक्षा की धुन में था। उसकी सब शक्तियां डी ए वी स्कूल की ओर लगी हुई थीं। आर्यसमाज लाहौर का वृत्तान्त अधूरा रहेगा यदि उसके उस समय के प्रधान ला० साईंदासजी के विषय में कुछ शब्द न लिखे जाय। ला० साईंदासजी उन आर्य पुरुषों में से थे, जिनसे मिलकर मनुष्य अपने आपको ऊंचा उठता हुआ समझता है। आप न व्याख्याता थे, और न लेखक। आपकी शक्ति सदाचार तथा बातचीत में थी। जिस नवयुवक को दो चारबार आपके साथ टहलने का मौका मिला, वही आपके काबू आजाता था। उस पर वैदिक धर्म का रंग चढ़े बिना नहीं रहता था। ला० साईंदासजी की हस्ती आर्यसमाज लाहौर के लिये धन्य थी।

पंजाब का दूसरा मुख्य [illegible] जालन्धर का था। जालन्धर का आर्यसमाज अपने प्रचार कार्य के [illegible] हो रहा था। जैसे लाहौर की प्रवृत्ति शिक्षा की

थी, जैसे ही न न न का प्रवरि प्रचार और प्रचार थी पार थी। आर्यसमाज जालन्धर के मन्त्री ला० देवराजजी का उत्साह असाम था। उसकी सहायता के लिए उनके सम्बन्धी और मित्र ला० मुन्शीरामजी भी मैदान में आ रहे थे। यह जोड़ी जालन्धर के आर्यसमाज को घसीटकर आगे लेजाने का यत्न कर रही थी। ला० देवराज जी का भक्तिभाव, धर्म प्रेम और दृढ़विश्वास, ला० मुन्शीरामजी के प्रचण्ड साहस, धार्मिक आवेश और उग्रनीति के साथ मिलकर जालन्धर को लाहौर से भी आगे ले जाने का चिन्ह दिखा रहा था। १८२६ के आरम्भ में जालन्धर आर्यसमाज ने मण्डलिया बनाकर आसपास के ग्रामों में प्रचार का कार्य आरम्भ किया। १८२६ के अक्टूबर में जालन्धर के कोट किशन चन्द में आर्यसमाज की ओर से एक कन्या पाठशाला जारी की गई। यह सुविख्यात कन्या महाविद्यालय का बीज था। ला० मुन्शीरामजी इस समय जालन्धर में मुख्तार थे, और आर्यसमाज के प्रधान थे। १८८८ में आर्यसमाज लाहौर का जो उत्सव हुआ उसपर आपका व्याख्यान भी हुआ था। इस व्याख्यान पर आर्यपत्रिका की टिप्पणी यह थी कि व्याख्यान 'eloquent' और forcible' था। आपके व्याख्यानों में पहले से एक विशेष जोर पाया जाता था, जो एक आवेशपूर्ण हृदय के उद्गार में ही मिलता है। १८८८ के अन्त में आर्यसमाज जालन्धर का वार्षिकोत्सव हुआ, जिसमें बहुत पर्याप्त भीड़ थी। उन दिनों उत्सवों पर महता अमीचन्दजी के मधुर और रसीले भजनों की बहार रहती थी।

पश्चिमोत्तरप्रदेश में मेरठ और सहारनपुर की आर्यसमाजों के कार्यकर्ता विशेष उत्साह से कार्य कर रहे थे। मेरठ से आर्यसमाचार पत्र निकलता था। प्रारम्भ से ही मेरठ को यह सौभाग्य मिला कि उसमें लब्धप्रतिष्ठ आर्यपुरुष समाज के अधिकारी बने। यहां की आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर दूर २ से आर्यपुरुष पहुंचते थे। सहारनपुर में भी अच्छा कार्य हो रहा था। इलाहाबाद में वैदिक प्रेस था। इसके कारण दो एक पण्डित हमेशा वहां रहा करते थे।

दिल्ली यद्यपि पञ्जाब का एक भाग है, तो भी उसमें आर्यसमाज का जीवन पृथक् ही रहा है। दिल्ली में आर्यसमाज का कार्य मित्रसभा के नाम से शुरू हुआ था। कई वर्षों तक मित्र सभा ही आर्यसमाज के स्थान की पूर्ति करती रही। पीछे से आर्य समाज बन गई। ला० गिरधारीलाल वकील आर्यसमाज के प्रारम्भिक स्तम्भ थे। जब तक वह जीवित रहे, तब तक आर्यसमाज को उनका बड़ा सहारा रहा।

बम्बई की आर्यसमाज को प्रथम आर्यसमाज होने के कारण जिस उत्साह से कार्य करना चाहिये था उसने वैसा नहीं किया। महता छग्गाराम इच्छाराम अकेले ही पश्चिम

में वैदिक सन्देश सुनाने का प्रयत्न कर रहे थे। नवसारी में एक विशेष सभा में बड़ोदा नरेश ने महता जी का वैदिक सिद्धान्तों के विषय पर व्याख्यान सुना, जिसका प्रभाव बहुत उत्तम पड़ा।

४—आर्य प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना

संगठन ही आर्यसमाज का जीवन है। ऋषि दयानन्द की दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने आर्यसमाज की दीवार को नियम की नींव पर खड़ा किया है। आर्यसमाज का संगठन ही ऐसा है कि वह विस्तृत और मज़बूत हुए बिना नहीं रह सकता। सभा के निर्णय और प्रजा के अधिकार पर ऋषि ने इतना बल दिया है कि जिन लोगों ने योरप के इतिहासलेखकों की राय के अनुसार भारतवासियों को प्रजामत की ओर उपेक्षा दृष्टि का सिद्धान्त रूप में मान छोड़ा है उन्हें आश्चर्यित होना पड़ता है। एक सभासद् आर्यसमाज की इकाई है, और भूमण्डल के आर्यों का संगठन उसका लक्ष्य है। यह उदार और ऊंचा विचार है, जो आर्यसमाज के संगठन की तह में काम करता है।

ऋषि की मृत्यु के उपरान्त ही आर्यपुरुषों में यह चर्चा चल गई थी कि देशभर में बिखरे हुए आर्यसमाजों को एक सूत्र में पिरोना आवश्यक है। १८८३ ई० के अन्त में परोपकारिणी सभा के अधिवेशन में प० महादेव गोविन्द रानडे ने आर्य प्रतिनिधियों को एकत्र करने का विचार उठाया था। १८८४ के सितम्बर मास में बम्बई आर्यसमाज के उपप्रधान सेवकलाल कृष्णदास की ओर से सब आर्यसमाजों में एक पत्र जारी किया गया था। उस पत्र में देशभर की आर्यसमाजों को परस्पर परिचय तथा सहायता के लिये एक शृंखला में बांधने की उपयोगिता दिखाकर प्रस्ताव किया गया था कि एक 'प्रधान आर्यसमाज' बनाया जाय, जिसमें सब आर्यसमाजों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। उस प्रधानसमाज की नियमावली में सम्पूर्ण देश को एक ही प्रान्त मानकर उसकी प्रतिनिधिसभा संगठित करने का प्रस्ताव सामने रखा गया था। आर्य सामाजिक समाचार पत्रों में प्रतिनिधिसभा की आवश्यकता की चर्चा बराबर जारी रही। मेरठ के आर्य समाचार में पश्चिमोत्तर प्रदेश व अवध और लाहौर की आर्यपत्रिका ने पंजाब में प्रतिनिधि सभा के आन्दोलन को विशेष रूप से उठाया।

आर्यपुरुषों के यत्न फलीभूत हुए। ४ तथा ५ अक्तूबर (१८८६ ई०) को लाहौर में पंजाब के आर्यसमाजों के प्रतिनिधि एकत्र हुए। उस अधिवेशन में १६ आर्यसमाजों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। नियमों और उपनियमों पर बहुत से विचार के अनन्तर अस्थायी रूप से अन्तरंग सभा के १५ सभासद् चुने गये। सेक्रेटरी का कार्य लाला

[illegible] हुआ। पहली अन्तरङ्ग सभा के सभ्यों की [illegible] [illegible] देना [illegible] से खाली न होगा।

१ [illegible]
२ ला० [illegible], गुजरांवाला
३ ला० [illegible], [illegible]
४ ला० [illegible], लाहौर
५ ला० [illegible],
६ ला० [illegible],
७ ला० [illegible],
८ ला० [illegible]
९ ला० [illegible] रावलपिंडी
१० ला० [illegible] फीरोजपुर छावनी
११ ला० [illegible]सिंह, दिल्ली
१२ ला० मूलचन्द, पेशावर
१३ ला० [illegible], [illegible]
१४ एक मेम्बर, मुलतान समाज
१५. एक मेम्बर फीरोजपुर शहर

इस सूची में जालन्धर का कोई स्थान नहीं है, लाहौर के कई सभासद हैं कई मेम्बरों के स्थान पर समाजों के ही नाम हैं। यह अन्तरङ्गसभा एक प्रकार की उपसभा बनाई गई थी, जिसके सुपुर्द प्रतिनिधि सभा में उपस्थित करने के लिए नियम तय्यार करना और उन समाजों को जिनके प्रतिनिधि उस समय तक नहीं आये थे सम्मिलित करने का यत्न करना था।

पश्चिमोत्तर प्रदेश में [illegible] शुरू हुई थी, परन्तु परिणाम कुछ देर से निकला। लाहौर में प्रतिनिधि सभा की स्थापना के समय मेरठ के कुछ प्रतिनिधि भी दर्शक रूप से उपस्थित हुए थे। २८, २९ दिसम्बर (१८८६) को आर्यसमाज मेरठ के उत्सव के साथ ही प्रतिनिधियों का जमाव हुआ। पश्चिमोत्तर प्रदेश व अवध की ४८ आर्यसमाजों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। नियमों पर बहुत [illegible] बहस हुई। नियमों का अन्तिम निश्चय न हो सका। निश्चय हुआ कि प्रस्तावित नियमों की प्रतियां

मुद्रित करके समाजों में भेजदी जाय, और अगले अधिवेशन में निश्चय हो। कार्य-सञ्चालन के लिये निम्नलिखित चुनाव हुआ।

मुन्शी लक्ष्मण स्वरूप साहिब (मेरठ) प्रधान
प० बिहारीलाल (मेरठ) मन्त्री
ला० रामसरन्दास साहिब (मेरठ) खजांची
बा० आनन्दीलाल साहिब (मेरठ) पुस्तकाध्यक्ष

५—परोपकारिणी सभा का अधिवेशन।

१८८५ ई० में एक अधिवेशन करके परोपकारिणी सभा लम्बी तान कर सो गई। इधर समाचारपत्रों में सभा के आलस्य की चर्चा आरम्भ होगई। वैदिक प्रेस का प्रबन्ध असन्तोष जनक था। उसकी शिकायतों के भी दफ्तर तय्यार हो रहे थे। चारों ओर से प्रेरित किये जाकर १८८७ ई० के अन्त में मन्त्री जी ने परोपकारिणी सभा का अधिवेशन अजमेर में बुलाया। उस समय तक प्रान्तों की प्रतिनिधि सभाओं ने जोर नहीं पकड़ा था। इस कारण आर्य पुरुषों का ध्यान परोपकारिणी सभा पर केन्द्रित रहता था। यह भी खबर थी कि परोपकारिणी सभा एक वैदिक आश्रम की स्थापना करने वाली है। यही कारण थे, जिनसे अधिवेशन पर भारत भर की मुख्य २ समाजों के प्रतिनिधि अजमेर में उपस्थित होगये थे। अधिवेशन २८, २९ दिसम्बर को था, परन्तु आर्य पुरुषों की भीड़ २५ तारीख से ही आरम्भ होगई थी। पश्चिमोत्तर प्रदेश व अवध की आर्य प्रतिनिधि सभा का अधिवेशन भी उन्हीं दिनों अजमेर में रखा गया था। इस कारण और भी अधिक रौनक होगई।

परोपकारिणी सभा का अधिवेशन दो दिन हुआ। ९ सभासद् उपस्थित थे। वैदिक आश्रम सम्बन्धी प्रस्ताव पर देर तक बहस होती रही। अन्त में शाहपुराधीश श्रीयुत नाहरसिंह वर्मा की ओर से बा० जीवनराम साहिब ने अनासागर के किनारे पर विद्यमान उद्यान आश्रम के लिये भेंट के रूप में पेश किया। सभा ने भेंट को सहर्ष स्वीकार कर लिया। दूसरे रोज प्रात काल ९ बजे से आश्रम का बुनियादी पत्थर रखने की विधि का समारोह था। प्रात काल ही बाहिर से आये हुए और अजमेर के सज्जन इकट्ठे होकर भजन गाते हुए अनासागर की ओर रवाना हुए। उद्यान में पहुंचकर पहले ईश्वरभक्ति के भजन हुए, फिर प० गुरुदत्त जी तथा अन्य कई विद्वानों ने मिलकर वेद पाठ किया। परोपकारिणी सभा की ओर से पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने आश्रम की आधारशिला रखी, आधारशिला के साथ एक बोतल में वेदभाष्य के कुछ अंक

भी रखे गये। उसी स्थान पर ऋषि की अस्थियों की स्थापना की गई। विधि समा हो जा। पर हिसार के वकील ला० लाजपतराय जी का एक प्रभावशाली भाषण हुआ ऋषि के शिष्य रतलाम के दीवान प० श्यामजी कृष्ण वर्मा ने एक छोटे से भाषण ऋषि का गुणानुवाद किया। इस प्रकार उत्साह और जीवन के चिन्हों के साथ आश्र की स्थापना की विधि समाप्त हुई।

दूसरे दिन के अधिवेशन में वैदिक प्रेस की दशा पर विचार हुआ। आर्य पुरु का प्रेम से जो २ शिकायतें थीं, वह पेश की गई। उनका कोई सन्तोषजनक उत्तर न दिया गया। अधिकांश त्रुटियों को स्वीकार करना पड़ा। यह समझकर कि शायद प्रबन्ध के दूसरे हाथों में जाने से सुधार हो जाय, प्रेस की देख रेख का काम आर्यप्रति निधि सभा मेरठ के सुपुर्द किया गया। प्रतिनिधि सभा के मन्त्री ला० बिहारीलाल इस काम को सहर्ष स्वीकार किया।

६ विक्टोरिया की जुबिली

१६ फरवरी १८८७ का दिन भारत में बड़ी धूमधाम से मनाया गया था। मह राणी विक्टोरिया को राज्य करते ५० वर्ष व्यतीत होगये थे। इस प्रसन्नता में जुबिल की गई थी। सारे अंग्रेजी साम्राज्य में उस दिन ईशप्रार्थना और धन्यवाद की झ सी लग गई थी। भारत राजभक्ति के मैदान में किसी से पीछे नहीं रहा, और आ समाज भारत में किसी से पीछे नहीं रहा। आर्यसमाजों में महाराणी विक्टोरिया व जुबली बड़े उत्साह से मनाई गई। उस दिन आर्यसमाज मंदिरों में विशेष सभायें व गई, ईश्वर से महाराणी के दीर्घ जीवन के लिये प्रार्थना की गई, रात को रोशनी हु और अनेक समाजों ने महाराणी को अभिनन्दन पत्र भी दिये। आर्यसमाज के समाचा पत्रों ने रंगीन विशेष अंक निकाल कर अपनी राजभक्ति का परिचय दिया।

यह पंक्तियां १९२४ में लिखी जा रही हैं। १९२४ में यह समझना कठिन है कि आर्यसमाज ने १८८७ में राजभक्ति दिखाने में इतना उत्साह क्यों दिखाया? यदि आ के नेत्रों से नापा जाय तो आर्यसमाज का यह कार्य बहुत ही निचले दर्जे व प्रतीत होता है। दिल में एक बार यही विचार होता है कि जुबिली की घटना को एव गुनाह बेलज्ज़त दुर्घटना मान कर यहीं छोड़दें और आगे चलें जाय परन्तु न्याय व तकाजा दूसरा ही है। न्याय चाहता है कि उस समय के आर्यपुरुषों के कार्यपर पक्षपा हीन दृष्टि से विचार किया जाय। क्या उस समय के आर्यपुरुषों ने व्यर्थ ही जुबिली के समारोह में भाग लिया? क्या वह सब धर्म के वीर योद्धा केवल खुशामदी ही थे? जब शान्ति से इस प्रश्न पर विचार किया जाता है तो मालूम होता है, कि उस समय के आर्य

पुरुषों ने जो कुछ किया, सच्चे विचार से किया, और [illegible] । [illegible] उस समय के आर्य पुरुषों के कार्यों की परीक्षा ३७ वर्ष पीछे की [illegible] करनी चाहिये ।

उस समय के आर्य पुरुषों ने महारानी विक्टोरिया की जुबिली में [illegible] लिया । कारण यह था कि उस समय तक लगभग सारा भारतवर्ष इस [illegible] रखता था कि देश का कल्याण अंग्रेजी राज्य में ही है । [illegible] पहले की अराजकता की स्मृतियें अभी नई थीं, जो [illegible] वह ग्लैडस्टन के समय के उदार संस्कारों को लिये हुए थे, और [illegible] यह थी कि विक्टोरिया एक असाधारण महिला थी । [illegible] पर स्त्री किस प्रकार अपना अमृतमय हाथ रख सकती है । [illegible] अन्य राजाओं की तरह नाचीज नहीं था । विक्टोरिया के प्रति [illegible] भक्ति की, उसमें व्यक्तिगत भक्ति का भी बहुतसा अंश था ।

यह तो थे सामान्य कारण, जिनपर उस समय के [illegible] आश्रित थी । एक विशेष कारण भी था, जिससे आर्यसमाजी [illegible] राज्य का विशेषतया अनुगृहीत समझते थे । [illegible] घटनायें अंकितसी होरही थीं । हिन्दू प्रजा अकबर को भूल [illegible] गजेब याद था । वह समझते थे कि यदि ऋषि दयानन्द [illegible] स्वतन्त्रता से प्रचार न कर सकते । ऋषि दयानन्द ने भी [illegible] किया था । प्रारम्भ में आर्यसमाज ने जिस प्रकार का चौमुखी [illegible] लिये धार्मिक स्वतन्त्रता एक [illegible] के समान प्रतीत होती थी । [illegible] तो यह विचार भी निर्मूल ही प्रतीत होता है । यदि ऋषि दयानन्द [illegible] होकर मुसलमानी राज्य के समय में होते तो वह किसी [illegible] कर वैदिकधर्म का जयनाद बुला देते । सिक्ख धर्म अंग्रेजी राज्य [illegible] राज्य में ही फैला था । अग्नि अपना रास्ता आप निकाल [illegible] प्रवाह को हिमालय की चट्टानें बन्द नहीं कर सकतीं । [illegible] जो जिस दशा में भी पड़ता, क्रान्ति पैदा करके रहता । [illegible] कि आर्यसमाज का प्रारम्भिक प्रचार इतना निर्विघ्न न होता [illegible] एक धार्मिक संस्था न रहकर एक विशाल क्रान्ति के रूप में [illegible] हास में कल्पना का अधिक स्थान नहीं है । यह [illegible] पुरुषों का यह विश्वास था कि अंग्रेजी राज्य ने भारत को [illegible] चौमुखी लड़ाई में दृश्यमान धार्मिक स्वतन्त्रता बहुत [illegible] है ।

की ओर से महारानी की सेवा में जो अभिनन्दन पत्र पेश किये गये थे, उनसे यह बात स्पष्ट होजाती है। लाहौर आर्यसमाज के अभिनन्दन पत्र के तीसरे पैरे में स्कूल, वाणिज्य, तार, शिक्षा और शान्ति आदि के लिये अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा थी और चौथे पैरे में निम्नलिखित शब्द थे—

"But the most precious and inestimable boon of Your Majesty's reign for which the Arya Samaj is especially grateful, nay to which it owes its very existence, is the incalculable blessing of religious toleration."

आगे—

"It was under spirit of religious liberty which invests and perviates all departments of Your Majesty's government that the founder of the Arya Samaj Swami Dayanand Saraswati was able to preach his inner convictions for the benefit of his countrymen, and to awaken them to the knowledge of theistic worship inculcated in their most ancient and sacred scriptures—the Vedas."

परन्तु सबसे अधिक कीमती और अतुलनीय प्रसाद जिसके लिये आर्यसमाज आपके राज्य का कृतज्ञ है, और जिसके बिना इसकी सत्ता भी सम्भव नहीं थी, धार्मिक स्वाधीनता का है।

धार्मिक स्वाधीनता की उस छत्रछाया के नीचे ही, जिसने आपकी सरकार के सब विभागों को व्याप्त रखा है, आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती देशवासियों के हितार्थ अपने हार्दिक विश्वासों का प्रचार कर सके, और सबसे प्राचीन और पवित्र वेदों में प्रतिपादित एकेश्वर पूजा की ओर उन्हें प्रेरित कर सके।

आर्यसमाज मेरठ ने जो अभिनन्दन पत्र पेश किया था, उसमें निम्नलिखित शब्द थे—

'जिस वक्त से हजूर मलका मुअज्जिमा कैसरे हिन्द ने भारतवर्ष की सल्तनत को अपने कब्जे में लिया है, उस वक्त से यहां पर अमन व आमान और हिफाजत

जान व माल और मजहबी आजादी और इनायत तालीम और बहुत से मुफीद काम हमारे लिये मुहय्या हो गये हैं, जिन्होंने कि मनाव कैसरेहिन्द की सच्ची मुहब्बत हमारे दिलों में पैदा कर दी है।"

यह विचार थे, जो आर्यपुरुषों ने राजभक्त बना रहे थे। हम यह सकते हैं कि इन लोगों ने बहुत अच्छी तरह अंग्रेजी सरकार के स्वरूप को नहीं समझा था, परन्तु उनका आशय उत्तम था।

७ सामाजिक कठोरता और सहिष्णुता

यह समय वीरता का था। आर्य पुरुषों के लिये कदम कदम पर रुकावटें थीं। हिन्दू समाज आर्यसमाज को सन्देह की दृष्टि से देखता था। यदि लड़का आर्यसमाजी बनता था तो बाप को नाराज करके और माता को रुलाकर, यदि बाप आर्यसमाजी बनता था तो वह लड़के और लड़की को नाता न मिलने का खतरा झेलता था। विरोध के पहाड़ रास्ता रोकते थे, परन्तु आर्यत्व का उत्साह उनके सिरों पर से लांघकर निकल जाता था। वीरता के दृष्टान्त देना कठिन है क्योंकि उस समय जो भी हिन्दू सनातन धर्म को छोड़ कर आर्य आर्यसमाज में प्रविष्ट होता था, वह कुछ न कुछ वीरता दिखाता था। अनेक उदाहरणों में से हम केवल एक ही दृष्टान्त लेते हैं। मेरठ के आर्यसमाचार से हम निम्नलिखित वृत्तान्त उद्धृत करते हैं—

"खत प० नत्थासिंह जी उपप्रधान आर्यसमाज नगीना

बखिदमत जुमला साहिबान व मेम्बरान आर्यसमाज आर्यावर्त, नमस्ते

आप सब साहिबान इस समाज की काररवाई पर गौर फरमावें, और वह यह है। हरफर्दे बशर को लाजिम है, यानी जो शख्स अपना नाम आर्यसमाज के सभासदों में लिखवाये और सभा का मेम्बर होना चाहे, उस साहिब का कोशिश और धीरज ऐसा रखना चाहिये जैसा कि मोत्यासिंह उपदेशक गोरक्षिणी सभा और प्रतिनिधि आर्यसमाज नगीना जिला बिजनौर ने रखा, और जिस कदर तकलीफ और रंजिश इस शख्स को पैदा हुई है, उसको मुख्तसिर तौर पर बयान करता है, मगर उस शेरमर्द ने कुछ ख्याल न किया। अब देखिए। अव्वल तो जिस मकान में यह शख्स रहता था, उस मकान से इस शख्स को इसके रिश्तेदार पोप लोगों ने बाहिर निकाल दिया, परन्तु आर्यसमाज का आना जाना इस शख्स ने न छोड़ा। और सिवाय इसके पोप लोगों ने और बहुत सी तकलीफें दीं, उनका बयान करना फजूल समझता हूं, और किसी तरह से पोपों का काबू इस शख्स ने नहीं चलने दिया। मगर एक

[illegible] और [illegible] । [illegible] है कि [illegible] । [illegible] । [illegible] मथुरा [illegible] और [illegible] । और कुछ भी [illegible] न किया । [illegible] मथुरा [illegible] हजार के करीब गऊ मथुरा में थी, जिसमें [illegible] गोरक्षा का किया इत्यादि।'

यह केवल एक दृष्टान्त है। उस समय [illegible] ऐसे दृष्टान्त प्रत्येक ग्राम और नगर में हो रहे थे, जो लेखबद्ध भी नहीं हुए। [illegible] आजकल के वातावरण में पले हुए व्यक्ति इस बात को नहीं समझ सकते, कि उस समय के वैदिक धर्मियों को कितना स्वार्थत्याग करना पड़ता था।

८. गोरक्षा का कार्य तथा अन्य घटनायें

ऋषि दयानन्द के जीवनवृत्तान्त में उनके गोरक्षासम्बन्धी कार्य का विशेष वर्णन आ चुका है। उनके देहान्त के पश्चात् इस विषय में आर्यसमाज के प्रसिद्ध आदि भजनोपदेशक चौधरी नवलसिंह ने अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया था। उक्त चौधरी जी ने गोरक्षा की अपील में जो लावनियाँ बनाई थीं उनको सुनकर आर्य जाति के बाल और वृद्ध सभी के अन्दर प्रेम और भक्ति का प्रवाह उमड़ आता था। पंजाब प्रान्त में सन् १८८४ के मध्यभाग से आन्दोलन आरम्भ करके चौधरी जी ने बहुत चन्दा और गायें एकत्र की थीं। स्वामी पालाराम इस कार्य में उनके सहायक थे, क्योंकि उस समय उक्त साधु महाराज बड़ी लगन से आर्यसमाज का प्रचार कर रहे थे। हरिद्वार पर जाकर चौधरी नवलसिंह ने गौओं के ऊपर जो अत्याचार देखा और उसके हटाने का जो प्रबन्ध किया उसे उन्होंने आर्य्य विनय के सम्मिलित अङ्क १४-१५ में इस प्रकार वर्णन किया है —

'हरिद्वार पर लोग गोदान करके ब्राह्मणों को देते हैं और वे लोग गौ को मुसलमानों के हाथ बेच देते हैं और वह मुसलमान लोग ज्वालापुर आदि में लेजाकर मार डालते हैं। दो सौ चार सौ गाय इसी तरह से हरिद्वार पर आकर मारी जाती हैं और जो लोग दान देकर गौरे या सांड बनाकर बछड़े या बछड़ा हरद्वार पर छोड़ जाते हैं उनका न कोई वारिस न मालिक होता है। उनको पापी लोग लावारिस समझकर जिबह कर डालते हैं। वह हर साल सैकड़ों मारे जाते हैं और देश में भी हिन्दू कसाइयों को गाय बेचते हैं उनके वास्ते धर्म की कोई व्यवस्था नहीं है। इस वास्ते

हरिद्वार पर गोरक्षा का प्रबन्ध इस तरह किया गया था। वहां के ब्राह्मणों को यह कहा गया था कि जो यात्री गंगाजी में स्नान करे उनसे यह संकल्प मंगानी में कराना कि वे कि गै मर्यादान्त किसी के हाथ गाय न बेचेंगे और वह जो कुछ गोरक्षा के निमित्त दान दे उस आमदनी से यहां पर जगत में गोशाला बनाई जावे, जिसमें वह गायें और गौरी पलते रहें और अन्न गौयें आवें, वह भी उस आमदनी से मोल लेकर गौशाला में छोड़ दी जावें। एक आना भी जो एक आदमी से लिया जाता तो १२००० हजार रुपया हर साल गोरक्षा के दान पात्र में आता, क्योंकि दो लाख आदमी साल भर में गंगास्नान को आते हैं, सो यह नियम हरिद्वार के ब्राह्मणों ने स्वीकार करके एक झण्डा गोरक्षा के नाम से ब्रह्मकुण्ड पर खड़ा किया था, और तख्ता जिसपर गोरक्षा के नियम लिखे थे, हर की पौड़ी पर खड़ा किया था और यह लिखा लिखी गई थी कि जो यात्री गंगा में स्नान करेगा उसका पुरोहित झण्डे के नीचे गोरक्षा का संकल्प कराके श्रद्धापूर्वक दानपात्र में दान दिलावे, और इस धन से गौशाला बनाई जावे, उसके मालिक हरिद्वार के ब्राह्मण पंच होंगे। पं० भगवानदत्त ज्योतिषी कनखल को इसका अध्यक्ष किया गया था। उस लेख पर मेरे और सब ब्राह्मणों के हस्ताक्षर कराये गये थे और सब काम जारी किये गये थे। मैं इस काम को जारी कराकर गौशाला की पुष्टि के निमित्त चन्दा लाने के वास्ते सहारनपुर की तरफ दौरे में गया था, और यह सब हाल कई एक अखबारों में भी लिखवा दिया था। जिस समय यह खबर धर्मसभा जगाधरी जिला अम्बाला, और धर्मसभा रुड़की जिला सहारनपुर को मिली तो उक्त दोनों सभाओं का यह विचार हुआ कि गो रक्षा का पूरा प्रबन्ध हुआ, और यह गो रक्षा का मार्ग दयानन्द सरस्वती का चलाया हुआ है इससे दयानन्द का पक्ष सिद्ध होता है, तो जगाधरी सभा ने एक खत देकर लाडलीप्रसाद गुजराती को, और धर्मसभा रुड़की ने फकीरचन्द अध्यक्ष को हरिद्वार पर भेजा। उन्होंने ब्राह्मणों से कहा कि तुमने अपने सनातन धर्म को छोड़ दिया। आजतक यहां न गौशाला बनी थी, न गौ के बेचने का संकल्प हुआ था। क्या पहले कोई बुद्धिमान् न हुआ था? यह गोरक्षा का मत दयानन्द का चलाया हुआ है। हमारा तुम्हारा काम इसकी हानि करना धर्म है। जब तुम हरिद्वार पर गोरक्षा करोगे तो लोग कहेंगे कि देखो दयानन्द का ऐसा उपदेश है कि, अब ब्राह्मण भी गोरक्षा करने लगे। दयानन्द जी की कीर्ति होने से हमारी तुम्हारी हानि है। गरज ऐसी २ बातें कहकर ब्राह्मणों को बहकाकर गोरक्षा का झण्डा तख्ता दानपात्रादि उठवाकर हलवाई की भट्टी में जलवा दिये। यह खबर मूलचन्द मास्टर कनखल ने खत के जरिये से मुझे दी। मैं हरिद्वार आया, और ब्राह्मणों से कहा कि तुमने यह क्या किया, तो ब्राह्मणों ने कहा कि गोरक्षा करना या गौशाला बनाना हमारा धर्म नहीं, हमतो गंगा पुत्र हैं, गंगा देती है हम खाते हैं। हमको दुनिया के कामों

से क्या काम ? परमेश्वर की इच्छा से गौ मारी जाती है-हम उसकी मर्जी का कैसे रोक दें। मुसलमान गो वध करते हैं यह भी तो उदरीति से करते हैं, पुराने भी तो अथर्ववेद हैं, पहले हमारे यहां भी तो गो-वध करते थे। जब हम समर्थ थे, अब वह सामर्थ्य नहीं है।" मैंने उन ऋषि मुनियों की सन्तान के मुंह से ऐसी बात सुनकर अत्यन्त शोक किया कि हाय यह उन्हीं की सन्तान हैं जो गौ पर अपना प्राण न्यौछावर करते थे। आज उस महाकुल की सन्तान उल्टा यह पर खड़ी हुई यह कह कि गोरक्षा करना हमारा धर्म नहीं है और इस परम धर्म का झण्डा उखाड़ कर आग में फूंक दें। अब हमको क्या आशा हो कि हमारा देश उन्नति को प्राप्त होगा। क्या हरिद्वार में यह प्रबन्ध होने से सारे भारतवर्ष में यह व्यवस्था न फैल जाती कि गौ हिंसक को मत दो। जब हिन्दू लोग उनको गाय न देते तो उनको गाय कहां से मिलती ? २४ करोड़ आबादी में ३ करोड़ गौ का बुरा चाहने वाले और २१ करोड़ रक्षा करने वाले हैं, फिर भी गौ मारा जा रहा है। शोक ! क्या करें, हमारे ऊपर कोई व्यवस्था करने वाला न रहा जो गाय किसी ने रात को शेर के डर से घर में बांधी और दैवयोग से उलझ कर मर गई तो बांधने वाला हत्यारा हो गया। गंगापर आकर गोदान में प्रायश्चित्त करने लगे और भंगी उसके सिर पर जूते मारे तब बिरादरी उससे खान पान करे और-जो अपने हाथ से दो रुपये के बदले बूचर की छुरी तले गौ को बेच दे उसको न कोई दण्ड न प्रायश्चित्त। सच हमारे धर्म का वही हाल है कि अशर्फियों की लूट और कोयलों पर मोहर। एक हफ्ता इन लोगों से मुझको मगज मारते हो गया पर मैं अकेला हूं और धर्मसभा वाले कई आदमी बहका रहे हैं, मैं लाचार होकर आज जाता हूं। उन लोगों की बुद्धि भ्रष्ट हो गई। क्या किया जाय परन्तु मैं देशोपकारक और धर्मरक्षक अखबारों से आशा करता हूं कि इस मजमून को अपने २ पत्रों में लिखकर और अपनी २ राय देकर इन दुर्बुद्धि लोगों को धिक्कार देकर समझा देंगे। मुझको एक साल हुआ पेशावर से बरेली तक गोरक्षा के लिये फिरता हूं। एक दो गोशाला मुजफ्फरनगरादि में बनाई गई थीं और लाखों मनुष्यों को गो रक्षा का उपदेश देकर हिंसक के हाथ न बेचने का संकल्प भी कराया परन्तु यह हरिद्वार में ऐसा उपकार किया हुआ धर्म सभा ज्वालापुरी और रुड़की ने नष्ट कर दिया, जो वह मेरी जान भी ले लेते पर इस कार्य का नाश न करते तो मुझको शोक न था।"

चौधरी नवलसिंह ने पण्डों के इस दुष्कर्म को उत्तरीय भारत के सारे नगरों में प्रसिद्ध कर दिया और आर्यसमाजों के प्रतिनिधि चारों ओर से हरिद्वार पहुंच गये। ११ मई सन् १८८६ को ज्वालापुर में एक बड़ी भारी सभा की गई। पण्डों को बहुत से यजमानों ने लिखकर भेजा था कि यदि तुम गोरक्षा के कार्य का पुनरुद्धार न करोगे तो हमारा तुमसे कुछ वास्ता न रहेगा। आर्य सत्पुरुषों तथा अन्य सज्जनों ने पण्डों को

बहुत समझाया परन्तु वह इस शुभ कार्य में सहायता देने की जगह क्रोधित होकर बाधक हुए और असभ्यता से गाली प्रदानादि व्यवहार कर लड़ने मरने को उपस्थित हुए। अन्त को हार कर सामाजिक पुरुषों के उद्योग से कनखल चुन्नीलाल के बाग में १५ मई को हवन भजनादि के पश्चात् गोरक्षिणी सभा का झण्डा कायम किया गया और स्थानाधिप महाशय ने भी स्थान देने के अतिरिक्त दृढ़ प्रतिज्ञापूर्वक इस काम पर यथावत् दृष्टि रखने तथा उन्नति करने का जिम्मा लिया।

इसी अवसर पर चौधरी नवलसिंह ने अपनी वह प्रसिद्ध लावनी बनाकर गाई थी जिसके एक पद में पण्डे की करतूत का ही वर्णन है। पद यह है—" इधर धर्म का झण्डा गाड़ें, उधर अधर्मा रहे उखाड़" उस समय के दर्शक कहते हैं कि जिस समय यह पद गाया गया, सैंकड़ों पुरुषों की आंखों में आसू जारी थे और कनखल निवासी महाजन और अन्य पुरुष पण्डों पर लानतें डालते थे। इस गोरक्षिणी सभा के प्रधान फर्रुखाबाद के रईस लाला मोहनलाल नियत हुए और चौधरी नवलसिंह को मन्त्री बनाया गया।

सनातनी समाचार पत्रों (मित्रविलासादि) ने गोरक्षा का झण्डा उखाड़ने पर हरद्वार के पण्डों की उलटी पीठ ठोकी जिसके लिए हेतु यह दिया कि "दयानन्दी गोरक्षा की आड़ में अपना आर्यसमाज कायम करते हैं, गोरक्षा तो केवल बहाना है।" पौराणिक सनातनी पत्रों ने चाहे कुछ ही शोर मचाया परन्तु हरद्वार के पण्डों को उनके यजमानों ने सीधा कर ही लिया। आर्य विनय खड १ अक २१ के सामाजिक समाचारों में नीचे का समाचार छपा था.—

"अत्यन्त हर्ष का स्थान है कि हरिद्वार में दूसरी गोशाला भी प्रस्तुत होगई। पण्डों ने अपना पूर्वकृत दोष अपमाजन किया। इतना बुरा भला सुनकर, देश देशान्तरों में प्रख्यात होकर, अब समझ में आया कि गोरक्षा अवश्यमेव करनी है। मूर्ख लोग बिना अन्तिम फल विचारे शीघ्रता से ऐसे ही कार्य कर बैठते हैं कि जिससे पश्चात् उनको निन्दापात्र बनना पड़ता है।" पण्डों ने सभा तो बनाई परन्तु उसके तीन सभापति और छ प्रधान नियत हुए क्योंकि उनको अपने सब यजमानों का प्रसन्न करना ही अभीष्ट था।

हरिद्वार की गोशाला कुछ काल तक चलती रही।

६. उपसंहार

यह दो वर्ष आर्यसमाज के लिये शान्तिमय उन्नति के थे। जहां डी ए वी स्कूल की स्थापना से आर्यसमाज की जड़ें पाताल में पहुंच गई वहां अन्य धर्मों तथा सम्प्रदायों से

कोई बड़ा संगठन उत्पन्न नहीं हुआ। कहीं २ छोटे मोटे शास्त्रार्थ होते रहे, परन्तु टक्कर का प्रचार समय अभी आरम्भ नहीं हुआ था।

आर्य पुरुष वैदिक संस्कार करने लग गये थे परन्तु अभी तक संस्कारों के पांव नहीं जमे थे। विवाह के काम में विधवा विवाह के कुछ दृष्टान्त पाये जाते हैं और कहीं कहीं ११ वर्ष की कन्या के वैदिक विवाह के समाचार भी मिलते हैं। संस्कारों की ओर जो थोड़ा बहुत भी उद्योग मिलता है, वह महत्त्वपूर्ण है। इस समय छोटी २ वस्तु का बड़ा विरोध होता था। यदि लोग थोड़ा भी करते थे तो अधिक सहन करना पड़ता था। उस समय के आर्य पुरुषों की यदि उसी समय की अवस्थाओं को देखते हुए परीक्षा की जाय तो कहना पड़ेगा कि वह लोग धर्म पर सुखों का बलिदान करना जानते थे।

पांचवां परिच्छेद

सनातनधर्म से संघर्ष

१८८८ ई०—१८८९ ई०

१. कारण

ऋषि दयानन्द ने चौमुखे आक्रमण किये, सब सम्प्रदायों को धक्का लगाया, किसी को भी अछूता नहीं छोड़ा। ऋषि ने अनेक शास्त्रार्थ किये। बहुत से पर्वत जो अपनी उचाई का दावा रखते थे, उस हिमालय के सामने छोटे दिखाई देने लगे। सनातनधर्मियों ने अपनी बड़ी से बड़ी तोपों को लाकर दयानन्ददुर्ग का घेरा डाला, परन्तु ब्रह्मचर्य और प्रतिभा की फसील पर कोई असर न पैदा कर सके। शास्त्रार्थ भी एक कला है, जो केवल पाण्डित्य के साथ नहीं आती। ऋषि से पूर्व तथा उस समय में भी काशी और नदिया में दिग्गज पंडित विद्यमान थे। वह धाराप्रवाह संस्कृत बोल सकते थे, व्याप्तियों के छर्रों और अवच्छेदकों के गोलों से विरोधी पंडित का अंग-भंग कर सकते थे, पर सर्वसाधारण के सामने आकर छोटे से छोटे विषय पर युक्ति-पूर्वक बात नहीं कर सकते थे। वह अंधेरी कोठरी के दिग्गज थे, ऋषि ने उन्हें खुले मैदान में ललकारा। खुले मैदान की लड़ाई में जिन गुणों से सफलता प्राप्त होती है, वह उनमें विद्यमान नहीं थे। दयानन्द ने शास्त्रार्थ के पुराने सब कानूनों को तोड़ डाला। वह व्याप्तियों की धारा नहीं छोड़ता था, अवच्छेदकों के गोले नहीं बरसाता था, वेदों के मन्त्र प्रमाण में पेश करता था, और जब उसे आवश्यकता होती थी, तब वेद ब्राह्मण उपनिषद् दर्शन और स्मृति अपना २ हिस्सा देने के लिये उपस्थित होजाते थे। इस नई शास्त्रार्थ पद्धति ने पुरानी पण्डिताऊ शास्त्रार्थ पद्धति को बिल्कुल निकम्मा बना दिया। अन्तिम दिनों में ऋषि का मार्ग निष्कण्टक बन गया था। प्रतिपक्षियों ने हथियार फेंक दिये थे।

ऋषि के पीछे लगभग ५ साल तक प्रतीक्षा और तय्यारी का समय था। आर्य समाज का सबसे सेनापति खो गया था, नये सेनापति तय्यार नहीं हुए थे। उधर सनातनधर्म नई शास्त्रार्थप्रणाली का क ख ग सीख रहा था। वह भी महों को तय्यार

पर रहा था। ५ वर्ष का सन्दर्भ के बाद १८८८ ई० में हम फिर आर्यसमाज और सनातनधर्म को टकराता हुआ देखते हैं। उस के बढ़ने का एक यह भी कारण था कि आर्यसमाज की उन्नति पुराने दुर्गों की जड़ों को हिला रही थी। बाप सनातन विचारों का था, तो लड़का आर्यसमाजी बन रहा था। एक भाई गणेशजी को पूजता था, तो दूसरा भाई मूर्तिपूजा के खण्डन में लगा हुआ था। समाज में एक क्रान्ति पैदा हो रही थी, जिस से पुराने विचारों के ठेकेदार घबरा उठे थे। १८८४ ई० से १८८७ ई० तक आर्यसमाज की शक्ति जितनी बढ़ती गई, पौराणिक विचार रखनेवालों की घबराहट में उतनी ही वृद्धि होती गई। १८८७ ई० में गति और स्थिति की शक्तियां आपस में जोर से टकराने लगीं।

२. आर्यधर्मसभा और आर्य सिद्धान्त

ऋषि की मृत्यु के पीछे सनातनधर्म की ओर से आर्यसमाज के प्रवाह को रोकने का पहला संगठित प्रयत्न किन्हीं पण्डित राममोहन शर्मा की ओर से हुआ था। राममोहन शर्मा का नाम तो केवल दिखाने के लिये था, असल में 'महामोहविद्रावण' काशी के किसी बड़े पण्डित का लिखा हुआ था। लोगों का अनुमान था कि उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् भागवताचार्य ने ही 'विद्रावण' की रचना की थी। इस छोटी सी पुस्तक में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदव्याख्याविषयक सन्दर्भ का खण्डन हुआ था। भाषा नितान्त असभ्य थी, योग्यता दिखाने का प्रयत्न प्रत्यक्ष दीखता था। इस लेख का एक नमूना यह दिखाने के लिये दिया जाता है कि उस समय की पण्डितमण्डली विवाद में किस भाषा का प्रयोग उचित समझती थी।

"अथैकदा पवित्रतमायां सुलभसुभगगाङ्गप्रवाहायां वाराणस्यां विभागे सम्प्रति धर्मध्वजशिरोमणि पुण्यजनग्रामणीरिममर्यादा पङ्कबहुलालवणजलान्पल्वलात् सद्य समुत्थित सर्वाङ्गावपङ्कलेपेन स्तब्धरोमेव स्थूलकायः धर्मपुस्तकमूलमुन्मूलयन् काश्यादिपुण्यतीर्थभुवो दारयन्निव कश्चिद् भिक्षुवेषो दर्शनीयाकारश्मश्रुघुरायितमुख कल्कयन्निव स्ववेष ग्रासयन्निव राक्षसानाम्मतिं जगत्येव, सञ्जनयन्निव सनातनचेतन क्लेशं, वञ्चयन्निव स्वदेशवस्तुन स्वात्मानमेव वञ्चयन् काकुत्स्थ समुपागमत्।"

एक बार अत्यन्त पवित्र सुलभ सुन्दर गङ्गा प्रवाह से युक्त काशीपुरी में एक भिखारी वेष वाला आदमी आया। वह कैसा था? उसे पण्डित और मूर्ख पुण्य जनों में श्रेष्ठ कहते थे (पुण्य जन का अर्थ श्रेष्ठ पुरुष भी है और नास्तिक भी) कीचड़ से निकले हुए, मिट्टी से सने होने के कारण स्तब्ध केशोंवाले सुअर के समान वह धर्म पुस्तक रूपी वनस्पति की जड़ों को खोदता, और काश्यादि तीर्थों की पवित्र भूमि

को उगाड़ता था। उनके मुह से देवनिन्दा का शब्द सूअर के घुर घुर शब्द की तरह निकलता था। वह मानो अपने भेष को कलङ्कित कर रहा था, सारे संसार को, आर्य स्त्री जन म डुबो रहा रहा था, सज्जनों के दिलों को दुःखित कर रहा था, अपने देश को और वस्तुतः अपने आपको ही धोखा दे रहा था और कलङ्कित कर रहा था।

यह महामोहविद्रावण की प्रारम्भिक पंक्तियां हैं। इस प्रकार की भाषा का प्रयोग उस समय के पण्डितों में श्रेष्ठ समझा जाता था। वह समझते थे कि एक लच्छेदार अपशब्द तीव्र युक्तियों का स्थान देता है। उन्हें नहीं विदित था कि युग परिवर्तन हो चुका है। अब कठिन गाली के स्थान पर शान्त युक्ति को अधिक बलयुक्त समझा जाता है।

इस प्रकार के लेखों का सर्वसाधारण पर तो कोई प्रभाव नहीं होता था, परन्तु संस्कृत के विद्वान् इन्हें पढ़कर अवश्य प्रभावित होते थे। प्रभाव का यह अभिप्राय नहीं कि उनकी सम्मतियों पर कोई प्रभाव उत्पन्न हो जाता था, ऐसे लेख कभी सम्मतियों पर प्रभाव नहीं पैदा कर सकते थे। इनका असर केवल यह होता था कि जो लोग ऋषि के विरोधी थे वह कुछ समय के लिए प्रसन्न हो जाते थे, और जो ऋषि के भक्त थे, उनके हृदयों को दुःख पहुंचता था। ऋषि के शिष्यों में से तीन ही मुख्य समझे जाते थे। स्वामी अच्युतानन्द जी के कार्य का वर्णन आ चुका है। प० भीमसेन और प० ज्वालादत्त ऋषि के खास शिष्यों में से थे। उन्होंने ऋषि से बहुत कुछ पढ़ा था। वेद भाष्य तथा अन्य ग्रन्थों के प्रूफ संशोधन का कार्य प्रायः इन्हीं दोनों के हाथों से होता था। ऋषि की मृत्यु के पीछे उक्त दोनों पण्डित प्रयाग के वैदिक प्रेस में संशोधन का कार्य करते रहे। उस समय आर्यसमाज में पंडितों का अभाव था। ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों के प्रूफ संशोधन तथा लेखन के कार्य के लिये अपनी फर्रुखाबाद की पाठशाला के सबसे योग्य विद्यार्थी भीमसेन और ज्वालादत्त को साथ ले लिया था। दोनों में से प० भीमसेन की योग्यता अच्छी थी, परन्तु स्वभाव चञ्चल था, प० ज्वालादत्त का स्वभाव स्थिर था, अक्षर अच्छे थे, परन्तु कौशल और पाण्डित्य की कमी थी। स्वभाव की चञ्चलता के कारण भीमसेनजी को स्वामी जी के कोप का भाजन भी होना पड़ता था। प्रतीत होता है कि वह अहङ्कार में बहुत शीघ्र आजाते थे। कभी २ अपने पाण्डित्य के मद में आकर स्वामी जी की अशुद्धियां निकालने की धुन उन पर सवार होजाती, और इधर उधर बुराई तक करने लगते। एकबार कार्य की अत्यन्त शिथिलता के कारण ऋषि ने प० भीमसेन को अलग भी कर दिया। मार्गशीर्ष बदी ५ सम्वत् १९३४ के पत्र में ऋषि ने वैदिक प्रेस के मैनेजर मुन्शी समर्थदान को लिखा है "आज अत्यन्त अयोग्यता के कारण भीमसेन को सब दिन के लिये निकाल दिया है,

उसको सुख न लगाना। लिखे लिखाए का कुछ ध्यान न रहा' आदि। फिर जाकर पं० भीमसेन को आज्ञा सुनी। स्वामीजी को आपने जो पत्र भेजा, वह भीमसेन की मानसिक दशा को अच्छी तरह सूचित करता है। हम पत्र की कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत करते हैं —

"[illegible] मेरा चित्त था कि [illegible] आप जैसे गुरु पुरुष का [illegible] हो जाता। [illegible] यह विचार नहीं किया। यही मेरी भूल है और आपका यह कहना बहुत सत्य है कि जबतक मनुष्य को धक्का नहीं लगता तबतक बुद्धि नहीं आती। अब मेरा यही विचार है कि आपका मन मैंने बहुत [illegible] किया, और आपकी भी मेरे समान [illegible] होगा। अब मेरे ऊपर कृपा करके मेरे दोष आप [illegible] जानते हैं और कुछ मैं भी जानता हूँ, सो आप चित्त से हटा दीजिये। अब कि मैं सब दोषों का [illegible] छोड़ दूँगा। जिन २ बातों से मेरी, आपकी बुद्धि में विरोध पड़ता था, सो वे बातें अब कदाचित् किंचित् भी न रहेंगी। अब पूर्वानुभूत अपराधों को क्षमा करके अपने चरणकमलों के दर्शन कराइये।"

स्वामीजी ने क्षमा कर दिया। पं० भीमसेन फिर प्रेस में संशोधक का कार्य करते रहे। चित्त की चंचलता और [illegible] में [illegible] प्रकृति ने पं० भीमसेन का अन्त तक साथ दिया। इन दोषों के होते हुए भी उनकी योग्यता में कोई सन्देह नहीं था। अपने समय में वह आर्यसमाज के चोटी के पण्डित माने जाते थे। आर्यपुरुषों में उनका अनियन्त्रित प्रवेश था। उनके प्रोत्साहन से और प्रयाग निवासी बा० विश्वेश्वर सिंह जी के उद्योग से [illegible] आर्यों के [illegible] और धार्मिक प्रश्नों का निर्णय के लिये आषाढ़ शुक्ल १३ सं० १९४४ (जुलाई १८८७) को आर्य धर्मसभा की स्थापना हुई। सभा का उद्देश्य वैदिकधर्म पर किये गये आक्षेपों का खण्डन और शंकाओं का समाधान करना था। सभा के मन्त्री पं० भीमसेन शर्मा बनाये गये। आक्षेपों के खण्डन के लिये 'आर्यसिद्धान्त' नाम का मासिक पत्र निकाला गया। उसीमें आर्य पुरुषों की शंकाओं का समाधान भी होता था। पहले तो यथासम्भव सभी शंकाओं का समाधान करने का यत्न किया जाता था, परन्तु जब यह कार्य कठिन होने लगा, तो घोषणा की गई कि केवल उन्हीं शंकाओं का समाधान किया जायगा जो आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्राप्त होंगी। पत्र के सम्पादक प्रारम्भ में पं० भीमसेन शर्मा और पं० ज्वालादत्त शर्मा थे, परन्तु पीछे से सम्पादन का कार्य केवल पं० भीमसेन शर्मा ही करते रहे। पत्र का वार्षिक मूल्य १) रखा गया था। सम्पादकों का कोई वेतन निश्चित नहीं किया गया था। छपाई [illegible] खर्च से जो बचे उसका आधा भाग सम्पादकों को भेंट दिया जाता [illegible] आर्यधर्म सभा का था परन्तु

प्रारम्भ से यह प० भीमसेन शर्मा के पूर्ण अधिकार में रहा। यहीं उनके साली जा-रिस था गये। जो इन्हें भी अंगार हो जाते तो पत्र भी सुस्तान लगता। ... दर्शन हो न देता था, परन्तु उस समय सामाजिक पत्रों का इतना अभाव था, ... की धर्म पिपासा इतनी बढ़ी हुई थी, और ऋषि के शिष्य का इतना ... था कि सब कमियों के होते हुए भी आर्य सिद्धान्त को आर्य पुरुषों से बहुत सी आर्थिक सहायता मिलती थी। जब वैदिक यन्त्रालय प्रयाग से उठकर अजमेर चला गया तो प० भीम-सेनजी प्रयाग में ही रह गये और उनके साथ ही आर्य सिद्धान्त और आर्यधर्मसभा के कार्यालय भी रह गये।

आर्य धर्मसभा की ओर से १८९४ के अन्त में दयानन्द विश्वविद्यालय का उद्घाटन किया गया। विश्वविद्यालय का उद्देश्य आर्यसमाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये उपदेशक तय्यार करना था। इस विद्यालय के मुख्य कार्यकर्ता प० भीमसेन जी ही थे। आर्य पुरुषों ने विद्यालय के लिये अच्छी सहायता दी। एक समय इसमें पन्द्रह बीस विद्यार्थी पढ़ने लगे थे। विश्वविद्यालय के संचालक ला० विशेश्वर सिंह जी रईस थे, जो ऋषि के अनन्य भक्त थे। वह चाहते थे कि ऋषिकी बनाई हुई पाठविधि का विद्यालय में अक्षरशः पालन किया जाय।

आर्य धर्मसभा के सभासद् मार्च १८९४ में ३६ थे, जिन में से लगभग आधे संस्कृतज्ञ थे। सभासद् बनने के लिये इतनी ही शर्त थी कि 'जो सभासद् बनना चाहे वह आर्यसमाजी हो और संस्कृत जानता हो।' संस्कृत जानना या न जानना का निर्णय सभासदों के उम्मेदवार के अधीन था। इस कारण सभा में अधिक संख्या उन लोगों की होगई जो नाममात्र के ही संस्कृतज्ञ थे। यही कारण था कि सभा अधिक समय तक न चल सकी। लगभग दो वर्ष तक जीवित रहकर मार्च १८९६ में सभा अपने तीसरे अधिवेशन के साथ समाप्त हुई। सभा समाप्त होने के कई कारण प्रतीत होते हैं। आर्यसमाज का जन्म युक्त में नियम और नियन्त्रण सिखाया गया है। आर्यधर्म सभा का न अच्छा नियन्त्रण था और न कोई विशेष नियम थे। आर्य प्रतिनिधि सभा के अतिरिक्त प्रान्त में किसी ऐसी सभा का रहना कठिन था, जो सब आर्य पुरुषों की प्रतिनिधि न समझी जाय। यदि आर्यधर्मसभा प्रतिनिधि द्वारा बनाई जाती, या प्रति-निधि के अधीन होती तो शायद जीवित रह जाती। प्रतिनिधि सभा के ... और आर्यधर्म सभा के ... की शिथिलता के कारण यह सभा अन्यथा सिद्ध सी हो गई थी। तीसरे अधिवेशन में यह सभा तोड़दी गई और आर्य सिद्धान्त तथा विश्वविद्या-लय के कर्ता धर्ता ... भीमसेन शर्मा ही रह गये। जितने दिनों तक आर्यधर्म

सभा रही, उसने उपयोगी कार्य किया। यह आर्यसमाज के संगठन के अनुरूप नहीं थी, इस कारण जीवित न रह सकी।

३ सनातनधर्म-महामण्डल

आर्यसमाज की शक्ति का रहस्य उसका मजबूत संगठन है। आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना के पीछे समाज की शक्ति और भी अधिक होगई। पौराणिक धर्म में कुछ समय से आत्मरक्षा की आवश्यकता पैदा हो रही थी। आर्यसमाज के प्रचार से जिन लोगों के हार्दिक भावों अथवा धर्मों पर चोट पहुंची थी, वह लोहे की कवच पहनने का उद्योग कर रहे थे। पौराणिक धर्म ने आत्मरक्षा के लिये कई प्रकार के उपाय आरम्भ कर दिये। स्थान २ पर धर्मसभा, पण्डितसभा सनातनधर्म सभा आदि की स्थापना होने लगी। पौराणिक सिद्धान्तों की पुष्टि में मासिक तथा साप्ताहिक पत्र निकलने लगे, और शास्त्रार्थों का समारोह होने लगा। इन फुटकर यत्नों के अतिरिक्त एक बड़ा उद्योग जो इस समय में आरम्भ हुआ, वह काशीधाम में भारत धर्म महामण्डल की संस्थापना थी।

मण्डल की एक शाखा पञ्जाब में भी स्थापित हुई। उसके मन्त्री प्रसिद्ध वाग्मी पं० दीनदयालु शर्मा बने। उस समय शर्मा जी मुन्शी दीनदयालु के नाम से प्रसिद्ध थे।

जनवरी १८८६ के मध्यभाग में आपने लाहौर में व्याख्यानों का सिलसिला जारी किया। शर्मा जी फार्सी और हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। आपका स्वर गम्भीर और मीठा था, बोलने में चतुरता और प्रौढ़ता पाई जाती थी, भाषण के बीच २ में तुलसी और सूरदास के दोहे ऐसे मनोहर प्रतीत होते थे, जैसे उद्यान में गुलाब के फूल। आप जब स्वर भंगी के साथ चौपाई का पाठ करते थे, तब श्रद्धालु श्रोता मन्त्रमुग्ध से होकर सिर हिलाने लगते थे। लाहौर में मन्त्री जी के व्याख्यानों ने एक हलचल सी पैदा करदी। आपने मूर्तिपूजा श्राद्ध आदि विषयों पर व्याख्यान दिये।

आर्यसमाज की ओर से इन व्याख्यानों के उत्तर दिये गये। स्वामी श्यामानन्द जी, स्वा० अच्युतानन्द जी और पं० गुरुदत्त एम० ए० के जोरदार भाषण हुए। प्रतीत होता है कि आर्यसमाज के व्याख्यानों का अच्छा प्रभाव हुआ। एक जनरल सभा में पं० गुरुदत्त जी के भाषण के पश्चात् आर्यसमाज के ५० नये सभासद् बने। शास्त्रार्थ की थोड़ी बहुत चर्चा हुई परन्तु कुछ फल न निकला। दोनों ओर के व्याख्यान जुदा जुदा स्थानों में होते रहे। महामण्डल के डेपुटेशन का सनातन धर्मी लोगों की ओर से अच्छा आदर हुआ। धन से भी पुष्कल सत्कार हुआ। प्रतीत होता है कि डेपुटेशन को जो भेंट मिली, उसके बटवारे के सम्बन्ध में बहुत से मतभेद पैदा होगये थे।

…लाहे करबला' नाम के सनातनधर्मी पत्र ने उन्हीं दिनों शिकायत की थी कि …ल के मन्त्री ने मण्डल का रुपया खा लिया। प्रतीत होता है कि लाहौर के सना…तनधर्मियों में ऐसे समाचारों ने बहुत खलबली पैदा करदी थी। कुछ ही दिनों पीछे …हौर की सनातनधर्म सभा दो हिस्सों में विभक्त होगई। एक पक्ष मण्डल के मन्त्री …का पोषण करता था, और दूसरा उसकी आलोचना करता था। आर्यसमाज के समाचार …पत्रों ने इन घटनाओं पर टीका टिप्पणियां कीं। एक तो इस फूट को सनातनधर्म की …वैदिकता का फल बतलाया, और दूसरे व्यङ्ग्य रूप से प्रस्ताव किया कि यदि मण्डल के …मन्त्री का पुतला मसिर पे ला रख दिया जाय तो झगड़ा दूर हो सकता है।

महामण्डल के साथ आर्यसमाज की दूसरी मुठभेड़ वृन्दावन में हुई। १८८९ ई० के अप्रैल मास में वृन्दावन में एक मेला था। उस समय से लाभ उठाकर मण्डल के अधिकारियों ने प्रचार का समारोह किया। भारतभर के सनातनधर्मी पण्डित एकत्र हुए। मथुरा आर्यसमाज की ओर से मण्डल का प्रत्युत्तर देने के लिये प्रचार का प्रबन्ध किया गया था। लगभग २०० आर्य सज्जन इकट्ठे हुए, जिनमें से अधिकांश संस्कृतज्ञ थे। आर्यसमाज ने पृथक् डेरा तय्यार किया था, जहां प्रतिदिन व्याख्यान होते थे। स्वामी दर्शनानन्द जी के भाषण सुनने को लोग इतने उत्सुक रहते थे कि प्रतिदिन उन्हें कुछ न कुछ बोलना ही पड़ता था। आपका भाषण स्पष्ट रोचक और युक्तियुक्त होता था। आर्यसमाज के कार्यकर्ता जानते थे कि मथुरा और वृन्दावन पौराणिक गढ़ हैं। उन्हें आशा नहीं थी कि उस गढ़ में सच्ची परन्तु कड़वी बात सुनने को कोई तय्यार होगा, परन्तु आर्यसमाज के समाचार पत्रों में प्रचार का जो वृत्तान्त छपा है, उससे प्रतीत होता है कि जनता ने आर्यसमाज की बातों को बड़ी शांति से सुना।

शास्त्रार्थ की चर्चा भी छिड़ी थी, परन्तु वह नहीं हो सका। यों तो दोनों पक्षों ने शास्त्रार्थ न होने की उत्तरदायिता एक दूसरे पर डाली, परन्तु प्रतीत होता है कि महामण्डल की नीति प्रारम्भ से ही यह थी कि यथासम्भव शास्त्रार्थ से बचा जाय। बहुत सा शोर शार मचाकर अन्त में बिना भिड़े ही दोनों ओर के योद्धा घरों को चल गये।

२ शास्त्रार्थ

शास्त्रार्थों का युग आरम्भ हो चुका था। स्थान २ पर छोटे २ शास्त्रार्थ तो होते ही रहते थे, परन्तु बड़े २ दङ्गलों का भी अभाव नहीं था। उस समय के शास्त्रार्थों का वृत्तान्त पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि दोनों लोग जिज्ञासा से प्रेरित होते थे। हिन्दू समाज में एक विशेष हलचल पैदा होगई थी, जिसका असर बहुत व्यापी होरहा था।

[illegible] लड़ाई [illegible] [illegible] था। शास्त्रार्थों [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] था, [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] के उदय में शास्त्रार्थों [illegible], [illegible] यह [illegible] [illegible] पीढ़ी के लिये [illegible]। उस समय [illegible] [illegible] [illegible], परन्तु [illegible] [illegible] नहीं थी [illegible] [illegible] पर [illegible] हो [illegible]। इस प्रकार [illegible] समय के शास्त्रार्थ कुछ अधिक जीवित रहते थे।

इस समय के शास्त्रार्थों में दानापुर का शास्त्रार्थ विशेष उल्लेखनीय है। यद्यपि उसमें कोई प्रसिद्ध पण्डित भाग नहीं लेते थे, तो भी जिस [illegible] से शास्त्रार्थ का संचालन हुआ, वह बड़ा ही मनोरंजक था। यह शास्त्रार्थ १८८८ सन् के मार्च मास की १४ तारीख को आरम्भ हुआ। शास्त्रार्थ का विषय 'श्राद्ध' था। उस समय पूर्वी पंजाब और उत्तर प्रदेश में [illegible] शास्त्रार्थ [illegible] [illegible] बहुत [illegible] थे। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible] आनन्दित होते थे। [illegible] [illegible] के लोगों की [illegible] [illegible] यहाँ [illegible] [illegible] थे। शास्त्रार्थ के नियम [illegible] [illegible] गये थे कि वह लिखा [illegible] [illegible] [illegible] में ही मुख्य श्राद्ध की [illegible] पर विचार हो, वादी और प्रतिवादी [illegible] [illegible] प्रश्नों के [illegible] [illegible], और [illegible] की समाप्ति पर प्रश्नोत्तर की [illegible] [illegible] [illegible] करके पंडितों को दे दें। शास्त्रार्थ ५ दिनों तक रहा। पहले दिन [illegible] [illegible] की ओर से श्राद्ध का प्रतिपादन किया गया, दूसरे दिन आर्यसमाज ने उत्तर दिया, तीसरे दिन फिर सनातन धर्म के पण्डित ने [illegible] मत की स्थापना की, जिसका उत्तर चौथे दिन आर्यसमाज ने दिया। अन्तिम दिन सनातन धर्म की ओर से [illegible] [illegible] हुआ। इस शास्त्रार्थ में सनातन धर्म की ओर से एक अद्भुत बात यह कही गई कि मनुस्मृति भी षड्दर्शनों में है। बात यह हुई कि शास्त्रार्थ में केवल वेद और षड्दर्शनों का प्रमाण [illegible] [illegible] की बात तय हो चुकी थी। सनातनी पण्डित ने [illegible] के पक्ष में मनुस्मृति का प्रमाण दिया। आर्यसमाज की ओर से आक्षेप किया गया, तो उत्तर यह दिया गया कि मनुस्मृति भी षड्दर्शनों में से है। [illegible] पूरी [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] कर दिया गया। यह तर्क शायद उस समय के पीछे फिर कभी नहीं दुहराया गया।

शास्त्रार्थ के [illegible] में सनातन धर्म की ओर से एक [illegible] [illegible] खड़ा हो रहा था। स्वामी केशवानन्द संस्कृत के [illegible] विद्वान् होने के अतिरिक्त देखने में भी शानदार थे। उनके साथ साधुओं की एक बड़ी मण्डली रहती थी, और भक्तों का हजूम काफ़ी था। चार घोड़ों की गाड़ी में स्वामी जी की सवारी निकलती थी, जिसके आगे पीछे [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible] रहती थी। पंजाब में १८८८ में स्वामी केशवानन्द ने दौरा

लगाया। जहां कहीं भी वह पहुंचे, वहीं आर्यसमाज ने पर्दा किया। रावलपिण्डी लाहौर अमृतसर आदि पंजाब के बड़े २ शहरों में इस नये अवतार ने डेरा लगाया। लाहौर में स्वामी केशवानन्द के व्याख्यानों के उत्तर में पं० गुरुदत्त एम० ए० स्वामी स्वात्मानन्द ला० मुरलीधर और मास्टर दुर्गाप्रसाद आदि आर्य पुरुषों के व्याख्यान हुए, जिनका अद्भुत प्रभाव पड़ा। स्वामी केशवानन्द ने कई वर्षों तक पंजाब की भक्तमण्डली को अपने धर्मोपदेशों से अनुगृहीत करके इतना धन एकत्र कर लिया कि कुछ समय पीछे काश्मीर में विशालमहलरूपी कुटिया बनाकर राजसी ठाठ के साथ तपस्या आरम्भ कर दी। उस समय से वह शास्त्रार्थ के क्षेत्र से बाहर चले गये।

छुटके २ आर्यसमाज के सत्कार किस प्रकार पैंच रहे थे, इसका एक नमूना पर्याप्त होगा। पंजाब के पहाड़ी इलाके में मण्डी नाम की एक छोटी सी रियासत है। वहां के नरेश २ दिसम्बर १८८६ को जालन्धर पहुंचे। एकान्त पहाड़ी में भी उनके कानों तक ऋषि दयानन्द की आवाज पहुंच चुकी थी। जालन्धर में पहुंचते ही उन्होंने आर्य समाज और सनातन धर्म सभा को निमन्त्रण भेज दिया। निमन्त्रण के उत्तर में ३ दिसम्बर को दोनों सभा के प्रतिनिधि महाराज के डेरे पर पहुंचे। सनातन धर्म सभा ने महाराज की सेवा में जनेऊ और इलायची भेंट की, और आर्यसमाज की ओर से ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका सत्यार्थप्रकाश आदि ऋषिकृत ग्रन्थ भेंट किये गये। भेंट करते हुए समाज के मन्त्री ला० देवराज जी ने निम्नलिखित शब्द कहे—

"राजन्! संसार में प्रिय झूठ बोलने वाले बहुत हैं, किन्तु दुर्लभ मनुष्य वे हैं, जो अप्रिय सत्य को भी बुरा न मानें, और सत्य कहें। नास्तिक पुरुष अशर्फियां और रुपयों की नजरें पेश करते हैं, आर्यसमाज के सभासद् आप की खिदमत में स्वामी [illegible] धर्म अर्थ काम और मोक्ष सिद्ध करने वाले ग्रन्थ पेश करते हैं जिनसे उम्मीद है कि आप फायदा उठावेंगे, और अपनी प्रजा को भी उनके जरिये सुशोभित करेंगे।"

भेंट हो चुकने के पीछे धर्म चर्चा आरम्भ हुई। अनेक प्रश्नोत्तर हुए। [illegible] शास्त्रार्थ तो नहीं हुआ, परन्तु दोनों ही पक्ष अपनी २ युक्तियां [illegible] रहे। कई झपटें भी होगईं। एक सनातनी पण्डित ने महाराज को [illegible] आर्यसमाज के मन्त्री ने उसी समय प्रतिवाद कर दिया, और कहा कि [illegible] ईश्वर है। महाराज पर आर्यसमाज की स्वाधीन प्रकृति [illegible] अन्त में नरेश ने आर्यसमाज के कार्य की प्रशंसा करते हुए [illegible] आर्यसमाज को मूर्तिपूजा के पक्ष में कर [illegible] गया कि 'यह तो देखा जायगा [illegible] दिन [illegible]

पण्डित मनीराम और सनातन धर्म सभा के पण्डित श्री कृष्ण जी का संस्कृत और हिन्दी में शास्त्रार्थ हुआ। अन्त में नरेश की ओर से दोनों पक्षों को धन्यवाद दिया गया और यह ज्ञान चर्चा समाप्त हुई।

शास्त्रार्थों का शौक और २ पैदा होगया था। कहीं पत्र व्यवहार तक ही समाप्ति हो जाती थी, कहीं थोड़ी बहुत झपट भी हो जाती थी, परन्तु ठीक शास्त्रार्थ एक नौबत कम पहुंचती थी। जहां कहीं शास्त्रार्थ हो जाता था, वहां श्रोताओं पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता था। हिन्दू जनता आर्यसमाज की चोटों से विचलित होगई थी। विचार रूढि की अवस्था से निकलकर द्रव अवस्था में आगये थे। द्रव अवस्था में विचारों पर वाद विवाद का प्रभाव हो सकता है। जब विचार घनीभूत हो जाय तब वाद विवाद केवल शोर में समाप्त होता है। उस समय के सब शास्त्रार्थों में आर्यसमाज जीता या हारा—इस पर इतिहासलेखक कोई राय नहीं बना सकता परन्तु यह इतना अवश्य कह सकता है कि उन शास्त्रार्थों से आर्यसमाज के प्रचार में बड़ी सहायता मिली।

४ आर्यपुरुषों का धर्मप्रेम

जब कोई नया विचार लोगों के सामने रखा जाता है, तो वह प्रायः चौंक उठते हैं। नये विचारों का सब से अधिक कड़वा असर परिवार के सम्बन्धों पर होता है। सुधारक लोगों पर सदा यह दोष लगाया जाता है कि वह पारिवारिक शान्ति में विघ्नकारी होते हैं। सुधारकों पर आज से नहीं हमेशा से यह अपराध लगाया जाता रहा है। सुकरात और ईसा से लेकर ऋषि दयानन्द तक जिन लोगों ने मनुष्य जाति का सुधार करने का यत्न किया है, उन्होंने पारिवारिक संगठन के पक्षपातियों की गालियां खाई हैं। आर्यसमाज ने भी प्रारम्भ में पारिवारिक शान्ति में बहुत हलचल पैदा की, और खानदानों के बुजुर्गों की गालियां खाईं, वह गालियां इस बात में प्रमाण थीं कि आर्यसमाज कुछ काम करने में समर्थ हुआ है। जो संस्था हृदयों पर राज्य नहीं कर सकती वह किसी आदर्श के लिये भाई को भाई से नहीं लड़ा सकती। जो हवा का झोंका जल में सनसनी नहीं पैदा कर सकता वह वृक्षों को उखाड़कर आंधी भी उत्पन्न नहीं कर सकता।

उन दिनों आर्यपुरुषों की परीक्षा बहुत कड़ी होती थी। यहां एक दृष्टान्त उद्धृत करना पर्याप्त होगा। ऐसे दृष्टान्त उस युग में देश के प्रत्येक नगर में हो रहे थे। हम यह दृष्टान्त जालन्धर के सद्धर्मप्रचारक से उद्धृत करते हैं—

जालन्धर आर्यसमाज को इत्तिला पहुंची कि पण्डित कृपाराम मेम्बर कार्यसमाज फ़ीरोज़पुर जो बाशिन्दा सुल्तानपुर रियासत कपूरथला के हैं अपनी पुत्री का विवाह अनुसार वेद रीति से करना चाहते हैं। इस खुशखबरी को सुनकर ला० मुन्शीराम प्लीडर प्रधान, मंत्री ला० मायाराम व ठाकुरदास व ला० रलाराम व ला० गंगाराम और प० औदत्त अध्यापक समाज २० अप्रैल १८८९ ई० की शाम को जालन्धर से रवाना होकर रात्रि बसर करते हुए २१ अप्रैल ८९ की सुबह को सुल्तानपुर में पहुंचे। ला० गोविन्द सहाय मेम्बर समाज कपूरथला ने प० कृपाराम जी को खबर दी। उस रोज़ इन का वहां क़याम किया, शाम को जायेक़याम पर भजन कीर्तन के बाद उपासना हुई। उस वक्त शहर में खबर पहुंचते ही क़रीबन २५० आदमी जायक़याम पर होगये। जो लैक्चर की तैयारी पहले से न थी ताहम लोगों को लाभ पहुंचाने की नीयत से ला० मुन्शीराम प्लीडर ने एक वेद मन्त्र का अर्थ करके मुक्ति पर बड़ा ज़ोरदार व्याख्यान दिया। जिससे अवाम में अच्छा असर पड़ा। इसके बाद प० कृपाराम जी मै दो पण्डितों के ला० मुन्शीराम के पास आए, और उनको तसल्ली विवाह कर्म के बारे में करना चाहा, क्योंकि अवाम में मशहूर होरहा था कि आर्य लोग जिस तरह से तब्दील करके विवाह कर देते हैं। जब पण्डितों ने संस्कारविधि को पढ़ा सुना तो अपनी पद्धति से मिलाकर उसे बहुत उत्तम बयान किया। शहर में धूम मची हुई थी। स्त्रियां सब वैदिक रीति का विवाह देखने की मुश्ताक़ थीं। १० बजे रात्र के करीबन २१ अप्रैल १८८९ ई० सब भाई मय चन्द सज्जन कपूरथला समाज पण्डित कृपाराम जी के मकान पर पहुंचे, और प० श्रीपत जी ने यज्ञशाला रचना शुरू की। बेशक पण्डित जी का स्वरों से वेदों का उच्चारण करना उस प्राचीन समय को याद दिला रहा था जब कि हमारे गौतम आदि ऋषि मुनि भूमि को वेदध्वनि से मानो स्वर्ग बनाए हुए थे। लेकिन जब सब सामान यज्ञ का तैयार करके वर को बुलाने के लिये आदमी भेजा, उस वक्त एक शख़्स गिरधारी नामी नाम का ब्राह्मण राक्षसवृत्ति वाला शराब के नशे में चूर, लंगोटबन्दा आ मौजूद हुआ। शहरवालों का कसीर अम्बोह हमराह था। बाहिर धर्म पर आग देने वाले धर्मसभा के सरपरस्त के मुलाज़िम गिरधारी ब्राह्मण की मुसल्मानी फ़ज़ल शराब में मजबूर अपनी भावना को बुलाना था। उस राक्षस ने ठीक वैसा ही पिशाच कर्म किया जैसा कि विश्वामित्र के यज्ञ में मारीच असुर ने किया था। प० कृपाराम ने पुलिस से मदद मांगी कि गिरधारी को मदाख़लत बेजा से बाज़ रखने के लिए गिरफ्तार करे। लेकिन पुलिस का सार्जन्ट मय सिपाहियों के टलकर बाहिर निकल आया। हरकात से मालूम होता था कि पुलिस पहले ही किसी बड़े मुदब्बर मोतमद रियासत की सिखलाई पढ़ाई हुई है। सार्जन्ट साहिब ने साफ़ जवाब दिया कि जब कोई अमल होगा, तब उस वक्त हम दस्तन्दाज़ी करेंगे करीबन दो बजे प० गिरधारी स्नान धर्मसभा गुरुद्वारे चला गया। अब लड़के वालों की यह शिकायत कि वह डरकर गये।

लड़के के चचा को कुछ ऐसी सलाह मिली कि यह वैदिक रीति से विवाह बिल्कुल इन्कारी होगया, और कहला दिया कि बिना गणेश पूजा इत्यादि के न यह असर भी काबिल बयान है कि मुसलमानों के मकान पर कोई मन्दिर न आया प० कृपाराम ने किनाराकशी कर गये थे। प० कृपाराम गुड़ कुल्ले ग लेकिन लड़के के चचा ने नौग्रह की पूजा पर इसरार किया। पंडित ने दिन न धर्म प तरफ़ी ... कि अगर नौग्रह की पूजा न की जावेगी तो हरगिज़ शादी न करूँगा। यह तो मामूली बात है लेकिन प० कृपाराम की और कुर्बानी का यह अन्दाज़ा लगा सकते हैं जिन्होंने इनको गिरफ्तारी का गालियाँ सहज स्वभाव से जवाब देते और बजाय अपनी माता और बहिन की अपनी प्रतिज्ञा को पालन करने में ... रहा है। उस समय ठीक नज़ारा एक आप की ज़िन्दगी का दिखलाई देता था। जब ४ बजने का वक्त हुआ आप भाई घर वापिस आये। दिन चढ़ने पर कुछ और ही गुल खिला हुआ था। लड़केवाले चलने के लिए तैयार और ... उन्हें रोकने पर आमादा। लेकिन फिर भी प० कृपाराम ने हिम्मत को नहीं छोड़ा। फिर तैयार होके रवाना कर दिये। तब ... आम्दा और कोशिश न मानकर ज़बरदस्ती प० कृपाराम के मकान पर अपना दख़ल लिया। सच है, जब घर ही में फूट हो जाय, तो इन्सान क्या कर सकता है! पंडित कृपाराम जी की बन्दा और ... मुसलमान को ... उनके दूसरे भाई के ज़रिये से नाली करने पर मुस्तैद हो गई। लेकिन प० कृपाराम जी ने अपने हाथ से न नौग्रह पूजन आदि किया न कन्यादान किया। अपने प्रण को कायम रखा इसलिए विवाह के एक और ऐसा वाक़या हुआ जिसने ज़ाहिर कर दिया कि ... का बीज ज़रा जाय ज़रूर असर पैदा करता है। यानी प० कृपाराम जी की पुत्री ने ... होकर या नौग्रह की पूजा से साफ़ इन्कार कर दिया। प० कृपाराम जी ने तो ... कर लिया था, लेकिन अब ... की ... में आगई। अगर ... की ... तो विवाह किसके साथ होता? लाचार पंडितों ने यह फ़तवा दिया अगर लड़की नौग्रह पूजन न भी करे तो कोई हर्ज नहीं है। इसके बाद कुल ... बाकायदा होते रहे। बिरादरी ने हज़ार तरह ... से प० कृपाराम जी को इस ... वाई में शरीक करना चाहा, लेकिन उन्होंने अपने कौल से इनहराफ़ न किया, ... काम में शरीक न हुए।"

इस उदाहरण से कई बातें विदित होती हैं। उस समय के आर्य पुरुषों में धर्म का खूब उत्साह था। बिरादरियों ने व्यक्तियों की धार्मिक स्वतन्त्रता को छीनने का उद्योग आरम्भ कर दिया था। आर्यसमाज के विरोधी ओछे हथियारों पर उतर आये थे। इस उदाहरण से उस समय के धर्मनिष्ठ पुरुषों की ... का भी काफी परिचय मिलता है।

४ समाचार पत्र

आर्यसमाज के कार्य के लिये जो उत्साह उत्पन्न हो रहा था, वह लेखद्वारा भी प्रकट होने लगा। इस समय में कई समाचारपत्र भी निकले, जिन में से दो का चर्चा आवश्यक है। १८८९ के अप्रैल मास के अन्त में जालन्धर से सद्धर्म प्रचारक नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकला। यह पत्र ला० मुन्शीराम जिज्ञासु और ला० देवराज जी के सम्पादकत्व में आरम्भ हुआ था, परन्तु पीछे से अकेले ला० मुन्शी रामजी के हाथ में ही सम्पादन का काम रह गया। यह पत्र एक नये उत्साह के साथ आरम्भ हुआ था, और आर्यसमाज में एक नये भाव का सचारक था। प्रचारक के उद्देश्यों विशेषताओं और लेखशैली को समझने के लिये किसी एक अङ्क को देख लेना पर्याप्त है। दूसरे सप्ताह जो अङ्क प्रकाशित हुआ उस पर दृष्टिपात करने से पत्र का जीवनचरित्र समझा जा सकेगा। चौथे पृष्ठ पर 'अधूरा इन्साफ' शीर्षक देकर जो मुख्य लेख प्रकाशित हुआ है, उसमें स्त्री शिक्षा का जोरदार समर्थन है। सिद्ध यह किया गया है कि पुरुषों और स्त्रियों के अधिकार समान है। दूसरे पृष्ठ पर 'एडिटोरियल' नोट है, एक नोट में आर्यसमाज मुल्तान छावनी के पुरुषार्थी आर्यपुरुषों को सलाह दी गई है कि वह समाज की ओर से जुदा पाठशाला खोलने की जगह डी० ए० वी० कालिज की ही विशेष सहायता करें तो उत्तम है। दूसरे नोट में दौलत की बुराइयों का बयान किया गया है। उस नोट के अन्तिम वाक्य निम्नलिखित है।

'पुरुषार्थ के साथ, पक्की इच्छा के साथ निर्धन से निर्धन लोगों ने अपना कर्तव्य सिद्ध कर लिया है। और जहां दौलत काम न कर सकती थी, उनके पुरुषार्थ ने काम किया।"

एक और नोट लीजिये —

'साहूकार हर रोज बही खाते की जांच पड़ताल करके नफा और नुकसान मालूम करता है। इस नियम का यह लेना पड़ा है। बही खातों की पड़ताल उसके लिये सब बातों से जरूरी है इस लिये हर शाम को यह हिसाब करता है। तुम भी प्यारे भाइयो! अपनी जिन्दगी के रोजनामचे की पड़ताल किया करो। देखो कि नफे और नुकसान का क्या मीजान है। पुण्य ज्यादा है या पाप? यह जानना बहुत जरूरी है।"

फिर एक धीर पुरुष के जीवन चरित का कुछ भाग प्रतिसप्ताह दिया जाता था।

प्रारम्भ में तीव्र आलोचनात्मक लेख छपना आरम्भ हुआ। जो आर्यसमाजी उन विरोधियों की बहुत कड़ी भाषा में आलोचना करते थे, उन्हें सद्धर्म प्रचारक प्रोत्साहन देता रहता था। आर्यगजट की नेतृत्वहीनता पर प्रचारक के सम्पादकीय लेखों में कई बार असन्तोष प्रकट किया गया। आर्यसमाज के उन अधिकारियों पर, जो धनी तो हैं परन्तु आत्मबलहीन हैं, यह पत्र पहिले से खड्गहस्त रहता था। स्पष्ट बात को स्पष्ट शब्दों में कहना प्रचारक के सम्पादकीय लेखों की पहिले दिन से विशेषता थी। यह पत्र पंजाब के आर्यसमाजों में एक नई स्फूर्ति पैदा करने का कारण बना।

१८८६ ई० के जुलाई मास में लाहौर से वैदिक मैगज़ीन नाम का मासिक पत्र निकला। इसके सम्पादक पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए० थे। पं० गुरुदत्तजी अंग्रेजी के उद्भट लेखक होने के अतिरिक्त साइन्स के बड़े प्रसिद्ध विद्वान् थे। वह इन दिनों गवर्नमेन्ट कालिज में विज्ञान के प्रोफेसर थे। आपका संस्कृत के स्वाध्याय का शौक भक्ति की सीमा तक पहुंच गया था। अष्टाध्यायी और निरुक्त की सहायता से वेदार्थ के जानने का यत्न न केवल स्वयं आरम्भ ही किया, दूसरों को भी कराया। आपने संस्कृत व्याकरण का अध्ययन श्री स्वामी अच्युतानन्दजी से किया। स्वामी जी अपने शिष्य के शिष्य बन गये। आप पहले अद्वैतवादी थे। व्याकरण के शिष्य बनकर पं० गुरुदत्तजी आपके धर्मगुरु बने। पंडितजी की प्रतिभा अपना प्रभाव उत्पन्न किये बिना न रही।

वैदिक मैगज़ीन के लेख गम्भीर और योग्यतापूर्ण होते थे। अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों में वह बड़े सम्मानपूर्वक पढ़ी जाती थी। आपकी की हुई वेदमन्त्रों की विशद व्याख्या को पढ़कर ग्रिफिथ या मानियर विलियम्स के अनुवादों से बिगड़े हुए दिमाग सीधे रास्ते पर आ जाते थे। नई रोशनी से प्रभावित हिन्दू नौजवान आश्चर्य से पूछते थे कि क्या सचमुच वेदों में ऐसे रत्न भरे हुए हैं। साम्प्रदायिक बातों की ओर वैदिक मैगज़ीन की दृष्टि नहीं पड़ता था। आम तौर पर स्वाध्याय के दिनों में पं० गुरुदत्तजी अखबारों का पढ़ना तक छोड़ देते थे। वैदिक मैगज़ीन ने पंजाब के शिक्षित समाज में एक ऐसी विचारक्रान्ति आरम्भ की थी कि यदि वह २५ वर्ष तक जारी रहती तो प्रान्त का कायापलट हो जाता। इसी समय कई अन्य समाचार पत्र भी निकले और आर्य समाज की सेवा में तत्पर हुए। पंजाब के भारत सुधार का नाम विशेषतया उल्लेख योग्य है। इस पत्र की चर्चा अगले प्रसंग में अधिक विस्तार से की जायगी। १८८६ ई० के जुलाई मास अजमेर से वैदिक विजय नाम का पत्र निकला। यह पत्र भी अन्यधर्मों की बहुत कड़ी आलोचना करता था।

छठा परिच्छेद

पंजाब में मतभेद के अंकुर

१. जन्मदाताओं में मतभेद

डी० ए० वी० कालेज के जन्मदाताओं में दो तरह के विचारोंवाले व्यक्ति थे। दूसरे परिच्छेद में संक्षेप से उनकी चर्चा हो चुकी है। यहां पंजाब के आर्य जगत् में फूट पैदा होने के कारणों पर प्रकाश डालने के लिए कुछ विस्तार से चर्चा करते हैं। कालिज की जो प्रारम्भिक स्कीम आर्य जनता के सामने रखी गई थी, उसमें डी०ए०वी० कालिज के दो उद्देश्य बतलाये गये थे। पहला उद्देश्य प्राचीन आर्य-विद्या का उद्धार और दूसरा उद्देश्य उत्तम रीति से जातीय शिक्षा को देना था। संस्थापकों का लक्ष्य यह था कि जहां एक ओर वेदों की शिक्षा का प्रबन्ध हो वहां दूसरी ओर आयसमाज प्रचलित शिक्षा की दौड़ में ईसाइयों से बाजी मार जाय। नाम भी इसी आधार पर रखा गया था। ऐंग्लो शब्द प्रचलित शिक्षा की सूचना देता था और 'वैदिक' शब्द आर्य सभ्यता के उद्धार का सूचक था। इन दोनों का मिश्रण डी० ए० वी० कालिज का उद्देश्य था। डी० ए० वी० कालिज के संस्थापक ऋषि दयानन्द के नाम पर पूर्व और पश्चिम को मिला देना चाहते थे।

कालिज के प्रथम संचालकों में दो नाम विशेष महत्व रखते हैं। पं० गुरुदत्त एम० ए० कालिज के दिमागी गुरु थे, तो ला० लालचन्द्र एम०ए० उसके शारीरिक पिता थे। गुरु ने कालिज के ख्याल का जन्म दिया और ला० लालचन्द्र ने कालिज के शरीर को पैदा किया। इन दोनों महान् आर्य पुरुषों का नाम कालिज की विख्यात संस्था के साथ बंधा हुआ है। जब आप इन दोनों के विचारों का अनुशीलन करेंगे, तब आप को मालूम होगा कि जहां पं० गुरुदत्त एम० ए० अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करके भी 'वैदिक' के प्रतिनिधि थे, वहां ला० लालचन्द्र एम० ए० वेदों पर विश्वास और ऋषि दयानन्द में श्रद्धा रखते हुए भी 'ऐंग्लो' के प्रतिनिधि थे। दोनों के मेल का नाम 'ऐंग्लोवैदिक' रखा गया था। दोनों के दृष्टिकोण में थोड़ा २ भेद था। पं० गुरुदत्त अंग्रेजी शिक्षा को वैदिक शिक्षा का परिशिष्ट बनाना चाहते थे और ला० लालचन्द्र एम० ए० वैदिक शिक्षा को प्रचलित शिक्षा का पोषक बनाने में ही जाति का भला समझते थे।

प्रारम्भ से ही ला० लालचन्द एम० ए० कालिज कमेटी के प्रधान ओहदेदार थे, इस कारण कागजात में शिक्षा का राष्ट्रीय रूप ही मुख्य रखा जाता था। दूसरी ओर प० गुरुदत्त एम० ए० प्रारम्भ से ही आर्य जनता के सामने डी० ए० वी० कालिज की विकालत करते थे, इस कारण व्याख्यानों और वार्षिकोत्सवों की अपील में 'वैदिक' भाग पर ही अधिक बल दिया जाता था। दोनों ही नेताओं के विचारों में जो थोड़ा २ भेद था, वह प्रारम्भ में शायद उन्हें भी विदित नहीं था। कालिज के कार्यकर्ता भी दो हिस्सों में बटे हुए थे। अधिकतया अंग्रेजी शिक्षा में दीक्षित या वकील लोगों का झुकाव ला० लालचन्द की ओर था और ऋषि के भक्त साधारण आर्य पुरुषों का झुकाव प० गुरुदत्त की ओर था। प्रान्त की अपेक्षा शिक्षा का केन्द्र होने के कारण लाहौर का प्रभावशाली मत ला० लालचन्द के साथ सम्मत था और प्रान्त के अन्य आर्य समाजों में प० गुरुदत्त से सहमति रखनेवाले अधिक थे। स्पष्ट रूप में नहीं, परन्तु किसी न किसी रूप में कालिज के सदस्यों का सम्बन्ध में मतभेद प्रारम्भ से ही था। पूर्व और पश्चिम के मिश्रण में एक पूर्व की मात्रा अधिक डालना चाहता था तो दूसरा पश्चिम की।

डी० ए० वी० कालिज के संकल्प के साथ ही मानो किसी ने छींक दिया था। प्रारम्भ से ही मतभेद दिखाई देने लगा था। आरम्भ में हम यह शिकायत सुनते हैं कि परोपकारिणी से पूछे बिना ऋषि का स्मारक लाहौर में क्यों खोला गया? यह शिकायत संयुक्त प्रान्त और राजपूताने की ओर से सुनाई दी परन्तु कालिज का विचार लोगों के दिलों में घर कर गया और विरोधी की आवाज दब गई।

शीघ्र ही संगीत में एक दूसरी बेसुरी तान सुनाई देने लगी। डी० ए० वी० हाई स्कूल की स्थापना से कुछ दिन पीछे ही कलकत्ते के आर्यावर्त में यह शिकायत छपी कि स्कूल में संस्कृत पर काफी ध्यान नहीं दिया जाता। * आर्य पत्रिका आर्यसमाज लाहौर की मुखपत्रिका थी, उसने आर्यावर्त में किए गये आक्षेप का उत्तर देने की चेष्टा की। उत्तर यह था कि भारत भर में एक डी० ए० वी० स्कूल ही ऐसी संस्था है जिसमें अंग्रेजी के साथ ही संस्कृत को भी आवश्यक बनाया गया है। + आर्य पत्रिका में आर्यावर्त के सम्पादक को बहुत सी शिक्षा दी गई है कि तहकीकात किये बिना ऐसे आक्षेपों का छापना अच्छा नहीं है।

परन्तु प्रतीत होता है कि कई आर्य पुरुषों का आर्यपत्रिका से समाधान नहीं हुआ, प्रतीत होता है कि असन्तोष का भाव अन्दर ही अन्दर बढ़ता रहा। १७ अगस्त

* १५ फरवरी १८८७ के अङ्क में
\+ Vol II no 37

१८८९ के सद्धर्म प्रचारक में स्यालकोट के सीतलदास जी का एक पत्र छपा है, उसका कुछ भाग हम यहां उद्धृत करते हैं।

"क्या दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज सचमुच दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज है या दयानन्द वर्नेक्युलर कालिज है?।

(१) क्या यह संस्कृत विद्या की उन्नति और वेदविद्या के प्रचार की गर्ज से खोला गया था या इल्म अंग्रेजी या फार्सी की उन्नति की गर्ज से" इत्यादि।

इसी ढंग के दो और प्रश्न हैं। आशय दो प्रश्नों से ही प्रकट हो सकता है। डी ए वी स्कूल में संस्कृत की शिक्षा के अभाव को बहुत से आर्य पुरुष महसूस करने लगे। समझा जाता था कि प० गुरुदत्तजी उन असन्तुष्ट आर्य पुरुषों के अगुआ थे। लाहौर आर्य समाज के कुछ सभासद भी पंडित जी से सहमत थे। मा० दुर्गाप्रसाद, ला० जीवनदास, ला० केदारनाथ थापर और ला० रुल्लाराम के नाम उनमें से विशेषतया स्मरणीय हैं। अन्य आर्यसमाजों में भी असन्तुष्ट मण्डली पैदा होरही थी। गुजरांवाला के ला० रलाराम शीघ्र ही इस बहस में पड़कर अपनी विवादशक्ति का सिक्का जमाने वाले थे। जालन्धर के ला० मुन्शीराम जी प० गुरुदत्त जी के कट्टर अनुयायी समझे जाते थे।

यह असन्तोष का भाव धीरे २ स्थूल रूप में आने लगा। १२ जून के सद्धर्मप्रचारक में अमृतसर आर्यसमाज के प्रधान प० धर्मचन्द्र जी का एक पत्र छपा है। उस का कुछ भाग हम यहां उद्धृत करते हैं—

"प्रतिनिधि सभा पंजाब और मैनेजिंग कमेटी दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज और आर्यसमाज लाहौर और सर्वत्र आर्यसमाजों और आर्य सभासदों और सत्य सत्य विद्या के प्रचारकों और वैदिक धर्म के सहायकों तथा देशहितैषियों की सेवा में विनय पूर्वक प्रार्थना है कि—

(१) जो कि धर्मरक्षक मैनेजिंग कमेटी के धार्मिक उत्साह से दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज लाहौर जारी हुआ है, उसमें उसका नतीजा काबिल शुकर गुजारी खास को आम के प्रकाशित होरहा है।

(२) अब इस वक्त निहायत जरूरत इस अमर की मालूम होती है कि प्राचीन ऋषि कृत ग्रन्थ वेदांग का पठन पाठन जारी होना चाहिये, और आम तालबइल्मों में इस किस्म की तालीम जो हासिल मुमकिन नहीं, उनके लिये फिलहाल इस कदर काफी है कि वैदिकधर्म के उपदेश सुनाये जावें, और मुतालिक नित्यकर्म यानी सन्ध्या उपासना

इसके साथ ही ला० हंसराज एम० ए० [illegible] दे, इस प्रकार कालेज में शिक्षा [illegible] पं० गुरुदत्त एम० ए० [illegible] डी० ए० वी० [illegible] थे, [illegible] था। [illegible] के [illegible] थे, यह [illegible] में [illegible] था। [illegible] हुआ था। [illegible] लाला [illegible] ला० लालचन्द जी [illegible] पं० गुरुदत्त [illegible] पं० गुरुदत्त जी [illegible] था। [illegible] प्रभावशाली ला० [illegible] और [illegible] पं० गुरुदत्त [illegible] था। [illegible] परन्तु [illegible] कालिज [illegible] प्रारम्भ से ही था। [illegible] और पश्चिम [illegible] में [illegible] दूसरा पश्चिम की।

डा० ए० वी० कालिज के सम्बन्ध के साथ ही [illegible] लिया था। प्रारम्भ से ही मतभेद दिखाई देने लगा था। आरम्भ में कुछ लोग शिकायत करते थे कि [illegible] ऋषि का स्मारक लाहौर में क्यों खोला गया? यह शिकायत संयुक्त प्रान्त और राजपूताना की ओर से सुनाई दी परन्तु कालिज का विचार लोगों के दिलों में घर कर गया और विरोधी की आवाज दब गई।

शीघ्र ही, लाहौर में एक दूसरी बेसुरी तान सुनाई देने लगी। डी० ए० वी० हाई स्कूल की स्थापना से कुछ दिन पीछे ही कलकत्ते के आर्यावर्त में यह शिकायत छपी कि स्कूल में संस्कृत पर काफी ध्यान नहीं दिया जाता।* आर्य पत्रिका आर्यसमाज लाहौर की मुखपत्रिका थी, उसने आर्यावर्त में किए गये आक्षेप का उत्तर देने की चेष्टा की। उत्तर यह था कि भारत भर में एक डी० ए० वी० स्कूल ही ऐसी संस्था है जिसमें अंग्रेजी के साथ ही संस्कृत को भी आवश्यक बनाया गया है।+ आर्य पत्रिका में आर्यावर्त के सम्पादक को नसीहत भी दी गई है कि तहकीकात किये बिना ऐसे आक्षेपों का छापना अच्छा नहीं है।

परन्तु प्रतीत होता है कि कई आर्य पुरुषों का आर्यपत्रिका से समाधान नहीं हुआ, प्रतीत होता है कि असन्तोष का भाव अन्दर ही अन्दर बढ़ता रहा। १७ अगस्त

* १५ फरवरी १८८७ के अङ्क में
\+ Vos II no 37

१८९२ के सद्धर्म प्रचारक में स्यालकोट के सीतलदास जी का एक पत्र छपा है, उसका कुछ भाग हम यहां उद्धृत करते हैं।

"क्या दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज सचमुच दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज है या दयानन्द बोर्डिंग ब्रान्च कालिज है ?।

(१) क्या यह संस्कृत विद्या की उन्नति और वेदविद्या के प्रचार की गर्ज़ से खोला गया था या इलम अंग्रेज़ी या फार्सी की उन्नति की गर्ज़ से ?" इत्यादि।

इसी ढंग के दो और प्रश्न हैं। आशय दो प्रश्नों से ही प्रकट हो सकता है। डी ए वी स्कूल में संस्कृत की शिक्षा के अभाव को बहुत से आर्य पुरुष महसूस करने लगे। समझा जाता था कि प० गुरुदत्त जी उन असन्तुष्ट आर्य पुरुषों के अगुआ थे। लाहौर आर्य समाज के कुछ सभासद भी पंडित जी से सहमत थे। ला० दुर्गाप्रसाद, ला० जीवनदास, ला० काशीनाथ थापर और ला० रलाराम के नाम उनमें से विशेषतया स्मरणीय हैं। अन्य आर्यसमाजों में भी असन्तुष्ट मण्डली पैदा होरही थी। गुजरांवाला के ला० रलाराम शीघ्र ही इस बहस में पड़कर अपनी विवादशक्ति का सिक्का जमाने वाले थे। जालन्धर के ला० मुन्शीराम जी प० गुरुदत्त जी के कट्टर अनुयायी समझे जाते थे।

यह असन्तोष का भाव धीरे २ स्थूल रूप में आने लगा। १२ जून के सद्धर्म-प्रचारक में अमृतसर आर्यसमाज के प्रधान प० धर्मचन्द्र जी का एक पत्र छपा है। उस का कुछ भाग हम यहां उद्धृत करते हैं—

"प्रतिनिधि सभा पंजाब और मैनेजिंग कमेटी दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज और आर्यसमाज लाहौर और मजमूअ आर्यसमाजों और आर्य सभासदों और हर सच्चे विद्या के प्रचारकों और वैदिक धर्म के सहायकों तथा देशहितैषियों की सेवा में विनय पूर्वक प्रार्थना है कि—

(१) जब से धर्मरक्षक मैनेजिंग कमेटी के धार्मिक उत्साह से दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज लाहौर जारी हुआ है, तब से उसका नतीजा कालिज बुद्धि गुजारने वाला आम को आम के प्रकाशित होरहा है।

(२) अब इस वक्त निहायत ज़रूरत इस अम्र की मालूम होती है कि महर्षि ऋषि कृत ग्रन्थ वेदादि का पठन पाठन जारी होना चाहिये, और आम तालिबइल्मों के इस किस्म की तालीम जारी होनी मुमकिन नहीं, उनके लिये निहायत ज़रूरी है कि वैदिक धर्म के उपदेश सुनाये जावें, और इन किस्म का थाना मजबूत

आदि पुस्तक पढ़ाये जायं। इस लिए मुनासिब मालूम होता है कि चन्द दयानन्द सन्यासियों के वास्ते एक शाखा दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज की वेदांग और प्राचीन ऋषि कृत ग्रन्थ पढ़ाने के वास्ते खोली जावे।"

यह प्रस्ताव यद्यपि बहुत मोटी भाषा में लिया गया था तो भी इसका अभिप्राय स्पष्ट था। इसका अभिप्राय यह था कि पंजाब की आर्य समाजों का एक हिस्सा यह अनुभव कर रहा था कि डी० ए० वी० कालिज द्वारा यों पर भी संस्कृत की शिक्षा का ठीक प्रबन्ध नहीं हुआ। यदि कालिज से वैसा प्रबन्ध नहीं हो सके तो किसी दूसरी तरह से करना चाहिए।

३ दूसरा पक्ष

दूसरी तरफ कालिज के समर्थकों का एक बड़ा भाग समझता था कि डी० ए० वी० कालिज कमेटी पर जो आक्षेप हो रहे हैं, वह निर्मूल हैं, विद्यमान अवस्थाओं में कमेटी जो कुछ कर रही है, वह कम नहीं है। आर्य गजट में आक्षेपों के समाधान करने का यत्न किया जाता था। दूसरे पक्ष को स्पष्टता से जानने के लिए हम ला० लाजपतराय जी के एक ट्रैक्ट से कुछ उद्धरण देते हैं। लालाजी उस समय कालिज के सहायक थे। ला० लालचन्द्र कालिज कमेटी के निर्माता थे, ला० हंसराज हृदय थे, और ला० लाजपतराय बाहु थे। पं० गुरुदत्त जी कालिज कमेटी की आत्मा के वह शब्द थे जो कभी २ अपनी हालत पर असन्तोष प्रकट किया करते हैं, कालिज पर जो आक्षेप होते थे, उन्हें वाणी और लेखनी द्वारा धोना लालाजी का कार्य था। युगपरिवर्तन हो जाने पर, बहुत साल पीछे, १९२१ में लालाजी ने एक ट्रैक्ट में लिखा था कि 'बहस मुबाहिसे का गन्दा काम बहुत हद तक मेरे सुपुर्द था" उस समय की बहस में लालाजी ने बहुत कुछ लिखा और बोला था। संस्कृत की शिक्षा के सम्बन्ध में कालिज कमेटी के पक्ष को विस्तार से रखने के लिये हम ला० लाजपतरायजी के "दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज में तालीम संस्कृत पर एक मुख्तसिर तारीखी नज़र" नाम की पुस्तिका का आश्रय लेते हैं। उस पुस्तिका में लालाजी ने कालिज पर किये गये आक्षेपों का उत्तर दिया था। उत्तर इस समय से ३ वर्ष पीछे लिखा गया था, परन्तु वह इस समय भी लागू होता है, इसलिए उसीका आश्रय लेना उचित है। हम यहां लालाजी के कुछ प्रारम्भिक वाक्य उद्धृत करते हैं —

" अब यहां पर यह सवाल पैदा होता है कि स्वामीजी की यादगार में ऐंग्लो वैदिक कालिज खोलने की तजवीज क्यों मंजूर हुई? क्यों नहीं पहले ही से एक वैदिक कालिज खोलने की तजवीज मंजूर हुई? उन्होंने (स्वामी दयानन्द ने) सब कुछ महज़

संस्कृत के तुफल हासिल किया था, उनकी फाज़िलाना तहरीरों और तक़रीरों से जाहिर हो चुका था कि संस्कृत के ज़खीरों में किसी किस्म की विद्या की कमी नहीं है, फकत दयानत और मेहनत की कमी है। फिर बावजूद इस वाकफीयत के उनकी यादगार को ऐंग्लो वैदिक कालिज के नाम से क्यों नामज़द किया गया? उसकी वजूहात साफ थीं? अव्वल यह कि स्वामीजी का मन्शा को उन लोगों ने ही पहिचाना था जिनकी आँखें अंग्रेजी तालीम की रोशनी ने खोल दी थीं। संस्कृत के बहुत से फाज़िल मुल्क में मौजूद थे, मगर बहुत कम ने स्वामीजी के फलसफे की कदर की, और न कोई उनका मोतकिद हुआ, बल्कि उन लोगों के हाथ से उनको यह तकलीफ और मुखालिफत उठानी पड़ी जो हिन्दुस्तान की मजहबी तारीख में अपने आप ही यादगार रहेगी।

दोयम—स्वामीजी के पैरों को यह मालूम था, कि स्वामीजी खुद अपनी उन कोशिशों को अफ़सोस की निगाह से देखा करते थे, जो उन्होंने महज़ संस्कृत की तालीम के लिये फर्रुखाबाद व मथुरा वगैरा मुकामात में करके नाकामयाबी हासिल की बल्कि श्री स्वामी विरजानन्द सरस्वती को भी अपनी उमर में एक ही शागिर्द ऐसा लायक मिला जो उनके दिली मन्शा को समझकर प्रकाश कर सके और इलावा अज़ीं समाज के सरबर आवुर्दा समझदार अरकान का यकीन था कि स्वामीजी के तरीक पर पूरा विद्या हासिल करने के लिये वैसे ही उस्ताद की ज़रूरत है जो मुल्क में नापैद हैं, इसलिये अगर कभी हिन्दुस्तान को वैदिक संस्कृत के हसूल में कामयाबी हो सकती है, तो इस तरह से हो सकती है कि ये विद्या के शायक अव्वल अंग्रेजी उलूम में अपने दिमाग को वेद के गहरे और गूढ़ अर्थ समझने के लिये तय्यार करें, और फिर ऐसे तय्यार शुदा लोगों में से बाज़ के वेदों का अर्थ समझने का इमकान हो सकता है।"

इस लम्बे उद्धरण के लिये हम पाठकों से क्षमा चाहते हैं, परन्तु कालिज कमेटी के पक्ष को स्पष्ट करने के लिये इतना स्थान देना आवश्यक था। कालिज कमेटी के सदस्य मानते थे कि वही तालीम कामयाब हो सकेगी, जिसकी नींव अंग्रेजी शिक्षा की नींव पर रखी जायगी, क्योंकि विचारों में उदारता आये बिना शिक्षा अधूरी है। कमेटी की शिक्षाप्रणाली में शिक्षानुराग का काफी हिस्सा था, जिसके बारे में यह भी कहा जाता था कि कमेटी तालीम को "कौमी" बनाना चाहती है।

इस 'असूली' मतभेद के कारण कालिज कमेटी में और बाहिर भी आर्य पुरुषों में संघर्ष आरम्भ होगया। कमेटी के नेता ला० लालचन्द एम० ए० और असन्तुष्ट मण्डली के नेता प० गुरुदत्त एम० ए० समझे जाते थे। असन्तुष्ट मण्डली का पक्ष रहता था कि किसी न किसी तरह आर्ष ग्रन्थों के पठनपाठन और संस्कृत को स्कूल या कालिज की पाठविधि में रखा जाय। इसी आधार से प्रधानता का प्रश्न होता था कि कमेटी सा-

मात्र संस्कृत और हिन्दी पर ही सन्तोष किया जाय। दूसरा के साथ सरकारी शिक्षा विभाग की आवश्यकतायें भी विद्यमान थीं। एक ओर कल्पना-जगतीय आदर्श की धुन थी, दूसरी ओर लौकिक व्यवहार बुद्धि का राज्य था। दोनों में संघर्ष का चिन्ह होना स्वाभाविक था।

कालिज कमेटी ने अपने पक्ष को लेख और वाणी द्वारा पुष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। श्री गुरुदत्त महोदय ने भी मौन धारण नहीं किया, परन्तु इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि पं० गुरुदत्तजी के आर्तेजित स्वभाव ने बहुत उग्ररूप धारण नहीं किया। कालिज के प्रति पंडितजी का प्रेम 'पितृ प्रेम' के समान था, असन्तोष होते हुए भी समाजों में डी० ए० वी० कालिज के लिये अपील करने का काम पंडितजी के सुपुर्द ही था। हां, पिछले दिनों वह कालिज के लिये अपील कर देते थे, परन्तु कालिज का नाम नहीं लेते थे।

बहुतसा आन्दोलन होने पर १८९० के आरम्भ में मिडल क्लास में अष्टाध्यायी की पढ़ाई आवश्यक कर दी गई।

४ सिंहावलोकन।

हमने कालिज में संस्कृत शिक्षा सम्बन्धी प्रश्न पर दोनों पक्ष रख दिये हैं। एक इतिहासलेखक का यह काम नहीं है कि वह ठीक और बेठीक का फैसला करे। उसका काम यथा सम्भव दोनों के यथार्थ बयानों को सामने रख देना है। उस समय दोनों पक्षों ने कौन २ सी भूल की, उस पर भी लेखक अपनी राय नहीं देना चाहता। उस समय के सम्मति-संग्राम के एक मुख्य नायक ला० लाजपतराय ने २१ साल पीछे जो सिंहावलोकन प्रकाशित किया था, उसके कुछ भाग को उद्धृत करके ही लेखक सन्तोष करेगा। लालाजी ने अपनी "स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज की मौजूदा हालत" नाम की पुस्तिका में आर्यसमाज और डी० ए० वी० कालिज के सम्बन्ध में सिंहावलोकन करते हुए लिखा है —

"कालिज के बानी यह उम्मेद करते थे कि चन्द सालों में सूबे में हिन्दी का रिवाज आम हो जायगा, और कालिज की मैनेजिंग कमेटी में कालिज का दफ्तर हिन्दी जबान में हो जावेगा। आर्यसमाज में उस वक्त भी अंग्रेजी तालीमयाफ्ता लोगों की कसरत थी। आर्यसमाज को पंजाब में सरकारी मुलाजिमों व वकीलों के जरिये फरोग मिला। इन लोगों के दिलोदिमाग अंग्रेजी से भरे हुए थे, और वह इस कदर लियाकत न रखते थे, कि वह दूर अन्देशी से सोच सकें। वह सब अपने कौम के लिये आजादी

चाहते थे, उनके दिल में हुब्बुलवतनी का जज्बा जोश मारता था, वह दुरुस्त तौर पर यह समझते थे कि इस हुब्बुल वतनी के जजबे को बढ़ाने के लिये अंग्रेजी तालीम की जरूरत है।" 'गर्ज बालियाने कालिज कौमियत के नशे में सरशार थे, और उनके दिल में कौमियत के यह तमाम जज्बात जोशज़न थे, जो इस वक्त कौम में सब जगह पा रहे हैं। मगर सारी स्कीम की कमजोरी इसमें थी कि कालिज का नाम ऐंग्लो वैदिक रखा गया, और ऐंग्लो को वैदिक पर तरजीह दी गई, जिस कमजोरी ने बानियान को 'ऐंग्लो वैदिक' बनने के लिये मजबूर किया। इसी कमजोरी ने कालिज की तमाम कौमी खसूसीयतों को 'मसलिहत वक्त' के मातहत कर दिया। हत्ता कि सरकारी व मिशन कालिजों में और दयानन्द कालिज में बहुत थोड़ा फर्क रह गया। हमारा दिमाग हमेशा 'ऐंग्लो' को "वैदिक" पर तरजीह देता रहा। यहाँ तक कि जब मरहूम प० गुरुदत्त ने और मौजूदा महात्मा पार्टी के लीडरों ने यह सवाल उठाया, तो मैंने जोर शोर से उसकी मुखालिफत की। जो जो अमली तजावीज उन्होंने पेश कीं, वह अब तक मुझको नाकाबिले अमल मालूम होती हैं। बदकिस्मती से उस वक्त तालीमी मामलात में न उनको काफी तजर्बा था और न हमको। वह धार्मिक नुक्ता ख्याल को सामने रखते थे, और हम कौमी नुक्ता ख्याल को। यह हमसे इसलिये बदजन थे कि उनको हमारे अन्दर धर्म की रेखा दिखाई न देती थी। वह समझते थे कि हम सरासर पुलिटिकल इगराज के लिये काम कर रहे हैं, हम समझते थे कि यह लोग कौमी नुक्त ए ख्याल की परवा नहीं करते।"

यह ऐसे आलोचक की राय है जो स्वयं उस मतभेद में मुखिया का काम कर रहा था। हम पाठविधिसम्बन्धी मतभेद के किस्से को इसी राय पर समाप्त कर देते हैं।

४. मतभेद के अन्य कारण

पं० गुरुदत्त जी के जीवनकाल में मतभेद और अधिक नहीं बढ़ने पाया। इसका मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि कालिज कमेटी के अधिकारियों को पण्डित जी का बहुत लिहाज था। अन्दर २ असन्तोष की ज्वाला सुलग रही थी, परन्तु एक महान् व्यक्ति के प्रभाव ने उसे भड़कने से रोक रखा था। आगे चलकर हम देखेंगे, कि फूट के कई कारण बन गये। पाठविधिसम्बन्धी मतभेद कई रूपों से प्रकाशित हुआ। इस समय उनकी छायामात्र दिखाई देती है। कालिज कमेटी के आदर्शों का प्रश्न पाठविधि के झगड़े का परिणाम था। मांसभक्षणसम्बन्धी प्रश्न अभी गौणरूप में था। प्रतीत होता है कि आर्यसमाज के क्षेत्र में यह प्रश्न पूछा जाता था कि 'मांस खाना वेद विरुद्ध है या नहीं ?' १८८६ के अप्रैल मास में आर्यसमाज जालन्धर के अधिवेशन

म [illegible] गुरुकुल [illegible] के विरुद्ध [illegible] किया था। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हुआ। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हुआ कि "[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है कि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] था। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं हुआ।

[illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] के [illegible] में [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible], परन्तु [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] दी गई [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] का परिचय था। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], और [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] की [illegible] थी कि '[illegible] [illegible] [illegible] है' [illegible] [illegible] थी कि '[illegible] [illegible] हिन्दू [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] कि इस [illegible] के सम्पूर्ण [illegible] [illegible] [illegible] के लिये [illegible] [illegible] नहीं है। [illegible] [illegible] [illegible] के [illegible] में [illegible] थे। उन्होंने [illegible] की [illegible] [illegible] पर [illegible] [illegible] [illegible] थी। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] आदमी [illegible] समय के [illegible] का [illegible] करता है, [illegible] उसको [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] हुआ पाता है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कि [illegible] [illegible] में दोनों [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] आन्दोलन [illegible] [illegible] में [illegible] [illegible] [illegible]—परन्तु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, और उसको जितना ही इस समय [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, उतना ही उसका विश्वास [illegible] [illegible] है कि [illegible] की [illegible] में [illegible] [illegible] था—केवल [illegible] को [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible]।

सातवां परिच्छेद

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी (१)

१८६४—१८८३

१—जीवन का महत्व

प० गुरुदत्त विद्यार्थी का जीवन आर्यसमाज के इतिहास का एक परिच्छेद है। उसे हम केवल एक घटना समझकर आगे नहीं जा सकते। हम उस होनहार युवक के जीवन की उस चमत्कार सितारे से उपमा दे सकते है, जो रात की अँधियारी में पैदा होकर अन्तरिक्ष को रौशन कर देता है, प्रजा समझने लगती है कि अन्धेरी रात का इलाज हो गया, पर शीघ्र ही मद्धन होने लगता है और जिस पुर्त्ती से आया था, उसी पुर्त्ती से विदा हो जाता है। जिन लोगों ने उस जीवन का अनुभव किया था, वह उसे आजतक नहीं भुला सके। कारण यह है कि वह सिद्धान्त–मय जीवन था। एक ध्येय और एक लक्ष्य के लिये उस जीवन की सत्ता थी। ऐसे जीवनों को सरसरी तौर पर देखकर नहीं छोड़ा जा सकता। व्यक्तिगत चरित्र के लिये इस इतिहास में हम सामान्यतया जितना स्थान दे सकते हैं, प० गुरुदत्त विद्यार्थी के जीवन को उससे अधिक स्थान देना आवश्यक है। प० गुरुदत्त का जीवन धर्म के विज्ञान में एक महत्व-पूर्ण पाठ है।

२—तय्यारी

प० गुरुदत्त का जन्म २६ अप्रैल १८६४ ई० के दिन मुल्तान शहर में हुआ। आप के पिता का नाम रामकृष्ण था। ला० रामकृष्ण फारसी के बड़े आलिम थे, और स्कूल में पढ़ाया करते थे। सूरत शकल में गुरुदत्त जी अपने पिता के फोटो थे। आप का बचपन का नाम 'मूला' था। कुछ बड़ा होने पर जब 'मूला' ने धर्मभक्ति और ज्ञानचर्चा की ओर प्रवृत्ति दिखाई तो उसे वैरागी कहकर पुकारा जाने लगा। १२ वर्ष की उमर में पण्डित जी अपने पिता के साथ हरिद्वार गये। वहां स्वामी राधेश्याम

ने 'वैरागी' का नाम 'गुरुदित्ता' रख दिया। स्वयं ज्ञानसम्पन्न होकर 'गुरुदित्ता' ने संशोधन करके अपना नाम 'गुरुदत्त' रखा। आप जन्म के 'अरोड़ा' थे। आपके पाण्डित्य ईश्वरप्रेम और प्रतिभा के चमत्कार को देखकर पीछे से आप के नाम के साथ 'पण्डित' का आदरसूचक शब्द लगाया जाने लगा। गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था की पहली जीत 'ला० गुरुदत्त' के 'प० गुरुदत्त' बनने में हुई। आश्चर्य की बात यह है कि आखिर को दुनिया ने इस जीत को स्वीकार कर लिया। योग्य व्यक्ति को योग्य आदर मिले तो किसी को भी क्षोभ नहीं होता। 'मणि' को 'मणि' कहलाने में परिश्रम नहीं करना पड़ता, हां यदि पत्थर को मणि कहना चाहें तो अवश्य ही भारी और उचित विवाद होगा। आज यदि निरक्षर महाशय पण्डित बन जाय तो उनसे गुण कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था की स्थापना नहीं हो जायगी। जो पण्डित कहलाने के योग्य है, उसे इस ऊंची पदवी से विभूषित किया जाय तो सारा संसार 'तथास्तु' कहेगा, और वही वैदिक सिद्धान्त की असली जीत होगी। प० गुरुदत्त ने गुणों द्वारा ब्राह्मणवर्ण प्राप्त किया था, और कुछेक बिगड़े दिमागवालों को छोड़कर किसी ने भी उसका विरोध नहीं किया।

गुरुदत्त जी के पिता स्कूल मास्टर थे। उन्होंने अपने पुत्रको प्राइमरी तक की शिक्षा घर में ही दी। ८ वर्ष की उम्र में आप स्कूल में भर्ती हुये। आप ने मिडिल परीक्षा झंग से और मैट्रिक्युलेशन परीक्षा मुल्तान से पास की। १८८१ में गुरुदत्त जी का स्कूल जीवन समाप्त हुआ। यह जीवन कई अंशों में चमत्कारमय था। इतनी विशेषतायें विरले ही विद्यार्थियों में इकट्ठी होती हैं। पढ़ने में आप तेज थे। अध्यापक और इन्स्पेक्टर इस होनहार युवक को देखकर आश्चर्यित होते थे। मास्टर लोग प्रश्न के उत्तर देने में उलझ जाते थे। बड़ी श्रेणि के लड़के प्रतिभाशाली विद्यार्थी से सीखने आते थे। पढ़ने के साथ शारीरिक व्यायाम का कोई सम्बन्ध नहीं परन्तु गुरुदत्त जी को विद्यार्थी अवस्था में कसरत का खूब शौक था। स्कूल से घर को आते हुये लम्बे से लम्बा रास्ता चुनते थे। सुशीलता की यह दशा थी कि लोग 'वैरागी' और 'गुरुजी' के नाम से पुकारते थे। धार्मिक जीवन की ओर गुरुदत्त जी की बचपन से ही प्रवृत्ति थी। योग की धुन में हरेक साधु की सेवा करते थे। एक बार बालक गुरुदत्त को नाक बन्द करके प्राणायाम करता देखकर माता नाराज हो गई, और बेटे को 'जोगियों' के रास्ते पर जाने से रोकना चाहा परन्तु जल और हृदय का प्रवाह नहीं रुका करता।

इसी जीवन में ऐसा भी समय आया जब गुरुदत्तजी नास्तिक समझे जाते थे। यह शिकायत अगले जीवन में भी कई बार सुनीगई, परन्तु लेखक ने जहांतक विचार किया

है, और पंडितजी की जीवनी का अनुशीलन किया है, वह इसी परिणाम पर पहुंचा है कि जीवन के २६ वर्षों में ऐसा कोई समय नहीं था, जब गुरुदत्तजी 'नास्तिक' या 'अविश्वासी' कहे जा सकें। सन्देह के समय अवश्य आये, परन्तु नास्तिकता का कोई समय नहीं आया। गुरुदत्तजी गहरे विश्वास के साथ उत्पन्न हुए थे। कभी २ उग्र प्रतिभा जमे हुए विश्वास से टकरा जाती थी, परन्तु शीघ्र ही विश्वास हावी होजाता था और वह टक्कर से पहले के विश्वास की अपेक्षा अधिक बलवान् होता था। कभी २ सन्देह के झकोरे आते थे पर वह जड़ को और अधिक मजबूत बनाने के कारण बनते थे। विद्यार्थी दशा में कई झकोरे आये, परन्तु उनमें से विश्वासी आत्मा और भी अधिक विश्वासी होकर निकली। मुल्तान में एण्ट्रेंस की तय्यारी के समय गुरुदत्तजी के हृदय में वेद पढ़ने की धुन पैदा हुई, और २० जून १८८० के दिन आप आर्यसमाज की सभासदी का फार्म लेकर मन्त्रीजी के पास पहुंचे।

३. कालिज का जीवन (१)

१८८१ ई० के जनवरी मास में गुरुदत्तजी लाहौर के गवर्नमेंट कालिज में भर्ती हुए। मैट्रिकुलेशन की परीक्षा में प्रान्तभर में आपका पांचवां नम्बर रहा था, परन्तु अब जो कालिज का जीवन आरम्भ होता है, वह उज्ज्वलता में अपना सानी नहीं रखता। इस जीवन में चमत्कारी युवक को कामयाबी पर कामयाबी हुई। जो प्रतिभा स्कूल के जीवन में अपने हाथ दिखा चुकी थी, वह कालिज में जाकर और भी अधिक खिल उठी। गुरुदत्तजी के विद्यार्थी-जीवन के साथी और कई अंशों में उनके चेलों में से कुछेक नाम पंजाब के सार्वजनिक जीवन में ख्याति पाचुके हैं। ला० हंसराज, दीवान नरेन्द्रनाथ, ला० शिवनाथ असिस्टेण्ट इञ्जिनियर, ला० भगतराम सुप्रिफ, ला० चेतनानन्द वकील, प्रो० रुचिराम साहनी, और ला० लाजपतराय—यह सब लोग पंडितजी के केवल कालिज मित्र ही न थे, वह उनके धार्मिक ऊहापोह के भी कई अंशों में साथी थे।

कालिज में जाकर प्रतिभाशील युवक को अपनी कुशाग्र बुद्धि का सिक्का जमाते देर न लगी। शीघ्र ही प्रोफेसरों तक ने मान लिया कि गुरुदत्त विद्यार्थी साधारणकोटि तथा साधारण नियमों से ऊपर है। प्रायः कालिज में वह पाठ के सुनने पर कम ही ध्यान देते थे, परन्तु प्रोफेसर बुरा नहीं मानते थे। घर का समय दो कामों में व्यय होता था। कालिज में जो विषय लिया था, उसे छोड़कर अन्य सब विषयों का अनुशीलन करने में, और धार्मिक विषयों पर बहस मुबाहिसा करने में। गुरुदत्तजी अनथक और समझदार पढ़नेवाले थे। कालिज का दूसरा वर्ष समाप्त होने से पूर्व आपका दिमाग पश्चिम के दर्शन और विज्ञान का खासा स्टोर रूम बन गया था। आनस्ट्रांग मित्र में आपको

ने 'वैरागी' का नाम 'गुरुदित्ता' रख दिया। इसके पश्चात् ... द्वारा 'गुरुदित्ता' ने संशोधन करके अपना नाम 'गुरुदत्त' रखा। आप जन्म के 'सरदाना' थे। आपके पांडित्य व ईश्वरप्रेम और प्रतिभा के चमत्कार को देखकर धीरे २ आपके नाम के साथ 'पण्डित' का आदरसूचक शब्द लगाया जाने लगा। गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था की पहली भेंट 'ला० गुरुदत्त' के 'प० गुरुदत्त' बनने में हुई। आश्चर्य की बात यह है कि आर्यसमाज की दुनिया ने इस बात को स्वीकार कर लिया। योग्य व्यक्ति को योग्य आदर मिलने से किसी को भी दोष नहीं होता। 'मणि' को 'मणि' कहलाने में परिश्रम नहीं करना पड़ता, हां यदि पत्थर को मणि कहना चाहें तो अवश्य ही गाली और उपेक्षा मिलेगी। आज यदि निरक्षर महाशय पण्डित बन जाएं तो उससे गुण कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था की स्थापना नहीं हो सकती। जो पण्डित कहलाने के योग्य है, उस रत्न रूपी व्यक्ति को विभूषित किया जाए तो सारा संसार 'तथास्तु' कहेगा, और यही वैदिक सिद्धान्त की असली जीत होगी। प० गुरुदत्त ने गुणों द्वारा ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था, और कट्टर से कट्टर जन्मवादियों का ... किसी ने भी उसका विरोध नहीं किया।

गुरुदत्त जी के पिता स्कूल मास्टर थे। उन्होंने अपने पुत्र को उर्दू फारसी तक की शिक्षा घर में ही दी। ८ वर्ष की उम्र में आप स्कूल में भर्ती हुये। आप ने मिडिल परीक्षा झंग से और मैट्रिक्युलेशन परीक्षा मुल्तान से पास की। १८८१ में गुरुदत्त जी का स्कूल जीवन समाप्त हुआ। यह जीवन कई अंशों में चमत्कारमय था। इतनी विशेषतायें विरले ही विद्यार्थियों में इकट्ठी होती हैं। पढ़ने में आप तेज थे। अध्यापक और इन्सपेक्टर इस होनहार युवक को देखकर आश्चर्यित होते थे। मास्टर लोग प्रश्नों के उत्तर देने में उलझ जाते थे। बड़ी श्रेणि के लड़के प्रतिभाशाली विद्यार्थी से सीखने आते थे। पढ़ने के साथ शारीरिक व्यायाम का कोई सम्बन्ध नहीं परन्तु गुरुदत्त जी को विद्यार्थी अवस्था में कसरत का खूब शौक था। स्कूल से घर को आते हुये लम्बे से लम्बा रास्ता चुनते थे। सुशीलता की यह दशा थी कि लोग 'वैरागी' और 'गुरुजी' के नाम से पुकारते थे। धार्मिक जीवन की ओर गुरुदत्त जी की बचपन से ही प्रवृत्ति थी। योग की धुन में हरेक साधु की सेवा करते थे। एक बार बालक गुरुदत्त को नाक बन्द करके प्राणायाम करता देखकर माता नाराज हो गई, और बेटे को 'जोगियों' के रास्ते पर जाने से रोकना चाहा परन्तु जल और हृदय का प्रवाह नहीं रुका करता।

इसी जीवन में ऐसा भी समय आया जब गुरुदत्त जी नास्तिक समझे जाते थे। यह शिकायत अगले जीवन में भी कई बार सुनी गई, परन्तु लेखक ने जहांतक विचार किया

है, और पंडितजी की जीवनी का अनुशीलन किया है, वह इसी परिणाम पर पहुंचा है कि जीवन के २६ वर्षों में ऐसा कोई समय नहीं था, जब गुरुदत्तजी 'नास्तिक' या 'अविश्वासी' कहे जा सकें । सन्देह के समय अवश्य आये, परन्तु नास्तिकता का कोई समय नहीं आया । गुरुदत्तजी गहरे विश्वास के साथ उत्पन्न हुए थे । कभी २ उग्र प्रतिभा जमे हुए विश्वास से टकरा जाती थी, परन्तु शीघ्र ही विश्वास हावी होजाता था और वह टक्कर से पहले के विश्वास की अपेक्षा अधिक बलवान् होता था । कभी २ सन्देह के झकोरे आते थे पर वह जड को और अधिक मजबूत बनाने के कारण बनते थे । विद्यार्थी दशा में कई झकोरे आये, परन्तु उनमें से विश्वासी आत्मा और भी अधिक विश्वासी होकर निकली । मुल्तान में एण्ट्रेंस की तय्यारी के समय गुरुदत्तजी के हृदय में वेद पढने की धुन पैदा हुई, और २० जून १८८० के दिन आप आर्यसमाज की सभासदी का फार्म लेकर मन्त्रीजी के पास पहुंचे ।

३. कालिज का जीवन (१)

१८८१ ई० के जनवरी मास में गुरुदत्तजी लाहौर के गवर्नमेंट कालिज में भर्ती हुए । मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा में प्रान्तभर में आपका पांचवां नम्बर रहा था, परन्तु अब जो कालिज का जीवन आरम्भ होता है, वह उज्ज्वलता में अपना सानी नहीं रखता । इस आयु में चमत्कारी युवक को कामयाबी पर कामयाबी हुई । जो प्रतिभा स्कूल के जीवन में अपना हाथ दिखा चुकी थी, वह कालिज में जाकर और भी अधिक खिल उठी । गुरुदत्तजी के विद्यार्थीजीवन के साथी और कई अंशों में उनके चेलों में से कुछेक नाम पंजाब के सार्वजनिक जीवन में ख्याति पा चुके हैं । ला० हंसराज, दीवान नरेन्द्रनाथ, ला० शिवनाथ असिस्टेंट इञ्जिनियर, ला० भगतराममुन्सिफ, ला० चेतनानन्द वकील, प्रो० रुचिराम साहनी, और ला० लाजपतराय–यह सब लोग पंडितजी के केवल कालिज मित्र ही न थे, वह उनके धार्मिक ऊहापोह के भी कई अंशों में साथी थे ।

कालिज में जाकर प्रतिभाशील युवक को अपनी कुशाग्र बुद्धि का सिक्का जमाते देर न लगी। शीघ्र ही प्रोफेसरों तक ने मान लिया कि गुरुदत्त विद्यार्थी साधारणकोटि तथा साधारण नियमों से ऊपर है । प्राय कालिज में वह पाठ के सुनने पर कम ही ध्यान देते थे, परन्तु प्रोफेसर बुरा नहीं मानते थे । घर का समय दो कामों में व्यय होता था । कालिज में जो विषय लिया था, उसे छोडकर अन्य सब विषयों का अनुशीलन करने में, और धार्मिक विषयों पर बहस मुबाहिसा करने में । गुरुदत्तजी अनथक और समझदार पढनेवाले थे । कालिज का दूसरा वर्ष समाप्त होने से पूर्व आपका दिमाग पश्चिम के दर्शन और विज्ञान का खासा स्टोर रूम बन गया था । आनरस्कूमार्ट सिद्ध में आपका

उन्नत शक्ति थी, जिसका कि यूरोप के दिमाग में गुरुदत्त विद्यार्थी की जड़ों को हिलाने का यत्न कर रही थी। उन्होंने मिल और बेन का खासा खूब पाठ किया, और बेन्थम के तत्त्वज्ञान को पसन्द किया। उस समय योरप का आकाश हेतुवाद (Rationalism) के परमाणुओं से आच्छन्न हो रहा था। एक ओर से विकासवाद (Evolution Theory) और दूसरी ओर से अज्ञेयवाद (Agnosticism) के बलवान धक्कों से विश्वास (Faith) के किले की ईंट से ईंट बजा रहे थे। सोचने वाली दुनिया ज्ञानस्फुरणार्थ मिल स्पेन्सर और कोंट (Comte) के पीछे पागल हो रही थी, और वैज्ञानिक जगत् का विचार के क्षेत्र में अधिकारी बना लिया था। इंगलैण्ड की ऐंग्लिश्ड माता की शिक्षा भारतवर्ष के नवशिक्षित युवकों के हृदयों पर अनायास काबू पा रही थी। इस कुछ समय पूर्व ईसाइयत का आक्रमण आरम्भ हुआ था, वह अभी रुकने न पाया था कि यह नया अनीश्वरवाद रूपी दूसरा आक्रमण आरम्भ हो गया। गुरुदत्त जी को भी अपना हिस्सा लेना पड़ा। १८८१ और १८८२ के दो साल नास्तिकता के नहीं, संशय के साल हैं। जो लोग इन दो वर्षों को गुरुदत्त जी के जीवन में नास्तिकता के वर्ष कहते हैं, वह भूलते हैं। उनके जीवन में ही श्रद्धा का अङ्कुर जम चुका था। कालिज जीवन के पहले दो भागों में उस अङ्कुर की परीक्षा हो रही थी। इसमें सन्देह नहीं कि परीक्षा सख्त थी। अनवरत अध्ययन और तीव्र प्रतिभा ने संशय पैदा करने के साधनों को मदद दी, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि अन्तिम विजय श्रद्धा की हुई। गुरुदत्त जी का अगला जीवन इसका साक्षी है। इन दो वर्षों में गुरुदत्त जी का संशय नास्तिकता की दहलीज तक शायद कभी पहुंच गया हो, परन्तु अन्दर नहीं घुसा, बाहिर से लौट आया।

१८८२ ई० के आरम्भ में गुरुदत्त जी ने एक फ्री डिबेटिंग क्लब की स्थापना की, जिसमें गम्भीर विषयों पर बहस हुआ करती थी, गुरुदत्त जी उसके मन्त्री थे, वह प्राय विवाद में उल्टा पक्ष लिया करते थे। कोई धार्मिक या सामाजिक विषय विवाद की सीमा से नहीं छूट सकता था। हरेक विषय पर खूब ऊहापोह होता था। प० गुरुदत्तजी के समकालिक नवयुवक विवाद से लाभ उठाते थे। क्लब के पुरजोश मेम्बरों में से एक ला० लाजपतरायजी भी थे। लालाजी ने प० गुरुदत्तजी का जो जीवन चरित लिखा है उससे प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में पण्डितजी हमेशा आर्यसमाज से विरुद्ध पक्ष लिया करते थे, परन्तु १८८२ ई० के अन्त में उन्होंने आर्य सिद्धान्तों की पुष्टि प्रारम्भ कर दी, जिसका कारण यह प्रतीत होता है कि पण्डितजी तो विषय के परिमार्जन के लिये विरोधी पक्ष लिया करते थे परन्तु नवयुवकों पर उसका उल्टा असर होता था। उनमें नास्तिकता का अंकुर उत्पन्न होता जाता था। भलाई के लिये किये गये यत्न से बुराई पैदा होते देखकर प० गुरुदत्तजी ने अपनी कार्यनीति को बदल दिया। बदलने का परिणाम

भी चमत्कारी हुआ। नवयुवकों में आस्तिकता का प्रचार होने लगा। उस समय आस्तिकता को सबसे जबदरस्त धक्का विज्ञान की ओर से लग रहा था। योरप वैज्ञानिक उन्नति के चकाचौंध से प्रभावित होकर ईश्वरविश्वास को छोड़ रहा था। त्रिवेणिग क्लब में भी प्रारम्भ में सायंस ने विश्वास को दबा लिया परन्तु जब प० गुरुदत्त ने विश्वास के समर्थन में हथियार पकड़े तब रौ पलटने लगा। पण्डित जी ने विज्ञान के बल से ही ईश्वर की सत्ता को समझाना आरम्भ किया। ला० लाजपतराय जी ने लिखा है कि वह उन्हीं दिनों से आर्यसमाजी बने।

उन्हीं दिनों प० गुरुदत्त जी ने अपने दो अन्य मित्रों के साथ मिलकर 'The Regenerator of Aryavart' नाम के अखबार को जारी किया। एक प्रेस के स्वामी ने यह कहकर युवक मित्रों को पत्रसम्पादन के लिये तय्यार कर लिया कि पत्र की बचत परोपकार के काम में लगायी जायगी, परन्तु कुछ समय पीछे मालूम होगया कि व्यापारी दिमाग के प्रेसाध्यक्ष ने युवकों की सादगी से फायदा उठाकर अपना उल्लू सीधा करने का यत्न किया था। तब पत्र के साथ पण्डित जी का या उनके मित्रों का कोई सम्बन्ध नहीं रहा।

४ कालिज का जीवन (२)

१८८३ ई० के अक्तूबर मास में ऋषि दयानन्द की भयानक बीमारी का संवाद देश भर में फैल गया। भक्तों के हृदय कांप उठे। इस समय तक आर्य पुरुषों के लिये वैदिक धर्म का प्रतिनिधि यदि कोई था तो ऋषि दयानन्द। वही उनका आचार्य, वही उपदेशक और वही वकील था। आर्य पुरुषों को विश्वास था कि आदित्य ब्रह्मचारी यदि भीष्म पितामह के समान ४०० वर्ष तक नहीं तो कम से कम एक सौ वर्ष तक तो अवश्य ही जीवित रहेगा। मृत्यु और दयानन्द–इन दो शब्दों का आपस में कोई सम्बन्ध है, ऐसी भावना ही उनके दिलों में नहीं थी। अकस्मात् समाचार फैल गया कि अनहोनी की सम्भावना है। आदित्य ब्रह्मचारी को किसी ने जहर देकर मरवा डालने की चेष्टा की है। ऋषि उस समय अधिक रोगी होकर अजमेर में आगये थे। लाहौर की आर्यसमाज की ओर से, दो प्रतिनिधि, ऋषि की दशा को देखने और सेवा करने के लिये रवाना करने का निश्चय हुआ। एक तो ला० जीवनदास जी चुने गये, और दूसरा चुनाव गुरुदत्त जी पर पड़ा। लौकिक दृष्टि से गुरुदत्त जी का नंबर बहुत पीछे आती, क्योंकि उनकी आयु इस समय केवल १६ साल की थी, और कालिज के तीसरे वर्ष में शिक्षा पा रहे थे, परन्तु प्रतिभा और विश्वास ने उस नवयुवक को समाज में वृद्ध बना दिया था। समाज के सभासद् गुरुदत्त जी को छोटी उम्र का फिलासफर, और होनहार नवयुवक समझते और कहते थे।

[illegible] ... मृत्यु का [illegible] देखकर भी विचलित नहीं होता और आनन्द मग्न रहता है।

ऋषि के [illegible] का वर्णन नहीं है। [illegible] जिज्ञासु युवक ने देखा [illegible]। जिज्ञासु ने उस मृत्यु [illegible] महिमा को और ईश्वरविश्वास के [illegible] को देखा। [illegible] के लिये था। [illegible] प्रतिभासम्पन्न [illegible] आत्मा [illegible] वह मिल गई। जो [illegible] और [illegible] न मिली, [illegible] और [illegible] में [illegible] किया परन्तु न पाया और हां, जिसे सत्यार्थप्रकाश भी न दे सका, वह जिज्ञासु को इन शब्दों के सुनने से मिल गई—

"हे दयामय! हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर! तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो। आहा, तूने अच्छी लीला की।"

एक ईश्वरविश्वासी पुरुष किस सन्तोष से मर सकता है, और मृत्यु में भी ईश्वर की महिमा को देख सकता है, इसका गुरुदत्त ने अनुभव किया। सुननेवालों ने कहा है कि ऋषि के मुख से 'आहा' शब्द इस प्रकार से निकले जैसे किसी चिरवियुक्त प्रेमी को फिर से मिलने के समय निकलते हैं। गुरुदत्त जी के हृदय में यदि संशय का कोई लेश विद्यमान था, तो वह ऋषि के अन्तकाल को देखकर दूर होगया। सन्देह का मैल सच्चे विश्वास के जल से धुल गया। कहावत है कि खर्बूजा खर्बूजे को देखकर रंग पकड़ता है। एक महान आत्मा के उज्ज्वल विश्वास को देखकर दूसरा महान् आत्मा ने विश्वास का रंग पकड़ा। पं० गुरुदत्त एक पिपासु आत्मा बनकर लाहौर से चले थे और सच्चे विश्वासी आस्तिक होकर अजमेर से लौटे।

आठवां परिच्छेद

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी—(२)

१८८३—१८९०

१—शिक्षा की समाप्ति

गुरुदत्त जी आदर्श विद्यार्थी थे। इतिहास में यह नहीं लिखा कि कभी स्कूल या कालिज में अध्यापकों के साथ उनकी अनबन हुई हो। वह हमेशा गुरुजनों के लाडले ही रहे। बचपन से ही उनकी प्रतिभा अपनी प्रखरता का प्रमाण दे चुकी थी। तेज और प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थी साधारणतया उद्दण्ड और अविनीत हुआ करते हैं। परन्तु गुरुदत्तजी जितने अधिक प्रतिभा सम्पन्न थे, उतने ही अधिक विनीत थे, प्रतिभा और विनीतता की दुश्मनी मशहूर है, गुरुदत्तजी के हृदय में वह दोनों सहेलियां बन कर रहती थीं। आम तौर पर देखा जाता है कि जो विद्यार्थी पढ़ने में अच्छे हैं, वह शारीरिक व्यायाम की ओर कम ध्यान देते हैं। स्कूल जीवन के प्रारम्भ से ही हम गुरुदत्तजी को व्यायामशील पाते हैं। उन्हें घूमने भागने और दंड आदि की कसरत का खूब शौक था। जिन लोगों ने पं० गुरुदत्तजी को उस दशा में देखा है, जब वह वैदिक मैगज़ीन का सम्पादन करते थे, वह समझ ही नहीं सकते कि अपने विद्यार्थी जीवन में पंडितजी का शरीर कैसा गठीला और कसरती था। आप खेलों में बहुत रुचि रखते थे। इन दो विशेषताओं के साथ तीसरी विशेषता यह थी कि पण्डितजी कालिजजीवन का मुख्य भाग पढ़ने में नहीं बल्कि आर्यसमाज की सेवा में व्यतीत करते थे। कालिज के तीसरी वर्ष में तो आप लाहौर आर्यसमाज के नेताओं में गिने जाने लगे थे। शीघ्र ही आपकी कीर्ति प्रान्त भर में फैलने लगी। बी० ए० पास होने से पूर्व ही पंडित गुरुदत्त जी पंजाब के आर्यसमाजों में मुखिया समझे जाने लगे थे।

प्रतिभा की महिमा इसे कहते हैं कि सामाजिक कार्यों में समय का बड़ा भाग व्यतीत करते हुए भी पंडितजी बी० ए० की परीक्षा में सारे पंजाब में प्रथम रहे। १८८६ में आप मैजुएट बने। जो गुरुजन गुरुदत्तजी को रातदिन आर्यसमाज के कार्यों में लगे देखकर घबराया करते थे, और डरते थे कि कहीं उनका लाडला विद्यार्थी

नाकामयाब न हो जाय, वह आश्चर्यचकित और प्रफुल्लित हो गए। एम० ए० हो जाने पर गुरुदत्तजी आर्यसमाज के काम में और अधिक लिप्त होने लगे। हरेक मामले में प्रतिभासम्पन्न नवयुवक की राय ली जाती। लाहौर आर्यसमाज के प्रधान ला० मूलराज जी के तो आप दायें हाथ बन रहे थे। उन दिनों डी० ए० वी० कालिज की पाठविधि और आर्यप्रतिनिधि सभा के नियम बन रहे थे। वाद-विवाद हो रहा था, समय का अधिक भाग इन्हीं विवादग्रस्त विषयों के ऊहापोह में व्यतीत होता था। अध्यापकों और मित्रों के हर्षमिश्रित आश्चर्य की मात्रा न रही जब उन्होंने सुना कि गुरुदत्त ने १८८६ के आरम्भ में एम० ए० परीक्षा देने वालों में सब से अधिक नम्बर पाये। पंजाब यूनीवर्सिटी के इतिहास में उस समय यह अपनी तरह की पहली और अद्भुत घटना समझी गई। पं० गुरुदत्त की धाक प्रान्त भर पर बैठ गई।

२ डी० ए० वी० कालिज

अजमेर से दग्ध मानसिक बनकर गुरुदत्तजी जब लाहौर में आये तो आर्यपुरुषों में ऋषि की यादगार को स्थापित करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। उस इच्छा ने किस प्रकार स्थूल रूप धारण किया यह इस पुस्तक के पृष्ठों में लिखा जा चुका है। पं० गुरुदत्तजी ने डी० ए० वी० कालिज की स्थापना के लिये कितना उद्योग किया, यह भी दिखाया जा चुका है। पंजाब की जनता डी० ए० वी० कालिज का पंडितजी के मुंह से ही सुनती थी। उन दिनों पर कालिज के लिये आप ही धन की अपील किया करते थे।

आपके व्याख्यानों की रिपोर्ट पढ़ने से मालूम होता है कि आप डी० ए० वी० कालिज को वैदिक और आर्ष शिक्षा देने का साधन बनाना चाहते थे। यहीं पर आपका कालिज के अन्य सञ्चालकों के साथ मतभेद था। ला० लाजपतरायजी ने १८९१ में आर्यसमाज के सम्बन्ध में जो ट्रैक्ट लिखा था, उसमें बतलाया था कि प्रारम्भ से ही आर्यपुरुष दो हिस्सों में बंटे हुए थे। एक वह जो डी० ए० वी० कालिज को धार्मिक दृष्टि से देखते थे, और दूसरा वह जो उसे राष्ट्रीय (कौमी) दृष्टि से देखते थे। धार्मिक दृष्टि से देखने वालों में पहला स्थान पं० गुरुदत्तजी का था।

यदि हम पंडित जी के डी० ए० वी० कालिज के साथ सम्बन्ध के इतिहास को ले पढ़ें तो हमें वह तीन हिस्सों में बंटा हुआ दिखाई देगा। पहले हिस्से में हम उन्हें कालिज का जबरदस्त वकील, दूसरे में असन्तुष्ट समर्थक और तीसरे में प्रेमी समालोचक के रूप में देखते हैं। पहले और दूसरे हिस्सों की अपीलों में बहुत अन्तर है। दूसरे हिस्से की कई अपीलों में डी० ए०

में कालिज का नाम लिये बिना केवल वैदिक शिक्षालय के लिये अपील की गई है। तीसरा हिस्सा बहुत छोटा है परन्तु बहुत महत्वपूर्ण है। यदि पंडित जी की जीवनरेखा बीच में ही न कट जाती तो वह हिस्सा सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता, इसमें सन्देह नहीं।

इस प्रकरण में इतना लिख देना आवश्यक है कि कालिज की शिक्षा में आर्य साहित्य की न्यूनता से बहुत असन्तुष्ट होकर भी पंडित जी उसके प्रेमी रहे। उनका कालिज से वही प्रेम था, जो एक पिता का पुत्र से होता है। पुत्र से असन्तुष्ट होकर भी पिता उसका दुश्मन नहीं बन सकता। यदि असन्तोष को कुछ साल तक पकने का मौका मिलता तो क्या परिणाम होता यह कहना कठिन है परन्तु यह निश्चय है कि पंडित जी के जीते जी कालिज सम्बन्धी मतभेद की आग प्रचण्डरूप में प्रकाशित नहीं हुई, इसका कारण उनकी दूरदर्शिता ही थी। यह एक नोट करने योग्य बात है कि अनेक बार चेष्टा करने पर भी पं० गुरुदत्त जी को डी० ए० वी० को कालिज के शिक्षकगण में शामिल नहीं किया जासका, यद्यपि आप बहुत समय तक गवर्मेण्ट कालिज में प्रोफेसर रहे।

२ वेद और योग का दीवाना

किसी एक धुन के सिवा मनुष्य कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। धुन भी इतनी कि दुनिया उसे पागल कहे। पं० गुरुदत्त के अन्दर पागलपन तक पहुंची हुई धुन विद्यमान थी। उसे योग और वेद की धुन थी। जब गुरुदत्त जी स्कूल की आठवीं जमात में पढ़ते थे, तभी से उन्हें शौक था कि जिसके बारे में योगी होने की चर्चा सुना, उसके पास जापहुंचे। प्राणायाम का अभ्यास आपने बचपन से ही आरम्भ कर दिया था। इसी उम्र में एक बार बालक को एक नासारन्ध्र को बन्द करके सांस उतारते चढ़ाते देखकर माता बहुत नाराज हुई थी। उसे स्वाभाविसिद्ध मातृस्नेह ने बतला दिया कि अगर लड़का इसी रास्ते पर चलता गया तो फकीर बन कर रहेगा।

अजमेर में योगी की मृत्यु को देख कर योग सीखने की इच्छा और भी अधिक भड़क उठी। लाहौर पहुंच कर पंडित जी ने योग दर्शन का स्वाध्याय आरम्भ कर दिया। आप अपने जीवन की घटनाओं को लिखने, और निरन्तर उन्नति करने के लिये डायरी लिखा करते थे। उस डायरी के बहुत से भाग कई सज्जनों के पास विद्यमान थे। उनके पृष्ठों से पता चलता है कि ज्यों २ समय बीतता गया, पंडित जी की योगसाधना की इच्छा भी प्रबल होती गई। आप प्रति दिन थोड़े बहुत प्राणायाम करने लगे।

[illegible] के प्रसिद्ध [illegible] थे। [illegible] पण्डित जी [illegible] (स्वामी [illegible]) [illegible] और [illegible] पुस्तकालय में [illegible] थे। [illegible] अधिक पढ़ते थे। [illegible] होती है, [illegible] हुई है। [illegible] भाषा में [illegible] और [illegible] अधिक [illegible] थी। [illegible] कहा कि [illegible] हो [illegible] कोई [illegible] नहीं [illegible] [illegible] के [illegible] एक [illegible] [illegible] हुआ था। [illegible] के [illegible] और [illegible] बहुत समझाया, परन्तु आप के दीवाने [illegible] माने।

गुरुदत्त जी की दूसरी धुन थी, वेदों का अध्ययन [illegible]। वेदों पर [illegible] आपकी [illegible] थी। [illegible] अष्टाध्यायी करते थे। जब [illegible] समझने में कठिनता प्रतीत होने लगी तब अष्टाध्यायी और निरुक्त का [illegible] प्रारम्भ हुआ। घर २ अष्टाध्यायी का स्वाध्याय पण्डित जी के लिये सबसे [illegible] बन गया क्योंकि आप उसे वेद [illegible] समझते थे। [illegible] नौजवानों में भी प्रतिध्वनित होने लगा, जो आपके पास रहा करते थे। सुनते हैं कि ला० दुर्गाप्रसाद जी, ला० जीवनदास जी, ला० [illegible] जी, पं० [illegible] और ला० सुन्दरदास जी की बगलों में उन दिनों अष्टाध्यायी दिखाई देती थी।

अष्टाध्यायी निरुक्त और षड्दर्शनों का स्वाध्याय निरन्तर चलता था। यदि उसमें [illegible] हो जाती तो पण्डित जी को अत्यन्त दुःख होता। यह दुःख डायरी के पृष्ठों में प्रतिबिम्बित है। आपकी प्रखर बुद्धि के सामने दुरूह से दुरूह विषय सरल हो जाते थे, और बड़े २ पण्डितों को आश्चर्यित कर देते थे। श्री स्वामी अच्युतानन्द जी अद्वैतवादी सन्यासी थे। पं० गुरुदत्त जी आपके पास उपनिषदें पढ़ने जाया करते थे। विद्यार्थी की प्रखर बुद्धि का स्वामीजी पर यह प्रभाव पड़ा कि शीघ्र ही शिष्य के अनुयायी हो गये। स्वामीजी पं० गुरुदत्त जी के प्रताप से स्वयं द्वैतवादी बनगये और आर्यसमाज के सभासदों में शामिल होगये। देहरादून के स्वामी महानन्दजी प्रसिद्ध दार्शनिक थे। आप

को भी प० गुरुदत्तजी के अध्यापक बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सत्संग के प्रभाव से आप भी आर्यसमाजी बन गये।

४. उपदेशक क्लास।

डी० ए० वी० कालिज की शिक्षा से असन्तुष्ट होकर कुछ लोगों ने एक दूसरी संस्था के चलाने का निश्चय किया। ३ सितम्बर १८९९ की आर्यपत्रिका में उसकी सूचना निम्नलिखित शब्दों में निकली है।

"क्योंकि आपग्रन्थों की शिक्षा के लिये एक क्लास का खोलना आवश्यक है इस कारण, जबतक डी० ए० वी० कालिज की मेनेजिंग कमेटी या कोई अन्य नियमपूर्वक बनी हुई कमेटी इस काम को हाथ में नहीं लेती तबतक के लिये क्लास के लिये चन्दा एकत्र करने तथा क्लास सम्बन्धी अन्य कार्यों के लिये निम्न लिखित सभ्यों की एक अस्थायी कमेटी बनाई जाय।

(१) स्वामी रामानन्द सरस्वती
(२) प० गुरुदत्त एम० ए०
(३) ला० जीवनदास, लाहौर
(४) ला० रलाराम, झेलम
(५) ला० मुन्शीराम, जालन्धर
(६) प० धर्मचन्द, अमृतसर
(७) मास्टर दयाराम, गुजरात
(८) डा० सीताराम, पशावर
(९) ला० केदारनाथ, लाहौर

अनुपस्थित सभ्यों की स्वीकृति हो जाने पर निम्नलिखित निश्चय काम में लाये जाय—

(१) ला० मुन्शीरामजी प्रधान हों
(२) ला० केदारनाथ मन्त्री हों
(३) ला० जीवनदास खजानची हों
(४) स्वामी रामानन्द उपदेशक समझे जाय

पं० गुरुदत्त जी इस समूह के केन्द्र थे। बहुत से आर्य पुरुषों को डी० ए० वी० कालिज में आर्ष ग्रन्थों की पढ़ाई न होने की शिकायत थी। यह उस शिकायत का फल था। इस क्लास के विचार को लगभग ११ वर्ष पीछे हम गुरुकुल के रूप में परिणत हुआ पाते हैं।

उपदेशकक्लाससम्बन्धी घोषणा ने पंजाब की आर्यसमाजों में एक हलचलसी पैदा करदी। डी० ए० वी० कालिज के संचालकों ने उसे भारी चोट समझा। आर्य प्रतिनिधि सभा के अधिकारियों ने उसे एक नियमविरुद्ध कार्रवाई का प्रारम्भ मानकर अविश्वास की दृष्टि से देखा। पंजाब की आर्यसमाजों में नियमों का आदर करने की ओर अभिरुचि पहले से ही पाई जाती है। समाजों में एक खासा आन्दोलन मच गया। प्रतीत होता है कि अस्थायी समिति बनाने वालों का उद्देश्य भी पंजाब के आर्य पुरुषों में हलचल पैदा कर देना ही था। यदि यह अनुमान सत्य है तो अस्थायी कमेटी को पूरी सफलता हुई। २६ अक्तूबर १८८९ के अधिवेशन में आर्यप्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा ने निम्न लिखित आशय का प्रस्ताव पास किया।

> "आर्यप्रतिनिधि सभा का कर्तव्य है कि उपदेशक क्लास का संचालन करे। इस कार्य्य के लिए ला० मुन्शीराम को उसके नियम आदि बनाने का काम सौंपा जाय। उपदेशक क्लास के लिये जो रुपया आये, मन्त्री उसे जुदा हिसाब में रखता जाय।"

इस प्रकार आर्यप्रतिनिधि सभा की अन्तरंग ने जुदा उपदेशक पाठशाला खोलने का निश्चय किया।

उस समय परस्पर मतभेद के कारण जो अविश्वास का जलवायु उत्पन्न होरहा था, उसका इससे बढ़कर क्या सबूत हो सकता है कि उपदेशकक्लास सम्बन्धी बहस में समाचार पत्रों में स्वामी रामानन्द जी को और पं० गुरुदत्त जी को भी नहीं छोड़ा गया। जो कड़वे विवाद अगले वर्षों में पंजाब की आर्यसमाजों को विचलित कर देने वाले थे, उनका आरम्भ यहीं से होता है। यह कहा जा सकता है कि पंजाब के आर्यसमाजी महानुभावों ने वाद विवाद की कड़वी नीति को प्रारम्भ से ही स्वीकार कर लिया था। यह महत्वपूर्ण बात है कि यद्यपि उपदेशकक्लाससम्बन्धी वादविवाद में पं० गुरुदत्त जी के नाम को कितना ही घसीटा गया, परन्तु पंडित जी के मुख से या लेखनी से एक भी प्रतिवाद का शब्द न निकला। पंडित जी का लक्ष्य बहुत ऊंचा था।

५ वैदिक मेगज़ीन और अन्य लेख

१८८९ के जुलाई मास में पं० गुरुदत्त जी ने 'वैदिक मेगज़ीन' नाम का मा-

निक पत्र निकालना शुरू किया। इससे पूर्व आप आर्यपत्रिका में भी लिखते रहते थे। अंग्रेजी के लिखने में आपके लेख पसन्द किये जाते थे। लोगों के मस्तिष्क में वैदिकसाहित्य के विषय में जो अन्धकार था प्रायः इसलिये लेख लिखे थे, पण्डित जी द्वारा प्रतिवाद किया करते थे। मैगजीन न तो आय की आशा होती थी। वैदिक मैगजीन एक त्रैमासिक पत्रिका थी परन्तु पाठक उसकी प्रतीक्षा में मासिक पत्रों से अधिक उत्सुक रहते थे। वह एक प्रतिभासम्पन्न विचारक के मस्तिष्क की गम्भीर गवेषणा का परिणाम होता था। मन्त्रों का, उपनिषदों की और अन्य आर्ष ग्रन्थों की व्याख्या होती थी, और वैदिक सिद्धान्तों पर गवेषणापूर्ण लेख होते थे। जिन दिनों वैदिक मैगजीन निकली जाती थी, उन दिनों पण्डित जी कोई नौकरी पर नहीं रहता था। रात दिन स्वाध्याय और विचार में लगे रहते थे। स्वाध्याय के सिवा बस दो ही काम थे। इसके बाहिर उत्सवों पर व्याख्यानों के लिए जाना पड़ता था, और लाहौर में शंका समाधान के लिये भी समय देना पड़ता था। आप ने एक नियम निकाल दिया था कि जिस किसी को भी वैदिक सिद्धान्त पर कोई शंका हो वह उनसे समाधान कर सकता है। जिज्ञासु लोग पण्डित जी का समय खर्च करते रहते थे।

पं० गुरुदत्त जी की लेखशैली जोरदार थी, वह कुछ ओजस्वी भी थी, परन्तु इतना ध्यान न था कि मतलब साफ न हो। भाषा की एक २ पंक्ति से लेखक की प्रतिभा और श्रद्धा का प्रमाण मिलता था। आप जो कुछ लिखते थे, अपनी पूरी विचारशक्ति का उसमें डाल देते थे। यही कारण है कि आप के लेखों में दार्शनिकों की सी सावधानता के स्थान पर धार्मिक पुरुषों की सी निश्चयात्मकता मिलती है। वैदिक मैगजीन ने निकलते ही धार्मिक जगत् में एक सम्मानित पद प्राप्त कर लिया। पंजाब के बहुत से नवयुवकों के लिये तो वह धर्मपुस्तक सी बन गई। मास भर प्रतीक्षा होती रहती थी। जब अंक सामने आता तब वेदवाक्य की तरह पढ़ा जाता था।

पं० गुरुदत्त जी के ग्रन्थ प्रायः वैदिक मैगजीन में ही निकले थे। उपनिषदों की व्याख्या ने अंग्रेजी के धार्मिक साहित्य में अपना स्थान बना लिया है। आत्मा की सिद्धि में आपने जो ट्रैक्ट लिखा था, वह योग्यता का एक नमूना है। पण्डित जी ने अपनी छोटी सी आयु में जो कुछ किया, उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि आप देर तक जीवित रहते, तो क्या कुछ कर जाते। इसमें सन्देह नहीं कि आप भारत के प्रसिद्ध ओरियंटलिस्टों में गिने जाते।

६. बिन खिले मुरझा गये

ईश्वरीय नियम अपना बदला लिये बिना नहीं छोड़ते। जो अकाल समय में पके आ जाती है, वह शीघ्र ही समाप्त हो जाती है। पं० गुरुदत्त जी में प्रतिभा समय से पूर्व ही पक गयी थी। जिस उम्र में दूसरे बच्चे गिल्ली डंडा खेलते हैं, उसमें गुरुदत्त ने प्राणायाम करना आरम्भ कर दिया था। १६ वर्ष की अवस्था का विद्यार्थी पंजाब की आर्यसमाज का प्रतिनिधि बनाकर अजमेर भेजा जाता है। २४वां वर्ष पूरा नहीं होता कि नौजवान एम० ए० को गवर्नमेण्ट कालिज में सायन्स का बड़ा अध्यापक नियुक्त कर दिया जाता है। कदम कदम पर कुदरत का कानून टूटता दिखाई देता था।

फिर पण्डित जी ने भी नियमों के तोड़ने में कोई कसर नहीं छोड़ी। धर्म की धुन में शरीर की चिन्ता छोड़ दी। जिस काम में लगे, उसके सिवा सब कुछ भुला दिया। जिन लोगों को उस ज्ञानी आत्मा के सहवास का अवसर मिला है, वह कहते हैं कि आप जब वैदिक मेगजीन के लिये लिखने बैठते थे, तब कई दिनों तक घर से बाहिर नहीं निकलते थे। जब पढ़ने लगते थे, तब ४८ घण्टे तक एक मिनट भर नींद लिए बिना पढ़े चले आते थे। जब सोने की धुन सवार होती थी, तब २४ घण्टे की इकट्ठी समाधि लगती थी। सर्दियों में जौन के कुएं में नहाते थे और जेठ की धूप में भ्रमण करना तपस्या का अंग समझा करते थे।

इस प्रकार के अतिक्रमणों से लोहे का शरीर भी अस्तव्यस्त हो सकता है। जवानी में पण्डित जी का शरीर अच्छा मजबूत था। ईश्वरीय नियमों के उल्लंघन ने उसे शिथिल कर दिया। वैदिक धर्म की धुन ने इस दुनिया की रचना को तोड़ डाला। प्रतीत होता है कि गुरुशिक्षा के बिना प्राणायाम के परिश्रम ने भी शरीर पर कुछ बुरा प्रभाव उत्पन्न किया। प्रचार के लिये कई वर्षों तक आपको निरन्तर दौरा लगाना पड़ा। भ्रमण में खान पान आदि के नियम ठीक नहीं रहते और शरीर थक जाता है। इन सब कारणों से आर्य समाज की आशाओं के केन्द्र उस होनहार नवयुवक को क्षयरोग ने आ घेरा। १८८८ ई० के मध्य से पण्डित जी के भक्तों और मित्रों को मालूम हुआ कि आप बीमार हैं। इलाज आरम्भ हो गया। डाक्टरी, यूनानी और आयुर्वेदिक सभी तरह के इलाज किए गए। भक्तों ने अपनी सदिच्छाओं और सेवा में कोई कसर नहीं छोड़ी। यदि दूसरों की प्रार्थनायें किसी को रोग से छुड़ा सकतीं, तो पं० गुरुदत्त जी का देहान्त न होता, परन्तु ईश्वरीय नियम अटल है। रोग बढ़ता ही गया। आखिर अन्त समय आ पहुंचा। देखने वालों ने लिखा है कि बीमारी की दशा में आप बिल्कुल शान्त रहे। अधिक से अधिक दुःख के समय भी आपने उफ तक नहीं की।

भाग प्राय ईश्वरचिन्तन किया करते थे। जब अन्त समय समीप आया, तब आपने अनिवार्य दशा जाना, और उस समय [illegible] बताया। १६ मार्च १८९० को प्रातःकाल ७ बजे महर्षि दयानन्द के सच्चे शिष्य ने ईश्वर का स्मरण करते हुए बड़ी शान्ति के साथ प्राणों का परित्याग किया। गुरुदत्त विद्यार्थी २६ वर्ष की आयु में इस लोक से प्रस्थान कर गया, परन्तु उन थोड़े से वर्षों में [illegible] की एक [illegible] छोड़ गया, जिस पर [illegible] गौरव [illegible] हुआ है। लेखक का मत है कि आज तक (१ जनवरी १९२५ ई० तक) पञ्जाब की आर्यसमाजों में गुरुदत्त का सानी नहीं हुआ। जब तक ला० हंसराज, ला० लाजपतराय, स्वा० श्रद्धानन्द और मा० आत्माराम आदि सज्जन जो [illegible] नेता आर्यसमाज के कार्यक्षेत्र में कार्य करते रहे हैं, तब तक गुरुदत्त सदृश अन्य हुआ नहीं समझा जा सकता।